संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

लेखक

प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय, एम० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सनातनधर्म कालेज, कानपुर

तथा

शान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम० ए०

रिसर्च स्कॉलर

प्रकाशक

साहित्य-निकेतन, कानपुर

१९४५

प्रकाशक
साहित्यनिकेतन
श्रद्धानन्द पार्क
कानपुर

मूल्य ३॥)

मुद्रक
सिंह प्रिंटिंग प्रेस,
रामनारायण बाजार,
कानपुर

प्राक्कथन

किसी राष्ट्र या जाति का वास्तविक इतिहास उसका साहित्य है। साहित्य ही समाज की तत्कालीन चिन्ताओं, धारणाओं, भावनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों का संपुटित चित्र हमारे संमुख उपस्थित करता है। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य भारत के गौरवमय अतीत का मणिमय मुकुर है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष का जैसा सजीव प्रतिबिम्ब संस्कृत के सर्वाङ्गसुन्दर साहित्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी महत्वमय 'अमरभारती' के प्रति आज जो उपेक्षा अर्थात् औदासीन्य की भावना हमारे नव्य सभ्य समाज में देख पड़ती है, वह इस पुण्यभूमि भारत के भव्य भविष्य के लिये कदापि उत्कर्ष-विधायक नहीं। क्या यह हमारे लिये खेद या परिताप की बात नहीं कि हमारे देश की इस सांस्कृतिक 'देववाणी' के साहित्य का सांगोपांग विवेचन विदेशीय विद्वानों द्वारा तो किया जाय, किन्तु यहां घर में ही 'दीपक तले अंधेरा' वाली उक्ति चरितार्थ हो? संस्कृत पठन-पाठन की प्रचलित प्राचीन-शैली में पाण्डित्य की गहराई तो नापी जाती है, किन्तु व्युत्पत्ति के प्रसार पर कम ध्यान दिया जाता है। हमें यह न भूलना चाहिए कि यदि 'मेधा' का विकास पाण्डित्य है, तो 'प्रज्ञा' का प्रकाश व्युत्पत्ति है। संस्कृत साहित्य के इतिहास का अनुशीलन अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का अनुशीलन है। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी भी अपनी प्राचीन परम्परागत संस्कृति से अपरिचित या अल्प-परिचित रहकर अपने समुचित विकास का आदर्श नहीं निर्धारित कर सकती।

संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने की परिपाटी का श्रीगणेश पाश्चात्य विद्वानों ने किया। विदेशी भाषाओं में—मुख्यत: जर्मन और अंग्रेजी में—इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय विद्वानों ने भी संस्कृत साहित्य के विषय में प्राय: अंग्रेजी में ही विवेचन किया है। इधर हाल में हिन्दी में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास पर दो-चार छोटी मोटी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, किन्तु वे या तो एकदेशीय हैं अथवा परिचयात्मक मात्र। उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों के अनुकरण पर ही लिखी गई हैं—उनमें एकमात्र पाश्चात्य दृष्टिकोण का ही अनुसरण किया गया है, और कुछ ऐसी हैं जिनमें वैदिक लौकिक समग्र संस्कृत साहित्य का समावेश होने के कारण कवियों अथवा कृतियों का विशद विश्लेषणात्मक विवेचन नहीं हो पाया है।

प्रस्तुत पुस्तक वेदोत्तरकालीन (classical) संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त समीक्षात्मक अध्ययन अथवा इतिहास है। इसमें संस्कृत वाङ्मय के उन प्रमुख अंगों का ही विवेचन किया गया है, जिनका पण्डित-समाज अथवा विद्यार्थियों में अधिक प्रचार या पठन-पाठन है। विवेचन करते समय जहां पाश्चात्य दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया है, वहां भारतीय दृष्टिकोण की रक्षा करने का भी पूर्ण प्रयास किया गया है। ग्रन्थकारों की आलोचना करते समय उनके स्थितिकाल तथा रचनाओं का उल्लेखमात्र करके संतोष नही कर लिया गया है, प्रत्युत उनकी शैली की समीक्षा करके उनकी कृतियों से उद्धरण भी दे दिये गये हैं। प्राय सर्वत्र इन उद्धरणों की सरल सुबोध भाषा में व्याख्या भी कर दी गई है। कालिदास, बाण, भवभूति जैसे प्रमुख एवं शीर्षस्थानीय महाकवियों की अपेक्षाकृत विशद एवं विस्तृत आलोचना की गई है।

इस 'रूपरेखा' की रचना का प्रमुख श्रेय मेरे परम उदीयमान शिष्य श्रीयुत *शान्तिकुमार व्यास*, एम० ए० को है, जिन्होंने परम परिश्रमपूर्वक इस पुस्तक के लिये समस्त सामग्री सङ्कलित की और प्रेस के लिये कापी प्रस्तुत की। मैंने केवल मार्ग-प्रदर्शन, परामर्श-प्रदान, परिष्कार और यत्र तत्र परिवर्तन-परिवर्धन कर इसे अन्तिम रूप मात्र दिया है। अत. मेरी सम्मति में मुझे इसके कर्तृत्व का वही तक श्रेय प्राप्त है जहां तक सांख्यशास्त्र में बुद्धितत्व के क्रिया-कलापों का आत्मा को—'फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि।'

हर्ष का विषय है कि इस पुस्तक की उपादेयता से प्रभावित हो आगरा-यूनिवर्सिटी ने बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये प्रस्तावित पुस्तकों में इसे स्वीकृत किया है। आशा है यह पुस्तक सामान्यत: समस्त साहित्य-प्रेमियों और विशेषत: विद्यार्थियों में संस्कृत साहित्य के प्रति अभिरुचि एवं अनुराग उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होगी।

सनातनधर्म कालेज,
कानपुर
श्रीपंचमी, २०११ वि०

चन्द्रशेखर पाण्डेय

विषय-सूची

१

संस्कृत साहित्य का महत्व

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।'

(संस्कृत भाषा भारत की एक अमूल्य एवं अनुपम निधि है। अनादि काल से हमारे देश के जातीय जीवन पर उसका अपरिमित प्रभाव पड़ा है। भारतीय साहित्य और संस्कृति उससे पूर्णतया अनुप्राणित है। 'देववाणी' पद से विभूषित होकर वह आज भी भारतीय जनता के हृदय में श्रद्धा का संचार करती है। ऐसी देश-प्राण भाषा को 'मृत' कहना उसके प्रति घोर अन्याय करना है। जो लोग संस्कृत को 'पुराने जमाने की चीज' कहकर उसे अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं वे वास्तव में उसके महत्त्व को नहीं जानते। यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा कहीं अधिक जीवित है। अंग्रेजी की अपेक्षा संस्कृत हम भारतीयों के जीवन को अधिक स्पर्श करती है। हमारा धार्मिक जीवन इसका ज्वलंत प्रमाण है। वेदों और उपनिषदों, रामायण और महाभारत, गीता तथा भागवत का आज भी देशव्यापी प्रचार है) हमारे देवालयों तथा तीर्थस्थानों में उसका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण है। हमारे उपनयन, विवाह आदि समस्त संस्कार तथा अन्य अगणित धार्मिक कृत्य संस्कृत में ही सम्पन्न होते हैं। साधारण शिक्षा-प्राप्त भारतीय भी संस्कृत के दो चार श्लोक अवश्य जानता है। (भले ही संस्कृत का बाजार में या अदालत में प्रयोग न होता हो, पर वह हमारी सांस्कृतिक भाषा है, हमारा धार्मिक साहित्य उसी में लिखा गया है। जैनों के अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। बौद्धों ने भी, जब प्राकृत-पाली की नवीनता नीरस हो चली, संस्कृत में ही अपने ग्रन्थ

रचे। व्यावहारिक और सामाजिक जीवन पर भी उसका प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। सभी प्रान्तीय भाषाओं की आदि-जननी संस्कृत ही है। तामिल और तेलगू जैसी द्रविड़ भाषाओं पर भी संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'हिन्दू लॉ' की मूलभित्ति संस्कृत में लिखी स्मृतियाँ हैं। संस्कृत के आयुर्वेद और ज्योतिष-शास्त्र यदि सैकड़ों के जीविकोपार्जन के मार्ग हैं तो असंख्य दीन-दुखियों के स्वास्थ्य और सुख के साधन भी हैं। संस्कृत साहित्य में बिखरी हुई अनेकों सूक्तियाँ व्यवहार में प्रतिदिन प्रयुक्त होती रहती हैं। संस्कृत साहित्य 'जीवित' साहित्य है और दूसरों को जीवन प्रदान करने की क्षमता रखता है। इसी साहित्य की उत्कृष्टता ने जर्मनी, फ्रांस, इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। पिछले सौ वर्षों में इन विदेशी विद्वानों द्वारा संस्कृत वाङ्मय का जो अनुशीलन एवं अनुसंधान हुआ है, उसने संसार के सम्मुख इस साहित्य के महत्त्व को पूर्णतया प्रतिष्ठित कर उसके अध्ययन की अजस्र धारा बहा दी है।

कुछ लोग सन्देह करते हैं कि संस्कृत का अध्ययन केवल ग्रन्थों तक ही सीमित था, पठन-पाठन में ही उसका प्रयोग होता रहा है, बोल चाल में उसका उपयोग प्राचीन काल में भी नहीं होता था। पर वस्तुस्थिति का अवलोकन करने पर पता चलता है कि यह धारणा भ्रांत है। रामायण-महाभारत-काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलित थी[1]। रामायण में इल्वल राक्षस, ब्राह्मण का रूप धारण कर संस्कृत बोलकर ही ब्राह्मणों को निमंत्रित करता था। हनुमान् ने भी सर्व प्रथम अशोक-वाटिका में पहुँचकर सीता से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय, इस विषय में बड़ा सोच-विचार किया और अन्त में संस्कृत में ही भाषण करने का निश्चय किया[2]। प्राचीन

१—Keith and Grierson, JRAS, 1906.

२—वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। ५।३०।१७,

व्याकरण-शास्त्रों से भी संस्कृत का प्रचार सिद्ध होता है। यास्क (७ वीं शताब्दी ईसवी पूर्व) ने वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है जिससे उसका बोली जानेवाली भाषा होना सूचित होता है। पाणिनि (४०० ई० पू०) ने संस्कृत को 'लौकिक' अर्थात् 'इस लोक में व्यवहृत' कहा है। उन्होंने दूर से बुलाने, प्रणाम और प्रश्नोत्तर करने में कुछ स्वर-सम्बन्धी नियम भी बतलाये हैं, जिनसे संस्कृत का प्रचलित होना प्रमाणित होता है। यास्क और पाणिनि ने संस्कृत बोली की 'पूर्वी' और 'उत्तरी' विशेषताएं बतायी हैं। इससे मालूम होता है कि संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा ही नहीं थी, भिन्न भिन्न स्थानों में बोली जाने के कारण उसमें स्थानीय विशेषताएं भी आ गयी थीं। कात्यायन का भी यही कथन है। इन प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्यवर्ती समूचे प्रदेश में संस्कृत बोली जाती थी[1]। ब्राह्मणों के सिवाय अन्य वर्णों में भी इसका प्रचार था। 'महाभाष्य' में एक सारथी एक वैयाकरण के साथ 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विवाद करता है। संस्कृत बोलने वाले 'शिष्ट' (सभ्य) कहलाते थे। न बोलने वाले भी इसे समझते अवश्य थे। नाटकों के निम्न पात्र प्राकृत-भाषी होते हुए भी संस्कृत में कही हुई उक्तियों का उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं। संस्कृत नाटकों से भी प्रमाणित होता है कि ये नाटक तभी खेले जाते होंगे जब साधारण जनता संस्कृत समझती होगी। हाँ, यह अवश्य है कि प्राचीन काल में संस्कृत उसी प्रकार शिक्षित एवं शिष्ट वर्ग की भाषा थी जैसे आजकल खड़ी बोली है। साहित्यिक प्रसंगों में संस्कृत व्यवहृत होती थी। राजकार्य में भी बहुधा इसीका व्यवहार होता था। भारत के अन्य उपनिवेशों में भी संस्कृत का प्रचार हो गया था। प्राचीन चंपा उपनिवेश (आधुनिक फ्रांसीसी हिन्दी चीन) में तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत राजभाषा के रूप में बर्ती

१—R. G. Bhandarkar, JBRAS, 1885

जाती रही[1]। सारांश यह कि उस समय संस्कृत राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन थी। आज भी दक्षिण के कई ब्राह्मण परिवारों में संस्कृत बोली जाती है।

(भारत के प्राचीन इतिहास का सम्यक् पर्यालोचन संस्कृत साहित्य के अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। प्राचीन शिलालेख प्रायः सभी संस्कृत में हैं। भारतीय पुरातत्व के लिये संस्कृत का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। संस्कृत साहित्य का इतिहास केवल भाषा का इतिहास नहीं, वह तो प्राचीन भारत के आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक एवं राजनीतिक जीवन का ज्वलंत चित्रण है)।

(संस्कृत साहित्य का मूल्य आंकने के लिये उसके इतिहास से परिचित होना बड़ा आवश्यक है। कालिदास, माघ, भवभूति की रचनाओं के कुछ अंश पढ़कर ही संस्कृत के विस्तृत साहित्य का परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता। संस्कृत साहित्य अत्यन्त व्यापक है। लौकिक पारलौकिक सभी विषयों का इसमें सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन है। 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत जिन जिन बातों का समावेश होता है वे सभी इसमें मौजूद है। सन् १८४० ई० में एलफिन्स्टन महोदय ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य मे जितने ग्रन्थ हैं, उनकी संख्या ग्रीक और लैटिन के ग्रन्थों की मिली हुई संख्या से कहीं अधिक है। संस्कृत साहित्य की विशालता आर्य जाति के बौद्धिक उत्कर्ष की परिचायक है। भारतीय प्रतिभा का यह परम रमणीय परिणाम है। 'इस महादेश की हजारों वर्षों की चिरंतन साधना का सर्वोत्कृष्ट सार इस साहित्य में संचित है)

संस्कृत साहित्य का इतिहास पिछले चार हजार वर्षों में हमारे पूर्वजों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का इतिहास है। 'उसका प्रसार आर्यजाति का भौगोलिक प्रसार है, उसकी सांस्कृतिक प्रगति है। जहाँ जहाँ आर्यजाति की संस्कृति और वैभव फैले हैं, वहाँ वहाँ संस्कृत

१—भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न पृ० ६४।

भाषा का विस्तार हुआ है। जब तक आर्यजाति पूर्णतया पंगु न हो गयी तब तक वह बराबर इसी भाषा में अपने विचार लिखती गयी। चार सहस्र वर्षों तक निरन्तर उस जाति ने अपनी विचक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा में उतारा। इस लम्बी अवधि के बीच आर्यों में एक-से-एक उत्कृष्ट मेधावी हुए, एक-से-एक प्रकाण्ड मनीषी जन्मे, सबने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। अनीश्वरवादी जैनों, बौद्धों और लोकायतों ने भी इसे अपनी सरस्वती से सरस किया।' यदि किसी देश का साहित्य उसकी संस्कृति का द्योतक है, तो संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का निर्मल दर्पण है। इसमें अपने अतीत गौरव की झांकी कर हम आज इस हीन दशा में भी गर्व से अपना मस्तक ऊँचा उठा सकते हैं। कुछ लोग कह सकते हैं कि 'यदि इस साहित्य का प्रभाव हमारे जीवन पर नहीं पड़ता तो लाभ ही क्या? गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फ़ायदा?' किन्तु वे इस बात का विचार नहीं करते कि किसी भी देश के भूत और वर्तमान में अटूट सम्बन्ध है। संस्कृत के ग्रन्थ हमारे लिये किसी समय जीवित साहित्य थे। बचपन से हमारे कानों में उन्हीं की कहानियाँ पड़ती रही हैं, खेलों में हम उन्हीं को खेलते थे, गीतों में हम उन्हीं को सुनते थे, नाटकों में हम उन्हीं को देखते थे। प्राचीन काल से संस्कृत साहित्य की धारा अनवरत गति से चली आ रही है। संस्कृत साहित्य की सहस्रों वर्षों की धारावाहिक रचना के सामने अंग्रेजी के साहित्य की धारा-वाहिकता कितनी अल्प है! विद्याव्यसनियों के लिये तो हमारे शास्त्र, इतिहास, पुराण और काव्य अनुसंधान के लिये अपार क्षेत्र उपस्थित करते हैं।

जिस साहित्य के ग्रन्थों की संख्या, अधिकांश नष्ट हो जाने पर भी, पचास हज़ार से ऊपर चली गई है, जिस साहित्य की रचना, पठन-पाठन और चिन्तन में भारत के एक से एक श्रेष्ठ मस्तिष्क शताब्दियों तक लगे रहे हैं और आज भी जिस साहित्य का भव्य आलोक पाने

के लिये देश-विदेशों के मनीषिगण लालायित हैं, उस साहित्य के अध्ययन के लिये प्रत्येक भारतीय के हृदय में जिज्ञासा होनी ही चाहिये।

संस्कृत साहित्य का इतिहास दो भागों में बाँटा जा सकता है: वैदिक संस्कृत काल, जिसका समय लगभग २५०० से ५०० ई० पू० था, और बाद का लौकिक संस्कृत काल। वैदिक संस्कृत से मतलब वेदों में प्रयुक्त संस्कृत से है। लौकिक संस्कृत से अभिप्राय उस भाषा से है जो वेदों के बाद रचे गये ग्रन्थों में पायी जाती है तथा जो पाणिनि-व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है। वैदिक और लौकिक संस्कृत में भाषा, व्याकरण, छन्द और स्वर की दृष्टि से बड़ा भेद है। स्वयं वैदिक साहित्य का इतना विस्तार है कि उस पर कई स्वतंत्र पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य लौकिक संस्कृत का परिचय कराना है। लौकिक संस्कृत में काव्यों के अतिरिक्त व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित, संगीत, ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रंथ भी रचे गये हैं। किन्तु इन सब विषयों का विवेचन इस पुस्तक के लघु कलेवर में होना असंभव है। अतएव लौकिक संस्कृत के काव्य-साहित्य की रूपरेखा का आभास कराना ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य है। 'काव्य-साहित्य' का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया गया है। इसके अन्तर्गत महा-काव्य, नाटक, गद्य-साहित्य, गीतिकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, चम्पू, नीति-काव्य आदि सभी का समावेश अभिप्रेत है। इस काव्य-साहित्य का श्रीगणेश महाभारत और रामायण से होता है। अतः पुस्तक का आरम्भ भी इन्हीं महाकाव्यों के विवेचन से किया जा रहा है।

२

रामायण और महाभारत

रामायण और महाभारत हमारे प्राचीन इतिहास-पुराण (epics) हैं। प्रधान कथा के अतिरिक्त इनमें अनेक आख्यान भी हैं। महाभारत में इन आख्यानों की संख्या रामायण की अपेक्षा अधिक है। आख्यानों का मूल रूप ऋग्वेद-संहिता के संवादात्मक सूक्तों में पाया जाता है। 'आख्यान,' 'इतिहास' और 'पुराण' ये शब्द 'ब्राह्मण' ग्रंथों में भी मिलते हैं। सूत्रग्रंथों से पता चलता है कि श्रौत एवं गृह्य कृत्यों के समय इन वैदिक आख्यानों का प्रवचन तथा श्रवण हुआ करता था। अश्वमेध आदि दीर्घसत्रों के अवकाश-काल में कई देवताओं और वीरों के आख्यान सुनने की प्रथा प्रचलित थी[१]। समय पाकर इस प्रकार की कथाओं और आख्यानों के कई संग्रह भी हो गये; उदाहरणार्थ, 'सुपर्णाख्यान' जिसमें कद्रू और विनता, सर्पों और गरुड़ की माताओं, की शत्रुता का आख्यान वर्णित है।

बाद के वैदिक ग्रंथों में इतिहास-पुराण 'पंचम वेद'[२] माने गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि वैदिककाल में, संहिताओं के अतिरिक्त, ऐसे कई आख्यानों के संग्रह थे जिनमें देवताओं, राक्षसों, नागों, ऋषियों तथा राजाओं की कथाएँ संकलित थीं। किन्तु यह बताना कठिन है कि वे उस काल में लिपिबद्ध ग्रंथों के रूप में थीं अथवा केवल मौखिक रूप में प्रचलित थीं। निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में इस प्रकार की गाथाओं

१—शतपथ ब्राह्मण १३।४।३, शाङ्खायन गृह्यसूत्र १।२२।११, आश्वालायन गृह्यसूत्र १।१४।६, ४।६।६ पारस्कर गृह्य० १।१५।७, आपस्तम्बीय गृह्य० १४।४। २—छान्दोग्य उपनिषद् ७।१.

और आख्यानों को सुनाने वाले 'ऐतिहासिक' और 'पौराणिक' कहलाते थे।

इन आख्यानों और कथाओं का क्रमशः इतना विस्तार होता गया कि गौतम बुद्ध के पहले ही उनका एक बृहत् संग्रह हो चुका था। ये कथाएँ गद्य-पद्य दोनों में थीं। रामायण और महाभारत, जैन और बौद्धों के पुराण तथा जातक ग्रंथ इन्हीं कथाओं से भरे पड़े हैं। समय पाकर इन कथाओं में वीरों की स्तुतियां भी जोड़ दी गयीं, जिन्हें 'गाथा नाराशंसी'[1] कहते हैं। वीरों की इन स्तुतियों का स्वरूप शीघ्र ही बृहत्काय हो गया, और इसी 'नाराशंसी' गाथाओं की प्रणाली का विकास रामायण, महाभारतादि ग्रंथों मे पाया जाता है।

रामायण और महाभारत जब ग्रंथरूप में लिपिबद्ध हुए, उसके बहुत पहले से ही लोग कौरव-पाण्डव-युद्ध तथा रामचरित-सम्बन्धी गीतो को गाते रहे होंगे। यह भी संभव है कि इन विषयों के अतिरिक्त अन्य राजवंशों तथा वीरो की गाथाओं का गान भी होता रहा हो। इस प्रकार की अनेक कथाएँ स्वयं रामायण-महाभारत में ही पायी जाती हैं।

इन वीर-स्तुतियों के रचयिता तथा प्रचारक 'सूत' कहलाते थे। वे इनको उत्सवों पर राजाओं के सामने सुनाया करते थे। इन्हीं सूतों की जातिविशेष[2] में रामायण और महाभारत के आख्यानों की उत्पत्ति हुई। सूतों के अतिरिक्त एक ऐसा भी वर्ग था, जो इन स्तुतियों को कण्ठस्थ करके स्थान-स्थान पर जाकर इन्हें गाकर सुनाया करता था। यह वर्ग 'कुशीलव'[3] कहलाता था। इन्हीं कुशीलवों ने रामायण और महाभारत का जनता में प्रचार किया।

१—शतपथ ब्रा० ११।५।६।८, आश्वलायन गृह्य० ३।३.

२—मनुस्मृति १०।११,१७.

३—रामायण १।४.

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सूतों और कुशीलवों द्वारा गायी जाने वाली इन्हीं वीरस्तुतियों का संग्रह करके किसी महान् कवि या संग्रहकार ने उन्हें रामायण और महाभारत का रूप दे डाला। वास्तव में रामायण और महाभारत कई शताब्दियों में रची जाने वाली कविताओं एवं वीर स्तुतियों का संग्रह है, जिनमें समय-समय पर नाना प्रकार के प्रक्षेपों और परिवर्तनो का समावेश होता रहा है। रामायण और महाभारत में प्राचीन पौराणिक कथाओं का केवल विस्तृत रूप ही नहीं है, अपितु इनमे काव्य-कौशल, धर्म, राजनीति, सदाचार, दर्शन, इतिहास आदि सभी विषयों का बड़ा सूक्ष्म एव सुन्दर विवेचन है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ये प्रमुख आकर-ग्रंथ हैं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के ये समुज्ज्वल दीप-स्तंभ हैं।

रामायण—वाल्मीकि-कृत रामायण की वर्तमान प्रति में सात काण्ड हैं, जिनमें कुल २४००० श्लोक है। यद्यपि वाल्मीकि-रामायण का प्रचार संपूर्ण भारत में है, तथापि सब प्रान्तों में रामायण का पाठ एक-सा नहीं है। पाठ-भेद के अतिरिक्त रामायण की कुछ प्रतियों में कई ऐसे श्लोक, वृत्तान्त और सर्ग के सर्ग पाये जाते हैं जिनका अन्य प्रतियों मे अस्तित्व ही नहीं है। रामायण के मुख्यतया तीन संस्करण हैं जिनका प्रचार भारत के भिन्न भिन्न भागों में है—(१) बंबई का संस्करण जिसका प्रचार उत्तरी और दक्षिणी भारत में है, (२) बङ्गीय संस्करण जिसका संपादन यूरोप में हुआ है और (३) काश्मीरी संस्करण जिसका उपयोग पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रधानतया होता है। इन संस्करणों में जो परस्पर भेद है उसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि रामायण आरंभ में लिखित रूप में नहीं था। स्तुतिपाठकगण रामायण की कथा कंठाग्र ही सुनाते थे और संभव है कि इस प्रकार कई शताब्दियों बाद श्लोकों के क्रम में परिवर्तन हो गया हो। अतएव ग्रंथ लिखने के समय

रामायण के परस्पर भिन्न पाठ भी उसी रूप में लिख लिये गये हों जिस रूप में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के स्तुतिपाठकगण उन्हें सुनाया करते थे।

रामायण के प्रक्षिप्त अंश—लोकप्रिय होने के कारण रामायण में निरंतर कुछ न कुछ प्रक्षेप होते रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मूल ग्रंथ में नहीं थे, वे बाद में जोड़ दिये गये हैं। प्रो० जेकॉबी[१] के मतानुसार रामायण के मूल पाठ में अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक पांच ही काण्ड थे। युद्धकाण्ड के अन्त में काव्य की समाप्ति स्पष्ट जान पड़ती है। बालकाण्ड की भाषा अन्य काण्डों की भाषा से भिन्न है। उसमें कई उक्तियां ऐसी हैं जो बाद के पांच काण्डों से मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ, बालकाण्ड में राम के साथ ही उनके अन्य भाइयों का विवाह हो गया है, पर आगे चलकर शूर्पणखा के प्रसंग में राम ने बताया है कि लक्ष्मण अभी तक अविवाहित हैं। केवल बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ही राम हमारे सामने विष्णु के अवतार के रूप में आते हैं। अन्य काण्डों में, कुछ प्रक्षिप्त स्थानों को छोड़कर,[२] वे एक आदर्श मानवीय महापुरुष की भांति ही चित्रित किये गये हैं। इन प्रक्षिप्त दो काण्डों में, महाभारत की भांति, कथानक का स्वाभाविक प्रवाह भी आनुषङ्गिक आख्यानों से बहुधा अवरुद्ध हो गया है। अन्य काण्डों में ऐसे आख्यानों की संख्या बहुत थोड़ी है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक प्रक्षिप्त अंश हैं ही नहीं। इन पांच काण्डों में भी कई प्रक्षेप हैं, पर वे भिन्न प्रकार के हैं। इन प्रक्षेपों की सृष्टि सूतों और कुशीलवों द्वारा हुई, जिन्होंने इन काण्डों के हृदयग्राही अंशों का विस्तार कर

१—*Das Ramayana.*

२—उदाहरणार्थ, युद्धकाण्ड के अन्त में जब सीता अग्नि-प्रवेश करने के लिये उद्यत होती हैं तब सब देवता घटनास्थल पर आकर राम की विष्णु के रूप में स्तुति करते हैं।

दिया। जब सहृदय श्रोतागण दशरथ, कौशल्या या सीता के करुण विलापों का वर्णन सुन नेत्रों से अश्रुविमोचन करने लगते, या राम-रावण के प्रचण्ड पराक्रमपूर्ण युद्धवर्णन से प्रभावित होने लगते, अथवा नीतियुक्त या शीलसौन्दर्यपरिचायक उक्तियों पर मंत्रमुग्ध होने लगते, तब इन कुशीलवों को वाग्विस्तार और अपनी कल्पना के प्रसार का अच्छा अवसर मिल जाता। इस प्रकार रामायण के प्रक्षेपों की सृष्टि हुई।

महाभारत की भांति रामायण का नियत रूप लेखबद्ध होने पर ही निर्धारित हो सका। परन्तु यह तभी हुआ होगा जब रामायण इतनी प्रसिद्ध हो गयी होगी कि उसका श्रवण और पारायण पुण्यकर्म माना जाने लगा[1] और उसे लिपिबद्ध करने वाला स्वर्ग का अधिकारी समझा जाने लगा[2]। इसलिये रामायण के प्रथम संग्रह-कर्त्ताओं तथा संपादकों के समक्ष जो कुछ भी रामायण के नाम से निर्दिष्ट सामग्री प्रस्तुत की गयी, उसका उन्होंने स्वागत किया और उसे आलोचक की दृष्टि से नहीं, अपितु भक्तिभावनापूर्वक लिखित रूप दिया। यही कारण है कि रामायण के प्रक्षिप्त एवं अप्रक्षिप्त अंशों को अलग करना उतना ही दुस्तर है जितना कि नीर-क्षीर का पृथक्करण। यदि संपूर्ण भारतवर्ष के प्रचलित पाठभेदों को छोड़ दिया जाय तो रामायण के मूल रूप का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा करने से रामायण के २४००० श्लोकों में से केवल एक चौथाई शेष बच रहते हैं।

रामायण का समय—रामायण का रचनाकाल निर्धारित करने के लिये सर्व प्रथम उसके काण्डों के परस्पर संबंध पर ध्यान देना आवश्यक

१—आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
यः शृणोति सदा लोके नरः पापात्प्रमुच्यते॥ रा० ६।१२८।१०६.

२—भक्त्या रामस्य ये चेमां संहितामृषिणा कृताम्।
ये लिखन्तीह च नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टपे॥ ६।१२८।१२०

है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, रामायण के मूलपाठ में बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड नहीं थे। अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड के अन्तर्गत जिस मानवीय रूप में राम का वर्णन मिलता है, उसने बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में आकर विष्णु के अवतार का रूप धारण कर लिया। इस रूप-परिवर्तन में अवश्य ही कई शताब्दियों का समय लगा होगा। प्रथम और अंतिम काण्ड में वाल्मीकि, एक तपोनिष्ठ महर्षि तथा राम के समकालीन दिखाये गये हैं। अतएव इन प्रक्षिप्त काण्डों की रचना के समय तक वाल्मीकि एक पौराणिक मुनि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण के प्रक्षिप्त और अप्रक्षिप्त अंशों के बीच कई शताब्दियों का अन्तर रहा होगा।

महाभारत के वनपर्व में राम की कथा वर्णित है, जिसमें वे विष्णु के अवतार माने गये हैं। महाभारत की कई कथाओं की सृष्टि रामायण के कथानकों के आधार पर हुई है। हरिवंश के समय रामायण का अभिनय भी होने लगा था। महाभारत के कई स्थलों पर वाल्मीकि का एक महान् ऋषि के रूप में उल्लेख मिलता है। इसलिये इतना निश्चित है कि महाभारत का वर्तमान रूप प्राप्त होने के पहले ही रामायण ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त कर लिया था तथा उसकी गणना एक प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ के समान होने लगी थी। अतः यदि महाभारत ने अपना वर्तमान आकार-प्रकार चौथी शताब्दी ईसवी में प्राप्त किया, तो रामायण भी उससे दो एक शताब्दी पूर्व ही अपने प्रस्तुत रूप में लिपिबद्ध हो गया होगा।

वाल्मीकि रामायण के मूल रूप का समय निर्धारित करने के लिये हमें इस बात की परीक्षा करनी होगी कि उस पर बौद्धधर्म का कहां तक प्रभाव पड़ा। रामायण में एक ही स्थल है जहां गौतमबुद्ध का उल्लेख मिलता[1] है, पर वह प्रक्षिप्त प्रतीत होता है, अतः मान्य

१—'यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।' २।१०९।३४, यह श्लोक कुछ प्रतियों में नहीं पाया जाता।

नहीं हो सकता। वेबर आदि कतिपय पाश्चात्य मनीषियों का यह मत कि रामायण किसी बौद्ध पौराणिक गाथा के आधार पर रची गयी है,[1] सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त है। संपूर्ण रामायण में बौद्ध प्रभाव खोजने पर भी नहीं मिलेगा। इसके विपरीत बौद्धधर्म पर ही रामायण का प्रभाव प्रमाणित होता है। जिन दिनों 'त्रिपिटक' (बौद्ध धर्म-ग्रंथ) का संकलन हुआ था, उन दिनों राम की कथा अवश्य प्रचलित रही होगी। 'दशरथ जातक' इत्यादि कथाओं में इसके प्रमाण हैं। पहली शताब्दी ई० के बौद्ध कवि अश्वघोष की रचनाओं में रामायण से मिलते-जुलते अंश हैं। इसी समय के जैन कवि विमलसूरि ने रामायणी कथा के आधार पर 'पउमचरिय' नामक प्राकृत काव्य लिखा था। बौद्ध-धर्म के आविर्भाव-काल में रामायण भले ही काव्य के रूप में न रहा हो, तो भी प्राचीन बौद्ध-ग्रंथों के रचयिता उन चारण-गीतों (ballads) से अवश्य प्रभावित थे जिनका वाल्मीकि ने रामायण की रचना में उपयोग किया है। इन सब प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामायण की मूल कथा बौद्धयुग के पहले की है और उसकी रचना प्रायः ५०० ई० पू० में हो चुकी थी।

उपर्युक्त विवेचन से रामायण के समय के विषय में निम्नलिखित सात सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं—(१) रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड की रचना तथा अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक की रचना में पर्याप्त समय का अंतर था। (२) जिस समय महाभारत ने अपना वर्तमान रूप धारण किया उसके पहले ही रामायण एक प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रंथ के रूप में गिना जाने लगा था। (३) २०० ई० तक रामायण अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हो चुका था। (४) महाभारत की मूल ऐतिहासिक कथा का उल्लेख रामायण की मूल कथा के उल्लेख की अपेक्षा प्राचीनतर है, क्योंकि वेद में

1—*Uber Das Ramayana, pp. 6 f.*

रामचरित-संबंधी सामग्री नहीं मिलती। (५) त्रिपिटक आदि बौद्ध ग्रंथों में उन चारण-गीतों का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है जिनमें रामायण की कथा का वर्णन आरंभ में प्रचलित था। (६) रामायण पर बौद्ध-धर्म अथवा यवनों (ग्रीकों) का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। (७) रामायण की मूल कथा की रचना वाल्मीकि ने प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर संभवतः ५०० ई० पू० में की थी।

आदि-काव्य रामायण—रामायण संस्कृत साहित्य का आदि-महाकाव्य है। ऐतिहासिक-काल के अरुणोदय में रचे जाने पर भी यह ग्रंथ अनुपम और अद्वितीय है। भारतीय साहित्य के इतिहास में वह शुभ दिन चिरस्मरणीय रहेगा जब तमसा के तट पर महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से यह करुणामयी वाग्धारा फूट पड़ी थी—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

भारतीय संस्कृति का जैसा समुज्ज्वल, सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र इस महाकाव्य में अंकित हुआ है, वैसा संसार के किसी अन्य देश के महाकाव्य में वहां की संस्कृति का चित्र शायद ही उतरा हो। 'मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिये ही महर्षि वाल्मीकि ने इस महाकाव्य की रचना की है। इस रामायण की कथा से भारत के जनसाधारण, आबाल-वृद्ध-वनिता केवल शिक्षा ही नहीं पाते, आनंद भी पाते हैं, केवल इसे शिरोधार्य ही नहीं करते, हृदय में भी रखते हैं, और यह उनका केवल धर्मशास्त्र ही नहीं है, काव्य भी है।'

रामायण में महाकाव्यों के सभी प्रमुख लक्षण—विषय की उदात्तता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास तथा भाषा का सौष्ठव—पाये जाते हैं। विद्वानों ने इसकी रचनाशैली, विचारों की मनोहरता तथा रमणीय दृश्यों के चित्रण के कारण अलंकृत शैली के काव्यों में रामायण को प्रथम स्थान दिया है। रामायण में होमर, वर्जिल

और मिल्टन की अपेक्षा कहीं अधिक भाषा का गांभीर्य, छन्दों का औचित्य और रसों का परिपाक है। इस महाकाव्य में मानव अन्तः-प्रकृति का जैसा स्वाभाविक, सूक्ष्म एवं सुन्दर विश्लेषण हुआ है वैसा ही बाह्य-प्रकृति के दृश्यों का भी सजीव और यथातथ्य चित्रण हुआ है। मानवमनोवृत्तियों का जैसा व्यापक और विशद् निरूपण इसमें हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय सभ्यता का यह इतिहास ग्रंथ भी है। किन्तु यह आधुनिक इतिहास ग्रंथों के समान एकमात्र घटनावलियों या तिथियों का इतिहास नहीं अपितु भारतीय संस्कृति और सभ्यता का चिरन्तन आदर्श ग्रंथ है।

रामायण से पूर्व लौकिक छन्द का मानों अवतार ही नहीं हुआ था—'आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः'। वाल्मीकि रामायण हमारे देश के प्रायः प्रत्येक युग के बड़े-बड़े कवियों और नाटककारों का आदर्शभूत ग्रंथ रहा है—'मधुमयभणितीनां मार्ग-दर्शी महर्षिः'। संसार में इस प्रकार का लोकप्रिय काव्य-ग्रंथ मिलना कठिन है। सारा भारत इसे एक स्वर से पवित्र और आदर्श काव्य-ग्रंथ स्वीकार करता है। भारतीय साहित्य इस महाकाव्य से अत्यधिक अनुप्राणित हुआ है। क्या कालिदास और भवभूति जैसे प्राचीन महाकवियों की रचनाओं पर, क्या मध्यकालीन गोस्वामी तुलसीदास के लोक-साहित्य पर और क्या समग्र भारतीय लोक-जीवन पर इसका प्रभाव अक्षुण्ण रूप से पड़ा है।

> कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम्।
> चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः॥

महाभारत—यह सभी जानते हैं कि महाभारत में कौरवों और पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है। किन्तु जिन्होंने इस महाग्रंथ को आदि से अन्त तक पढ़ा है वे स्वीकार करेंगे कि महाभारत केवल इस युद्ध की कहानी नहीं है। इसका बहुत-सा अंश कौरव-पाण्डव युद्ध से किसी प्रकार संबद्ध नहीं है। समय के दीर्घ प्रवाह में मूल

कथा के चारों ओर अनेक अन्य आख्यानों का एक बहुत् बड़ा जमघट-सा लग गया। यह सब परिवर्तन-परिवर्धन किस प्रकार हुआ, इसकी चर्चा संक्षेप में पहले कर लेना आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है[1] कि महाभारत युद्ध का वर्णन पहले वीर-गीतों के रूप में प्रचलित रहा होगा। संभव है कि किसी महान् कवि ने इन गीतों का संग्रह करके उन्हें एक वीररसात्मक काव्य का स्वरूप दे डाला होगा। यही वीर-काव्य महाभारत का मूल रूप या बीज कहा जा सकता है। किन्तु सैंकड़ों वर्षों में इस वीर-काव्य के चारों ओर विभिन्न विषयों और वृत्तान्तों का जाल सा बिछ गया। पहले तो महाभारत-युद्ध के प्रधान पात्रों के आरंभिक जीवन का वृत्त तथा उनके अनेक पराक्रमों का विस्तृत वर्णन इसमें जोड़ दिया गया। इसी सिलसिले में और भी कई वीरों की गाथाओं का इसमें समावेश हो गया। ये गाथाएँ सूतों द्वारा गायी जाती थीं। इस प्रकार महाभारत केवल वीर-काव्य ही नहीं रह गया, वरन् प्राचीन चारण-गीतों (bardic songs) का प्रकाण्ड संग्रह भी बन गया।

भारत के प्राचीन साहित्य के निर्माण में ब्राह्मणों का बड़ा हाथ रहा है। इसलिये ज्यों ज्यों इन वीर-गाथाओं का सर्वसाधारण में प्रचार बढ़ता गया त्यों त्यों ब्राह्मण भी उन्हें अपने सांचे में ढालने के लिये उत्सुक होते गये। उन्होंने इन लौकिक गाथाओं में अपने धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश कर इसे एक धार्मिक ग्रंथ का रूप दे डाला। इस प्रकार देवता-देवियों के आख्यानों, ब्राह्मण-वर्ग के उपदेशों तथा दार्शनिक चर्चाओं ने महाभारत की कलेवर-वृद्धि की। समाज की श्रद्धा प्राप्त करने के उद्देश्य से

1—Winternitz: *History of Indian Literature, Vol. I P. 317.*

ब्राह्मणों ने इसमें ऋषि-महर्षियों के इतिहास भी भर दिये। किन्तु यह कार्य वेद-पारंगत ब्राह्मण विद्वानों का नहीं था। यदि ऐसा होता तो महाभारत में भी यज्ञ-यागादि क्रियाकलाप की भरमार होती। वास्तव में यह कार्य पुरोहितों और राजाओं के सभापण्डितों द्वारा सम्पन्न हुआ। इन अल्प-शिक्षित ब्राह्मणों ने स्थानीय आख्यानों तथा विष्णु और शिव की भक्ति के उपाख्यानो को छन्दोबद्ध करके महाभारत में सम्मिलित कर दिया। ब्राह्मण-पुरोहितों के अतिरिक्त एक वर्ग और भी था जिसने महाभारत के निर्माण में योग दिया। यह वर्ग साधु, संन्यासी, भिक्षुकों का था। इनका अपना अलग साहित्य था। इस साहित्य मे साधु-सन्तों के चरित्रों का वर्णन था। त्याग, वैराग्य, दया, क्षमा, उदारता, करुणा आदि गुणो का प्रचार करना ही इस साहित्य का लक्ष्य था। इन गुणों के दृष्टान्तस्वरूप अनेक पशु-पक्षियों, देव दानवों, भूत-प्रेतों की कहानियां भी गढ़ डाली गयीं। यह 'सन्त-साहित्य' (ascetic poetry) भी महाभारत का एक अङ्ग बन गया।

अतएव महाभारत कोई एक ग्रंथ नहीं है। यह एक प्रकाण्ड संग्रह ग्रंथ है। यह इसके प्रत्येक पर्व की पुष्पिका[1] से ही प्रमाणित होता है, जिसमें इसके लिये 'संहिता' अर्थात् संग्रह ग्रंथ का प्रयोग हुआ है। 'यह कविरूपी माली का यत्नपूर्वक संवारा हुआ उद्यान नहीं है, जिसके लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिये बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, बल्कि यह अपने-आपकी जीवनी-शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्न-परिवर्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है।' महाकाव्य या पुराणमात्र कहने से इसकी व्यापकता का बोध नहीं हो सकता। वास्तव में यह एक विशाल विश्व-कोष है जिसमें प्राचीन भारत की ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक, और दार्शनिक आदर्शों की अमूल्य

१—'इति श्रीमन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां ......।'

निधि संचित है। स्वयं महाभारत में ही लिखा है कि वह सर्वप्रधान काव्य, सब दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास, चरित्र-चित्रण की खान और पंचम वेद है। 'जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है।'[1] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

महाभारत के कर्ता—प्रसिद्ध है कि महाभारत में एक लाख अनुष्टुप् छन्द हैं तथा इसके रचयिता महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि महाभारत की रचना कई शताब्दियों में अनेक कवियों की लेखनी से हुई। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि महाभारत में भाव और भाषा की एकरूपता नहीं पायी जाती। पाश्चात्य विद्वान् हमारे आर्ष-ग्रंथों को श्रद्धालु भारतीय दृष्टि से नहीं, बल्कि साहित्य के आलोचक की दृष्टि से देखते हैं। स्वयं महाभारत में कहा गया है कि व्यास ने 'तीन वर्ष तक लगातार परिश्रम करके इस अद्भुत आख्यान महाभारत की रचना की[2]।' व्यासदेव ने महाभारत की कथा वैशम्पायन नामक अपने शिष्य को सुनायी। इस कथा को वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय के सर्पसत्र में सुनाया। बाद में लोमहर्षण के पुत्र सौति ने इस कथा को शौनकादि ऋषियों को तीसरी बार सुनाया। इस प्रकार महाभारत को तीन बार तीन वक्ताओं ने

१—१/१/२६१-६२.

२—त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम्॥

तीन प्रकार के श्रोताओं को सुनाया था। साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जनमेजय के बीच हुए होंगे उनके कारण व्यास का मूल ग्रन्थ कुछ अवश्य परिवर्धित हो गया होगा। इसी प्रकार सौति और शौनकादि ऋषियों के बीच जो संवाद हुए होंगे, उनसे वैशम्पायन के ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि हुई होगी। अतः व्यास के ग्रंथ को वैशम्पायन ने बढ़ाया और वैशम्पायन के ग्रन्थ को सौति ने बढ़ाकर एक लाख श्लोकों का कर दिया।

इस प्रकार महाभारत के तीन रूपान्तर हुए। आरंभ में व्यास ने जिस ग्रंथ की रचना की उसका नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने इसीको बढ़ाकर 'भारत' का नाम दिया। अंत में सौति ने पूर्ण परिवर्धन करके इसे 'महाभारत' बना दिया। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार व्यास के 'जय' ग्रन्थ में केवल ८८०० श्लोक थे, यद्यपि यह संख्या महाभारत में आये हुए कूट श्लोकों की है[1]। वैशम्पायन के 'भारत' में श्लोकों की संख्या २४,००० हो गयी— 'चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्'। सौति ने 'भारत' में और भी अनेक आख्यानों और उपाख्यानों को जोड़कर तथा अठारह पर्वों में विभाजित कर उसे एक विशालकाय 'महाभारत' का रूप दे डाला। साथ ही उसमें 'हरिवंश' नाम का एक बृहत् परिशिष्ट भी जोड़ दिया। इस प्रकार महाभारत एक लाख श्लोकों से युक्त होकर एक प्रकाण्ड ग्रन्थ हो गया।

किन्तु महाभारत के अनुसार वास्तविक श्लोक-संख्या हरिवंश सहित ९६,२४४ है। क्योंकि अनुक्रमणिकाध्याय में दी हुई सूची के अनुसार महाभारत में कुल १९२३ अध्याय और ८४,२४४ श्लोक हैं। खिलपर्व हरिवंश के १२,००० श्लोक और जोड़ दिये जायं तो कुल ९६,२४४ श्लोक होते हैं। यही वर्तमान महाभारत की

१—अष्टौ श्लोक सहस्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

श्लोक संख्या है। आजकल की कई प्रतियों में पूरे एक लाख तथा इससे भी अधिक श्लोक मिलते हैं।

महाभारत में प्रक्षेप[1]—महाभारत की कथा शताब्दियों तक सूतों की रसना पर फलती-फूलती रही। मुख्य युद्ध का वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र के सामने किया था। संजय भी सूत थे और सौति भी सूतपुत्र ही थे। ये सूत स्वभावतः अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिये उनके मनोनुकूल बात ही कहते थे। संजय कौरवों के आश्रित थे, अतः जो युद्ध-वर्णन उन्होंने किया उसमें पाण्डव ही अन्याय तथा छल का आश्रय लेकर कौरवों का संहार करते हुए चित्रित किये गये हैं। किन्तु वैशम्पायन ने पाण्डवों के वंशज जनमेजय को जो कथा सुनायी है उसमें स्पष्ट रूप से पाण्डवों की प्रशंसा की गयी है। इस वैषम्य के कारण महाभारत में कई स्थलों पर परस्पर विरुद्ध उक्तियां मिलती हैं। भाषा, शैली और छन्द की दृष्टि से भी महाभारत के भिन्न भिन्न भागों में बड़ा अन्तर है। वैदिक आर्ष प्रयोग, पौराणिक कथा-शैली और अलंकृत काव्य-शैली; गद्य, पद्य और गद्य-पद्य-मिश्रित स्थल; वैदिक त्रिष्टुप् और लौकिक अनुष्टुप् छन्द आदि सभी अनूठी बातें महाभारत में पायी जाती हैं। सारांश यह कि महाभारत एक हाथ का अथवा एक ही समय में लिखा हुआ नहीं प्रतीत होता। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि महाभारत के प्रथम दो अध्यायों में जो विषयसूची दी गयी है वह आगे वाले अंशों से मेल नहीं खाती।

महाभारत का समय—सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें 'भारत' या 'महाभारत' का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु 'ब्राह्मण' ग्रंथों में और वेदों में भी कुरु और पांचाल नामक दो झगड़ने वाली जातियों का वर्णन मिलता है तथा कुरुक्षेत्र, परीक्षित, जनमेजय, दुष्यन्तपुत्र

1. Winternitz: *H. I. L. vol. 1 pp. 454–462.*

भरत, धृतराष्ट्र का भी उल्लेख है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र[1] में कुरुक्षेत्र के उस युद्ध का उल्लेख है जिसमें कौरवों का नाश हो गया। पाणिनि[2] ने युधिष्ठिर, भीम, विदुर तथा महाभारत, इन शब्दों की व्युत्पत्ति समझायी है और पतंजलि (१५० ई० पू०) ने तो महाभारत के युद्ध का स्पष्ट उल्लेख ही किया है। अतः यह सिद्ध है कि महाभारत के कुछ आख्यान तथा उसका मूल ऐतिहासिक कथानक उत्तर-वैदिक काल (लगभग १००० ई० पू०) में प्रचलित हो चुका था।

यूरोपीय विद्वानों का कथन है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की चौथी शताब्दी तक निर्धारित हो चुका था। इसके समर्थन में वे कुछ शिलालेखों तथा साहित्यिक प्रमाणों का आश्रय लेते है। प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट (७०० ई०) ने महाभारत को व्यास-रचित एक महान् स्मृति-ग्रंथ माना है तथा अपने ग्रंथों में प्रायः सभी पर्वों से उद्धरण दिये हैं। सुबन्धु और बाणभट्ट[3] (६००-६५० ई०) भी महाभारत के काव्य-रूप से परिचित हैं। केम्बोडिया के ६०० ई० के एक शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि छठी शताब्दी में महाभारत का प्रचार भारत के बाहर दूसरे देशों में भी हो चुका था। ४५०-५०० ई० के आस पास के कई दानपत्र मिलते हैं जिनमें महाभारत के श्लोक शास्त्रीय प्रमाण मान कर उद्धृत किये गये हैं। ४४३ ई० के गुप्तकालीन एक लेख में महाभारत का उल्लेख 'शतसाहस्र्यां संहितायां' इस प्रकार किया गया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ४०० ई० के पूर्व स्थिर हो चुका था[4]।

इसके विपरीत श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय ने अपनी पुस्तक 'महाभारत-मीमांसा' में एक ऐसे प्रबल प्रमाण का

१—१५।१६. २—८।३।९५; ३।२१।६२; ६।२।३८. ३—हर्षचरित के आरम्भ के पद्य ४-१०.

४—Hopkins in *Cambridge Hist. of India, Vol. 1. p. 258* and S. Levi in *Journal Asiatique, 1915, p. 122.*

उल्लेख किया है, जिसके आधार पर महाभारत का रचना-काल और भी कई सौ वर्ष पहले का स्थिर होता है। वैद्य महोदय का कहना है कि हाप्किंस जैसे विद्वानों को डायो क्रायसोस्टोम नामक उस ग्रीक लेखक के विषय में कुछ भी पता नहीं जो सन् ५० ई० में दक्षिण भारत के पाण्ड्य देश में आया था। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' है। इसमें सन्देह नहीं कि इलियड से उसका अभिप्राय महाभारत से ही है[1]। मलाबार-जैसे सुदूर प्रान्त में उक्त ग्रीक लेखक को इस एक लाख श्लोकोंवाले महाग्रंथ का पता चला, इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय महाभारत का प्रचार समूचे भारत में हो चुका था तथा उसकी रचना ५० ई० के पूर्व हो गई थी। अतः महाभारत के समय की नीचे की मर्यादा ईसवी सन् के बाद की नहीं हो सकती। महाभारत में बुद्ध और बौद्ध-धर्म सम्बन्धी कई सिद्धान्तों का तथा यवनों (ग्रीकों) का भी उल्लेख कई बार आया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाभारत की रचना बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति और विस्तार तथा सिकन्दर के आक्रमण (३२० ई० पू०) के बाद ही हुई होगी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि महाभारत का एक लाख श्लोकोंवाला वर्तमान रूप ३२० ई० पू० से लेकर ५० ई० के बीच में निर्धारित हो चुका था।

रामायण और महाभारत पर एक तुलनात्मक दृष्टि—रामायण और महाभारत दोनों भारतवर्ष के प्राचीन पौराणिक ग्रंथ हैं, जिनका देश के जातीय जीवन पर, जनता के धार्मिक और नैतिक विचारों पर तथा साहित्य के विभिन्न अंगों पर अपरिमित प्रभाव पड़ा है। दोनों के वीर महापुरुषों और वीराङ्गनाओं

[1]—विन्टरनिट्ज महोदय का यह अनुमान कि डायो का अभिप्राय इलियड के भारतीय अनुवाद से है सर्वथा भ्रान्त एवं निराधार है।

का ऐतिहासिक अस्तित्व हमारे देश में श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक उसी निःसंदिग्ध रूप से मान लिया गया है जिस प्रकार इस युग के राणा प्रताप और शिवाजी आदि व्यक्तियों का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर एक स्वर से स्वीकृत हो चुका है। राम और कृष्ण की भक्ति ने करोड़ों भारतीय नर-नारियों को एकता के सूत्र में पिरो दिया है। 'अतएव शताब्दियों पर शताब्दियां बीतती चली जाती हैं किन्तु रामायण और महाभारत का स्रोत भारत में शुष्क नहीं हुआ। भारतवर्ष की जो साधना, जो आराधना और जो संकल्प है, उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्य-प्रासादों के भीतर चिरकालिक सिंहासन पर विराजमान है।'

रामायण और महाभारत की तुलना करने के लिये सर्व-प्रथम दोनों ग्रंथों की पारस्परिक समानताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। महाभारत का रामोपाख्यान रामायण का ही संक्षिप्त रूप है। राम की कथा द्रौपदी के अपहरण के अवसर पर युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिये सुनायी जाती है। जयद्रथ द्वारा द्रौपदी का अपहरण रामायण के सीताहरण के आधार पर रचा गया मालूम होता है। किन्तु जहां रामायण के कथानक में सीताहरण की घटना प्रमुख है, वहां महाभारत के अन्तर्गत द्रौपदीहरण का वृत्तान्त आनुषंगिक और गौण है। इसके अतिरिक्त राम और अर्जुन की वीरता में, चौदह तथा तेरह वर्ष के वनवास में, सीता और द्रौपदी के स्वयंवरों में तथा देवताओं से दिव्यास्त्रों की प्राप्ति में—रामायण और महाभारत के कथांशों में समानता है। रामायण में पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर महाभारत में राम की कथा का ही नहीं, बल्कि वाल्मीकीय रामायण का भी उल्लेख मिलता है। यहां तक कि महाभारत में[1] रामायण का एक श्लोक[2] भी उद्धृत

1—७।१४३।६६ 2—न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति यद्ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥ ६।८१।२८

किया गया है। अतः संभव यही है कि महाभारत ने ही रामायण से कुछ कथानक लिये हों, न कि रामायण ने महाभारत से।

दोनों ग्रन्थों की उत्पत्ति एक ही स्रोत से, अर्थात् चारण-गीतों से, बतायी जाती है। इसके कई प्रमाण दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त होते हैं। यद्यपि महाभारत के छंद रामायण के छंदों की भांति परिष्कृत नहीं हैं, तथापि यह स्पष्ट है कि महाभारत के पिछले पर्वों के छन्द रामायण के छन्दों के ही तुल्य हैं। रामायण और महाभारत में कई कथाएं तथा वंशावलियां एक-सी हैं; उदाहरणार्थ, नल-दमयन्ती की कथा। दोनों ग्रंथों की भाषा की समीक्षा करने पर भी ज्ञात होता है कि उनमें कई उपमाएँ, श्लोकार्ध तथा लोकोक्तियां अक्षरशः समान है। इससे यह प्रमाणित होता है कि इन कथाओं और लोकोक्तियों का एक ही उद्गम था। रामायणकालीन सभ्यता महाभारतकालीन सभ्यता की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंस्कृत है, फिर भी दोनों में पुरोहितों, शिष्ट-पुरुषों, निम्नवर्ग तथा सेवकों की जीवन-चर्या एक-सी चित्रित है। इससे प्रतीत होता है कि रामायण और महाभारत की कथाओं का मूल आधार सूतों में प्रचलित कोई गीत-संग्रह रहा होगा।

यद्यपि, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, दोनों ग्रंथों में अनेक समानताएं हैं, तथापि सूक्ष्म अध्ययन से दोनों में कई भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। रामायण का कलेवर महाभारत की अपेक्षा बहुत छोटा है। उसके काण्ड तथा कथावस्तु सुसंबद्ध हैं। रामायण जहां एक व्यक्ति की कृति है वहां महाभारत में अनेक कर्ताओं की छाप है। इसी कारण जहां एक ओर रामायण में भाव, भाषा और रचना शैली की एकरूपता प्रायः समग्र ग्रंथ में देख पड़ती है, वहां दूसरी ओर महाभारत के भिन्न भिन्न भागों में भाषा और रचना-शैली का भेद स्पष्ट लक्षित होता है। रामायण में एकमात्र लौकिक छन्दों का प्रयोग हुआ है, महाभारत में अनेक स्थलों पर वैदिक

छन्द भी मिलेंगे । रामायण आदर्श की दृष्टि से लिखी गयी है, महाभारत वास्तविक घटनात्मक दृष्टि से। रामायण के पात्र आदर्श हैं, उसमें नायक का पक्ष सर्वथा निर्दोष और प्रतिनायक का सर्वथा सदोष चित्रित किया गया है। किन्तु महाभारत की कथा ऐसी नहीं। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पात्र हैं। रामायण में आदर्श भ्रातृप्रेम का चित्रण है तो महाभारत की भित्ति ही भ्रातृद्रोह है। रामायण 'राम + अयन' है, उसमें राम के चरित्र का ही प्राधान्य है तो महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का कानन या महाकान्तार है। वह एक व्यक्ति की गुण-गाथा नहीं है। रामायण साधारणतया ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म का दिग्दर्शन कराती है; महाभारत हिन्दू धर्म का बहुविध स्वरूप उपस्थित करता है। महाभारत में अनेक असंबद्ध विषयों के रहते हुए भी हमें उसमें उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का जैसा स्वाभाविक और सजीव चित्रण उपलब्ध होता है, वैसा रामायण में नहीं।

रामायण और महाभारत में सबसे बड़ा भेद संस्कृति का है। धर्म ही रामायणकालीन संस्कृति का प्राण था। महाभारत का युग कर्मप्रधान था। रामायण में करुणा और भावुकता, सरलता और संयम का साम्राज्य है; महाभारत में दर्प और औद्धत्य, उग्रता और तेज का प्राधान्य है। रामायण में पद-पद पर धर्म की दुहाई दी गयी है; धर्म ही राम को वन जाने, अनेक कष्ट सहने, यहां तक कि सीता का परित्याग करने को बाध्य करता है। पर महाभारत में स्वाभिमान का दर्प उसके पात्रों की रग-रग में भरा है—'ग़लती करने वाला अपनी ग़लती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपनी घृणा को खुलकर प्रदर्शन करता है'। रामायण पढ़ते समय हम भक्ति-रस में

डूबने-उतराने लगते हैं, पर महाभारत पढ़ते समय पाठक 'एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है, जहां पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं, जहां जीवन की चेष्टाएं बार-बार असफलता की चट्टान पर चूर चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता'। यदि महाभारत में राम जैसे मर्यादापुरुषोत्तम, भरत जैसे भाई, हनूमान जैसे भक्त और सीता जैसी पतिव्रता नारी नहीं है, तो रामायण में भी भीष्म जैसे तेजस्वी और ज्ञानी, बलराम जैसे फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी जैसी तेजोद्दृप्त नारियां और श्रीकृष्ण जैसे प्रत्युत्पन्नमति और गंभीर तत्वदर्शी पात्र दुर्लभ हैं। ,,१"

महाभारत की संस्कृति रामायणकालीन संस्कृति के समान समुन्नत एवं सुसंस्कृत नहीं प्रतीत होती। कहां श्रीरामचन्द्रजी का परम पावन एवं आदर्श आचरण और कहां युधिष्ठिर का द्यूत आदि कर्मों में प्रवृत्त होना; कहां लक्ष्मण भरतादि का वह भ्रातृस्नेह और कहां युधिष्ठिर के प्रति भीम और अर्जुन द्वारा अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग; कहां राम और भरत की राज्य के प्रति अनिच्छा और कहां दुर्योधन की यह राज्यलिप्सा—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव'—इस प्रकार दोनों के सांस्कृतिक आदर्शों में महान् अन्तर देख पड़ता है। रामायण की प्रजा राज्यकार्य में अधिक योग देती थी और अन्याय का विरोध करते में नहीं हिचकती थी। पर महाभारत की प्रजा कठोर शासकवर्ग के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर सकती थी। सीता को कैकेयी द्वारा तपस्विनी के वस्त्र दिये जाने पर जहां प्रजा एक साथ चिल्ला उठती है—'धिक् त्वां दशरथम्', वहां धृतराष्ट्र की राजसभा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर भी भीष्म और द्रोण जैसे वयोवृद्ध पुरुष भी कुछ नहीं बोलते। एक ओर रामचन्द्रजी के वनगमन के समय अयोध्यावासी उनके साथ चलने के लिये उद्यत हो जाते हैं, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर के दो बार हस्तिनापुर से निकाले जाने पर नगरनिवासी कौरवों के भय से खुलकर शोक

भी नहीं प्रकट कर सकते। वैवाहिक जीवन की दृष्टि से भी दोनों संस्कृतियों में भेद है। कहां सती साध्वी सीता का पातिव्रत और श्रीराम का पत्नीव्रत और कहां सत्यवती और कुन्ती की कुमारावस्था में ही सन्तानोत्पत्ति, पाण्डवों के बहुविवाह और द्रौपदी के पांच पति। युद्ध के आदर्शों में भी परिवर्तन हो गया था। युद्धक्षेत्र में रावण के घायल हो जाने पर राम कहते हैं कि घायल का वध करना धर्म-विरुद्ध है, तो महाभारत में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का वध, रथ से उतरे हुए कर्ण का वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदी के पांचो पुत्रों का वध किया जाता है। राम-रावण या लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध में वह क्रोधोन्मत्त, घृणासूचक संलाप या प्रलाप नहीं पाया जाता जो भीम और दुर्योधन, अर्जुन और कर्ण के बीच होता है।

रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था महाभारत के समय से भिन्न थी। रामायण के समय भारत पर वैदेशिक प्रभाव नहीं पड़ा था, क्योंकि उसमें विदेशियों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दो-चार स्थलों पर यवनों के प्रति जो संकेत किया गया है उससे राजनीति में विदेशियों का कोई हस्तक्षेप नहीं लक्षित होता। पर महाभारत के समय देश में विदेशियों (म्लेच्छों) का पर्याप्त प्रसार हो चुका था। लाक्षागृह का निर्माता पुरोचन म्लेच्छ था। म्लेच्छों की अपनी म्लेच्छ भाषा भी थी—विदुर पाण्डवों को लाक्षागृह का कपट-रहस्य म्लेच्छ भाषा में ही समझाते हैं। द्रोण-पर्व में स्पष्ट उल्लेख है कि महाभारत युद्ध में कई म्लेच्छ राजाओं ने भी भाग लिया था। वाल्मीकि के अनुसार दक्षिण भारत में कोई समृद्ध राज्य नहीं थे और वहां विराध, कबन्ध जैसे भयानक राक्षसों का ही निवास था। किन्तु महाभारत के समय दक्षिण में राजनीतिक प्रगति पर्याप्त हो चुकी थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दक्षिण भारत के भी कई नृपति आमंत्रित किये गये थे।

धार्मिक विश्वास और नैतिक नियमों में भी परिवर्तन हो गया था। रावण सीता का बलात् अपहरण करता है, पर जब हनूमान् सीता को राम के पास अपनी पीठ पर बैठा कर ले जाना चाहते है तो सीता परपुरुषस्पर्श के भय से यह प्रस्ताव अस्वीकार कर देती है। रावण-वध के अनन्तर सीता को अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिये अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है। किन्तु काम्यकवन में जब जयद्रथ द्रौपदी का वलात अपहरण करता हैं, तब उसके पतिगण द्रौपदी के चरित्र के संबध में कुछ भी संदेह नहीं करते। इससे प्रतीत होता है कि राम के समय पातिव्रत की भावना अधिक कठोर थी तथा नैतिक आदर्श अत्युच्च था।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि महाभारत में वर्णित सभ्यता अशान्तिमय एवं अव्यवस्थित है, किन्तु रामायण की सभ्यता अपेक्षाकृत अधिक शिष्ट, सुसंस्कृत एवं आदर्श है। इस आधार पर पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि महाभारतकालीन संस्कृति रामायणकालीन संस्कृति की अपेक्षा प्राचीनतर है। उनके मतानुसार महाभारत की विषम एवं अव्यवस्थित संस्कृति कालान्तर में रामायण की मर्यादित एवं सुव्यवस्थित सभ्यता में परिवर्तित हो गयी। किन्तु पाश्चात्यों के इस अनुमान के मूल में उनका विकासवाद का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक सभ्य एवं शिष्ट बनता जाता है। हमारा भारतीय दृष्टिकोण इसके विपरीत है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रम मनुष्य की उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी प्रकृति का ही परिचायक है। रामायण सत्ययुग की झांकी कराती है तो महाभारत कलियुग के आगमन की सूचना देता है। रामायण सुख, शान्ति, समृद्धि और व्यवस्था के युग का प्रतिनिधित्व करती है; महाभारत प्रचण्ड संक्षोभ, विप्लवकारी परिवर्तन तथा संहारकारी युद्ध के युग का दिग्दर्शन कराता है।

३

महाकाव्य

संस्कृत काव्य-साहित्य के मुख्यतः दो भेद हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य-काव्य अथवा नाटकों का विवेचन अगले अध्याय में होगा। श्रव्य-काव्य के तीन उपभेद हैं—पद्यकाव्य, गद्यकाव्य तथा चम्पू, जिसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग होता है। पद्यकाव्य के पुनः तीन उपभेद हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक। गद्यकाव्य के भी दो प्रमुख उपभेद है—कथा और आख्यायिका। इस अध्याय में केवल महाकाव्यों का विवेचन होगा।

महाकाव्य की उत्पत्ति तथा विकास—संस्कृत काव्य की झलक सबसे पहले हमें ऋग्वेद में मिलती है। ऋग्वेद में ऐसे कई मंत्र है जिनमें उनके रचयिता प्रार्थना के स्तर को त्याग कर कवि-प्रतिभा का भी परिचय देते है। किन्तु जिसे हम वास्तविक काव्यशैली कहते हैं उसका पूर्ण परिपाक वैदिक काल में नहीं माना जा सकता। 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में कुछ स्थलों पर तथा इतिहास-पुराण-काल के 'सुपर्णाध्याय' नामक आख्यान में भी काव्य की आभा स्पष्ट प्रतीत होती है। पर वस्तुतः संस्कृत का आदि-महाकाव्य वाल्मीकि-कृत रामायण ही है। यहीं उस काव्यधारा का उद्गम है जो अश्वघोष, भास, कालिदास, भारवि तथा माघ आदि विभिन्न स्रोतो में विभक्त होकर संस्कृत काव्यकानन को चिरकाल से सींचती चली आयी है। रामायण की सरल, मनोहर एवं अलंकृत काव्य-शैली ने अश्वघोष और कालिदास जैसे महाकवियों को पूर्णतया प्रभावित किया तथा परवर्ती कवियों के समक्ष महाकाव्य का आदर्श उपस्थित किया। रामायण की भांति महाभारत में भी कहीं कहीं

काव्यशैली लक्षित होती है किन्तु उसका मुख्य विषय काव्य नहीं अपितु इतिहास है। रुद्रट-कृत 'काव्यालंकारसूत्र' के टीकाकार नमिसाधु लिखते है कि स्वयं पाणिनि (४०० ई० पू०) ने 'पातालविजय' और 'जाम्बवतीविजय' नामक दो काव्यों की रचना की थी। पतंजलि (१५० ई० पू०) अपने महाभाष्य में काव्य-साहित्य से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। एक ओर वे अपना 'भारत' से परिचय प्रकट करते है तो दूसरी ओर वे 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाटकों का निर्देश करते है। जहाँ वे 'वाररुचकाव्य' और 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' आदि आख्यायिकाओं का उल्लेख करते हैं वहाँ वे काव्यशैली में रचित पद्यो की कतिपय पंक्तियां भी उद्धृत करते है। यद्यपि ये रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं फिर भी उनके नामोल्लेख से यह सिद्ध होता है कि ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी के बहुत पहले काव्य-साहित्य की समस्त शाखाओं—महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य, जनकथा, नीतिकथा तथा नाटक—का पूर्ण प्रसार था।

ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास के कुछ शिलालेख मिलते हैं, जिनकी भाषा और शैली को देखने से पता चलता है कि उस समय तक काव्य-साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। रुद्रदामन का गिरनार वाला शिलालेख (१५० ई०) अलंकृत काव्य-शैली का सुन्दर नमूना है। उसके 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्द-समयोदारालंकृतगद्यपद्य' समास से यह विदित होता है कि लेखक किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र से परिचित था। लगभग इसी समय के पुलुमायी के नासिक वाले प्राकृत शिलालेख से भी यही बात सिद्ध होती है[१]। प्रयाग के अशोकस्तंभ पर खुदी हरिषेण-कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की शैली इस बात की स्पष्ट सूचना देती है कि उसके पूर्व अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थीं। गुप्तकाल के अन्य उप-

१—*Bombay Gazetteer* Vol. 16 p. 550.

लब्ध शिलालेखों[1] से प्रमाणित होता है कि काव्य की प्रगति अखण्ड रूप से तथा अबाध गति से होती आयी है। यदि दीर्घकाल तक किसी काव्य का पता ही हमें नहीं चलता तो इसका अर्थ यह नहीं कि उस काल में काव्य की प्रगति रुक गई थी। वास्तव में इसका कारण यह है कि कुछ काव्यों की प्रसिद्धि इतनी अधिक हुई कि उनके पहले के कम प्रसिद्ध काव्य विस्मृत हो गये।

महाकाव्य के लक्षण—दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श'[2] में महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं—महाकाव्य की कथा-वस्तु कवि-कल्पना-प्रसूत न होकर किसी प्राचीन आख्यान अथवा ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर होती है। नायक धीरोदात्त प्रकृति का होता है। इसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, जलक्रीड़ा, उद्यानविहार, विवाह, यात्रा, युद्ध तथा विजय-प्राप्ति आदि विषयों का वर्णन उपयुक्त स्थलों पर होना चाहिए। प्रतिनायक के गुण भी उदात्त हो सकते हैं। महाकाव्य अति संक्षिप्त नहीं होना चाहिए। उसमें शृंगार अथवा वीर रस प्रधान रहता है और दूसरे रस गौणरूप में चित्रित होते हैं। संपूर्ण काव्य सर्गों में विभाजित रहता है। सर्ग बहुत बड़े नहीं होने चाहिए। प्रतिसर्ग में एक ही वृत्त के श्लोक रहते हैं, किन्तु सर्ग के अन्त में भिन्न वृत्त होना आवश्यक है। मंगलाचरण आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक होना चाहिए।

महाकाव्यों के इन लक्षणों का विधान उस समय किया गया जब कि संस्कृत में अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि लक्ष्य-ग्रंथों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रंथों की रचना होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि, अश्वघोष,

---

१—Fleet: *Gupta Inscriptions.* २—१।१४-१६.

कालिदास आदि महाकवियों की कृतियों को लक्ष्य में रख कर ही उपर्युक्त लक्षणों की सूची संकलित की होगी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि महाकाव्य के ये साधारण लक्षण मात्र हैं जिनका अक्षरशः पालन सभी महाकाव्यों में कदापि संभव नहीं।

अब संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यों का कालक्रमानुसार वर्णन किया जाता हैः—

अश्वघोष—संस्कृत के बौद्ध-कवियों में अश्वघोष का स्थान सबसे ऊँचा है। परम्परा के अनुसार ये ईसा की प्रथम शताब्दी में राजा कनिष्क (७८ ई०) के गुरु और आश्रित-कवि थे। इनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। इनके महाकाव्यों में वेद और शास्त्रों की अनेक बातें मिलती हैं, जिनसे इनका एक सुशिक्षित ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना सिद्ध होता होता है। बौद्धधर्म में दीक्षित होने पर अश्वघोष ने बौद्धधर्म के प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उन्होंने साधारण जनता को बौद्ध धर्म के गूढ़ रहस्यों को काव्य की मधुर भाषा में समझाने का बीड़ा उठाया। दार्शनिक होने के साथ ही अश्वघोष एक उच्चकोटि के कवि तथा संगीतज्ञ भी थे।

पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वघोष को ही संस्कृत का सर्वप्रथम महाकवि स्वीकार किया है। <u>सौन्दरनन्द</u> उनका प्रथम महाकाव्य है। इसके १८ सर्ग हैं। इसमें बुद्ध के उपदेश से उनके छोटे भाई नन्द अपनी प्रिय पत्नी सुन्दरी तथा सांसारिक सुखों को त्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेते हैं। किन्तु वास्तव में कवि का उद्देश्य रोचक काव्य-शैली द्वारा जनता को बौद्धधर्म के उच्च सिद्धान्तों को समझाना तथा ऐहिक भोगों का त्याग करवा कर पूर्ण वैराग्य की ओर उन्मुख करना था। इस काव्य की शैली शुद्ध वैदर्भी है। भाषा की सरलता, भावों की कोमलता तथा वर्णन की सजीवता दर्शनीय है। उदाहरण के लिये दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ॥ ४।७

इसमें सुन्दरी और नन्द के वियोग की तुलना रात्रि और चन्द्रमा के पार्थक्य से की गयी है।

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥४।४२

नंद की अवस्था का क्या ही स्वाभाविक चित्रण है! 'एक ओर वे बुद्ध के उपदेशों से आकृष्ट हो रहे हैं तो दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। इस अनिश्चय के कारण वे न तो वहां से जा सकते थे और न रुक ही सकते थे, ठीक वैसे ही जैसे कि नदी की धारा के विरुद्ध तैरता हुआ हंस न तो आगे ही बढ़ता है और न पीछे ही हट सकता है।'

बुद्धचरित इनका दूसरा महाकाव्य है। इसके २८ सर्गों में से केवल १७ सर्ग उपलब्ध होते हैं। इसमें गौतमबुद्ध के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। भाषा-शैली अत्यन्त सरल तथा मधुर है। उपमाएं बड़ी सुन्दर और रोचक हैं। स्थान-स्थान पर प्राकृतिक वर्णन अत्यन्त सजीव है। अश्वघोष की यह कृति सचमुच एक कलाकार की कृति है। कथा की उत्कृष्टता एवं उसके निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कथा के प्रवाह में बीच-बीच में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का आकर्षक रूप से प्रतिपादन किया गया है। नीचे दिये दो पद्यों में इनकी रचना-चातुरी का परिचय मिलेगा।

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना।
ऋजुषट्पदपंक्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव॥

एक सोती हुई सुन्दरी का चित्र है। उसके हाथ एक वीणा पर पड़े हुए थे। उसका श्वेत आंचल उसके वक्षस्थल से खिसक गया था। जान पड़ता था कि मानों वह एक ऐसी नदी है जिसकी फेनिल तरङ्गों से तट हास्य का प्रसार कर रहे हों तथा जिसकी कमल श्रेणियों

में भ्रमरों की पंक्ति प्रमुदित हो रही हो।' यशोधरा वन में गये अपने पति की चिन्ता कर रही है कि

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः ।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥

राजसी वैभव में पले वे वनवास की कठोर यातनाओं को किस प्रकार सह सकेंगे।

ये अश्वघोष के ग्रंथ निश्चय ही संस्कृत काव्य के भूषण हैं। कालिदास के पूर्व के काव्य-ग्रंथ जहां लोगों की अभिरुचि न प्राप्त कर सकने के कारण समय के प्रवाह में लुप्त होगये, वहां अश्वघोष की कृतियां सुरक्षित रहीं। उनके काव्य जनता के लिये अधिक हृदयग्राही सिद्ध हुए। उनके ग्रंथ यह प्रमाणित करते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में संस्कृत काव्य का इतना विकास हो चुका था कि अश्वघोष जैसे बौद्धधर्म के आचार्य भी संस्कृत में रचना करने के लिये बाध्य हुए। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तो यहां तक कहते हैं कि कविकुलगुरु कालिदास ने भी अश्वघोष के भावों को अपनाया है। किन्तु यह बात तब तक निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं की जासकती जब तक महाकवि कालिदास का स्थितिकाल निश्चितरूप से प्रमाणित न हो जाय।

अश्वघोष के काव्यों की शैली शुद्ध वैदर्भी है। उनकी वर्णन-शैली स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त उनकी कविता धाराप्रवाह से प्रवाहित होती है। रूखे-सूखे दार्शनिक तत्त्व मधुर भाषा में घरेलू परिचित दृष्टान्तों के द्वारा समझाये गये हैं। अतः वे अनायास ही हृदयंगम हो जाते हैं। युक्तियों की अपूर्वता, उपमाओं की अनुरूपता, उदाहरणों की अनुकूलता, भावों की सुन्दरता तथा भाषा की मधुरता—इन सब गुणों के कारण उनके काव्य आकर्षक और रोचक हुए हैं। मानव-मनोभावों का सूक्ष्म वर्णन उनके प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण के समान

ही मनोमुग्धकारी हुआ है। शृंगार के साथ करुण रस का पुट होने के कारण उनकी कविता सहृदयों को अधिक आकृष्ट करती है। किन्तु उनके काव्यों में शान्त रस प्रधान है। यद्यपि अश्वघोष की रचनाओं में कालिदास की सी रोचकता और चारुता पायी जाती है तथापि उनमें वह निखरा हुआ वाग्विलास और प्रबन्ध की प्रौढ़ता नहीं पायी जाती। फिर भी कालिदास की अपेक्षा उनकी शैली अधिक सरल है। शब्दालंकारों के उपयुक्त प्रयोग से जो पद-लालित्य उत्पन्न हो जाता है, वह सर्वप्रथम अश्वघोष की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।

कालिदास—संस्कृत महाकाव्यों के रचयिताओं में महाकवि कालिदास का स्थान सर्वाधिक प्रमुख है। उनके स्थितिकाल के विषय में मुख्यतः तीन मत हैं :—

(१) भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों[१] में अग्रगण्य थे। भारत में यह बात लोकप्रसिद्ध है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमीय संवत्सर के प्रवर्तक विक्रमादित्य नामक राजा थे। डॉ० हॉर्नली[२] का मत है कि यशोधर्मन् ने कहरूर की लड़ाई (५४४ ई०) में हूणवंश के राजा मिहिरकुल को परास्त करने के बाद 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। इस विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने विक्रम संवत् चलाया। किन्तु उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिये उसको ६०० वर्ष पूर्व से चला कर उसका आरंभ ५७ ई० पू० माना। अतः इस मत के अनुसार कालिदास का समय छठी शताब्दी में प्रकट होता है। इस मत की पुष्टि में यह दिखलाया जाता है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्यसीमा से बिलकुल मिलता जुलता है तथा हूणों का स्पष्ट उल्लेख

१—धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

२—J. R. A. S. 1909. pp. 89 f.

कालिदास ने 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में किया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री[1] ने भी इस मत का समर्थन किया है। पर कालिदास का समय इस प्रकार निश्चित किया जाना ऐतिहासिक घटनाओं से मेल नहीं खाता। यशोधर्मन् के शिलालेखों से नवीन संवत् स्थापन की घटना सच्ची नहीं प्रतीत होती। विक्रम संवत् की स्थापना छठी शताब्दी में यशोधर्मन् के द्वारा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि मालव संवत् के नाम से यह संवत् इससे पूर्व ही प्रसिद्ध था[2]। ४७३ ई० की मंदसोर वाली वत्सभट्टिरचित प्रशस्ति में 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' के कितने ही पद्यों की झलक[3] देख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को छठी शताब्दी में मानना अनुचित है। यह सिद्धान्त भारतीय जनश्रुति के भी विरुद्ध है।

(२) जनश्रुति के आधार पर कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० है। हाल (६८ ई०)[4] की 'गाथा सप्तशती' में दानशील राजा विक्रम का उल्लेख[5] आया है। जब ६८ ई० के ग्रंथ में विक्रम का नाम पाया जाता है तब सौ वर्ष पहले उनकी स्थिति मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इनके 'शकारि' होने में भी कोई विरोध नहीं देख पड़ता, क्योंकि ईसा के १५० वर्ष पूर्व शकों का हाल इतिहास में पाया जाता है। पर यह निश्चितरूप से ज्ञात नहीं कि उन्हें परास्त कर उनका नाश करनेवाले कौन थे। यदि यही विक्रमादित्य उनके संहारक हैं तो ईसा के पूर्व उनकी सत्ता स्वीकार की जा सकती है। कालिदास ने 'रघुवंश' के छठे सर्ग में

१—J. B. O. R. S. vol. 2 pp. 31-44.

२—'Vikrama Era' in *Bhandarkar Commemoration Vol.*

३—उदाहरणार्थ, मेघदूत ६६ और वत्सभट्टि १०, ऋतुसंहार ५।२,३ और वत्स० ३१.

४—वि० स्मिथ।

५—संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्य॥ ५।६४

पाण्ड्य नरेश का वर्णन किया है और 'उरगपुर' को उसकी राजधानी बतलाया है—'अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथम्'[1]। यह उरगपुर (उरियाउर) पाण्ड्य देश के राजाओं की, प्रथम शताब्दी में, राजधानी था। अतः कालिदास इसी समय के आसपास के मालूम पड़ते हैं। यह प्राचीनों का मत है और इसकी पुष्टि श्री० चिन्तामणि विनायक वैद्य, प्रो० आर० एल्० आप्टे, प्रो० शारदारंजन राय, प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि विद्वानों ने की है। किन्तु ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में विक्रमादित्य नामक कोई राजा हुए, इसका निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। जहां इनके पूर्ववर्ती अशोक आदि राजाओं के शिलालेख मिलते हैं वहां विक्रमादित्य नामधारी राजा के शिलालेख का कहीं पता नहीं लगता। हाल की 'सप्तशती' का समय (६८ ई०) भी निर्विवाद नहीं है। कीथ, जेकॉबी तथा ल्यूडर्स उसकी रचना २००—४५० ई० के बीच मानते हैं[2]। इस प्रकार जब ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में विक्रमादित्य का अस्तित्व ही सन्देहास्पद है तब कालिदास की स्थिति उस काल में संभव नहीं।

(३) सर रामकृष्ण भाण्डारकर, पं० रामावतार शर्मा आदि भारतीय तथा डॉ० टी० ब्लॉच्, कीथ आदि यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास का स्थितिकाल माना है। गुप्तकाल (३२० से लगभग ५३० ई०) भारतीय कलाकौशल के पुनरुत्थान का काल माना जाता है। कालिदास के ग्रंथों में गुप्तवंश के राजाओं की ओर कई संकेत[3] मिलते हैं। कीथ महोदय, जो कि कालिदास का समय अश्वघोष और भास के अनन्तर मानते हैं, इस

१—६।५९. २—Keith: *History of Sanskrit Literature* p. 224.

३—(क) आसमुद्रक्षितीशानाम्। रघुवंश १।५. (ख) तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः। रघु० १।५५. (ग) अन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः। रघु० २।२४.

मत के समर्थक है कि शकों को भारत से निकाल कर बाहर करनेवाले तथा 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण करनेवाले गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५—४१३ ई०) थे। उनके मतानुसार भारतीय इतिहास के इसी स्वर्णयुग में महाकवि कालिदास ने अपनी कीर्तिकौमुदी का प्रसार किया था। संभवतः वे अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के प्रथम अंक में 'महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्', 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः' आदि वाक्यों में इन्हीं विक्रमादित्य की ओर संकेत करते है। 'तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी'[1]—इस प्रसिद्ध उपमा में चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्पष्ट आभास मिलता है। चौथी शताब्दी की हरिषेण-कृत प्रयागवाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त (३३६-३७५ ई०) के विजय-वर्णन में तथा 'रघुवंश' में वर्णित रघु के दिग्विजय[2] में घटनाओं का बड़ा साम्य दिखायी पड़ता है। 'रघुवंश' के आरंभ में सुख-शान्ति का समृद्ध काल[3] गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही समय का सूचक है। इसके अतिरिक्त इन्दुमती के स्वयंवर वर्णन में 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः' 'इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै' आदि उक्तियों में 'चन्द्रमा' तथा 'इन्दु' शब्द चन्द्रगुप्त के द्योतक बतलाये गये हैं। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक वाकाटक के राजा रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता के विवाहोत्सव पर लिखा या खेला गया होगा। उसमें जिस अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख किया गया है उससे भी समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ की ओर संकेत जान पड़ता है। कालिदास के 'कुमारसंभव' नामक महाकाव्य की रचना संभवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रख कर की गयी जान पड़ती है।

१—रघुवंश ३।२.

२—स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ ४।२६

३—वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् । रघु० ६।७५

'रघुवंश' में भी कुमारगुप्त की ओर स्पष्ट संकेत[1] है। मंदसोर के शिला-लेख से भी १०० वर्ष पूर्व कालिदास की स्थिति मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। कालिदास अपने काव्यों में उज्जयिनी के प्रति जो विशेष अनुराग प्रकट करते हैं उससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास ने अपना अधिकांश समय उज्जयिनी में ही व्यतीत किया और यह नगरी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में गुप्त-साम्राज्य के अधीन थी। इन आधारों पर यह प्रमाणित होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के शासन काल में, अर्थात् चौथी शताब्दी के अन्त या पांचवी शताब्दी के आरंभ में, हुए होंगे। आधुनिक काल के अधिकतर विद्वानों की सम्मति इसी तृतीय मत के पक्ष में है।

महाकवि कालिदास ने दो महाकाव्य लिखे—'कुमारसंभव' और 'रघुवंश'। कुमारसंभव के १७ सर्गों में शिव-पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के वध की कथा का वर्णन है। अनेक विद्वानों की धारणा है कि कुमारसंभव के आरंभ के आठ सर्ग ही कालिदास के रचे हुए हैं, क्योंकि बाद के सर्गों की भाषा और शैली पहले के आठ सर्गों की सी नहीं पायी जाती। मल्लिनाथ की टीका भी आरंभ के आठ सर्गों पर ही मिलती है। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि अंतिम ९ सर्गों के बिना कुमारसंभव में महाकाव्य के संपूर्ण लक्षण नहीं घटित हो पाते। संभव है कि महाकाव्य के संपूर्ण लक्षणों को घटित करने के लिये ही किसी ने बाद में ये ९ सर्ग और जोड़ दिये हों।

कुमारसंभव कालिदास की कला की सुन्दर सृष्टि है। अपनी सुन्दर भाव-व्यंजना, उदात्त एवं कोमल कल्पना तथा ओजस्व पद-विन्यास के कारण यह आधुनिक रुचि के विशेष अनुकूल है।

१—इक्षुच्छायनिषादिन्यः तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ ४।२०

कालिदास की वर्णना शक्ति कुमारसंभव में चारु रूप से प्रकट हुई है। कहीं वसन्त का स्निग्ध, मनोहर वर्णन है; कहीं विवाहित सौख्यों का आनन्द प्रसार पा रहा है; कहीं प्रियतम की वियोग-जन्य ज्वाला चित्त को दग्ध और संसार को शून्य कर रही है। बाह्य प्रकृति का मनोरम चित्रण इस काव्य की विशेषता है। आरम्भ में हिमालय का संश्लिष्ट, बिंबग्राही वर्णन, तीसरे सर्ग में आकस्मिक वसन्त ऋतु के आगमन से वनश्री का वर्णन, चौथे सर्ग में रति-विलाप, पांचवें सर्ग में बटुवेषधारी शिव तथा तपस्विनी पार्वती का संवाद—ये विषय बहुत ही उत्कृष्ट प्रसादपूर्ण शैली में अंकित किये गये हैं। कवि की लक्षणा शक्ति भी इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है। शिव-पार्वती का विवाह केवल रति-सुख के लिये नहीं था। उनके समागम से तारकासुर का संहार करने वाले परम तेजःपुञ्ज कार्त्तिकेय का जन्म होता है। शिव-पार्वती का दैवी विवाह और प्रेम, मानव विवाह और प्रेम का प्रतिरूप है, जो वंश की वृद्धि और गृह की सुरक्षा के लिये परमावश्यक हैं। कालिदास की सभी कृतियां प्रायः शृंगार-रस प्रधान हैं। इनका अभिप्राय यह नहीं कि वे वासना-जन्य प्रेम के पक्षपाती हैं। मदन का भस्म हो जाना तथा पार्वती का शिव को अपने सौन्दर्य-पाश में बांधने में असफल होना यह सिद्ध करता है कि कवि बाढ़ की तरह आने वाली, बाह्य आकर्षणों तक ही सीमित रहने वाली वासना का घोर विरोधी है। वासना-जनित क्षणभंगुर प्रेम का फल दुःख और क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कामवासनाओं को बिना जलाये सच्चे स्नेह की उपलब्धि नहीं हो सकती, बिना तपस्या के स्नेह कभी परि-निष्ठित नहीं हो सकता—यही कुमारसंभव का अमर संदेश है।

कालिदास के सब काव्यों में ही नहीं, अपितु समस्त संस्कृत साहित्य में रघुवंश एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसके १९ सर्गों में सूर्य-वंश के राजाओं का यशोगान किया गया है। प्रथम ९ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, अज, रघु और दशरथ—का वर्णन है; १० से १५

सर्ग तक राम-चरित्र का तथा अंतिम ४ सर्गों में राम के वंशजों का वर्णन है।

रघुवंश में कालिदास की परिपक्व प्रज्ञा और प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय मिलता है। १९ सर्गों में ऐसे प्रशस्त एवं रुचिर काव्य की सृष्टि करना, अनुरूप घटनाओं का उसमें स्वाभाविक रूप से समावेश करना, आकर्षक चरित्र-चित्रण और विशद वर्णना से उसकी शोभा में वृद्धि करना और, इन सबके उपरान्त, समग्र ग्रन्थ में रस-व्यंजना तथा उदात्त शैली का उचित समन्वय करना—ये कार्य कवि की सर्वातिशायिनी प्रतिभा से ही संपादित हो सकते हैं। इन्दुमती का स्वयंवर, अज का विलाप, राम तथा सीता की विमान-यात्रा, निर्वासित होने पर लक्ष्मण द्वारा सीता का सन्देश भेजना, शून्य अयोध्या का उसके अधिष्ठातृ देवता द्वारा कुश के स्वप्न में वर्णन—इनमें प्रत्येक घटना इतनी स्वाभाविक और सुन्दर शैली में वर्णित हुई है कि पाठक पर वह अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। प्रायः सभी मुख्य रसों का परिपाक रघुवंश में हुआ है। अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में शृंगार का, रघु, अज और राम के युद्ध प्रसंगों में वीर का, अज-विलाप में करुण का, वसिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रम तथा सर्वस्वत्यागी रघु के वर्णन में शान्त रस का प्राधान्य है। अलंकारों का प्रयोग भी भाव या दृश्य के चित्र को अधिक चटकीला बनाने के लिये ही हुआ है। भाषा इतनी सुबोध है कि साधारण संस्कृत जानने वाले भी इसका आनन्द उठा सकते हैं। संस्कृत के अनेक ग्रंथकारों और सुभाषित-कारों ने कालिदास का 'रघुकार' नाम से ही उल्लेख किया है—'क इह रघुकारे न रमते'। इससे रघुवंश की सर्वप्रियता और उत्कृष्टता का पता चलता है। आदर्शों की अनुपम सृष्टि के लिये, रम्य और ललित कथोपकथन के लिये, सरस एवं स्पष्ट भाव-व्यंजना के लिये और कोमल तथा मधुर रसोत्पत्ति के लिये रघुवंश कालिदास की कीर्ति-पताका को सतत परिस्फुरित करता रहेगा।

विस्तार-भय से इन महाकाव्यों में से सभी उत्कृष्ट उदाहरण नहीं दिये जा सकते। सच तो यह है कि कालिदास के सर्वांगसुन्दर काव्यों में से किस स्थल का उदाहरण दिया जाय और किस स्थल का न दिया जाय, यह निर्णय करना ही कठिन है। फिर भी एक-दो उदाहरण पाठकों के संमुख रक्खे जाते हैं। भारतीय सौन्दर्य का आदर्श कवि ने कुमारसंभव के पांचवें सर्ग में उपस्थित किया है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥ ५।२४

इसमें पार्वती की अनिन्द्य सुन्दरता का प्रकारान्तर से अत्यन्त मनोहर वर्णन है। जब पार्वती खुले स्थान में बैठ तपस्या करती थीं तब वर्षा की बूंदें किस प्रकार उनके ललाट-स्थल से नाभि तक टकराती बल खाती पहुँचती थीं, इसका कवि ने बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उनकी बरौनियां घनी थीं, अतः जल की बूंदें कुछ देर तक उनमें अटक जाती थीं, किन्तु कुछ ही क्षण तक, जिससे यह प्रतीत होता है, कि घनी होने के साथ ही वे स्निग्ध भी थीं। तत्पश्चात् वे बूंदें उनके अधरों से होती हुई उनके वक्षःस्थल से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती थीं, जिसका तात्पर्य यह है कि पार्वती के उरोज कठोर एवं उन्नत थे। फिर उदर की त्रिवली में चक्कर काटती हुई वे बूंदें अन्त में नाभि के नयनाभिराम प्रदेश में प्रवेश करती हैं। पार्वती के अवयवों का कैसा चारु चित्रण है!

पर कालिदास ने नारी-सौन्दर्य का केवल स्निग्ध एवं शृंगारिक रूप ही नहीं चित्रित किया है, अपितु उसके सगर्व स्वाभिमान का भी चित्र उपस्थित किया है—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥ रघु० १४।६१

परित्यक्ता सीता लक्ष्मण से कहती है कि तुम मेरी ओर से उन राजा (राम) से यह सन्देश कहना—लंकाविजय के बाद देवताओं, वानरों,

राक्षसों तथा स्वयं आपके सामने अग्निदेव ने मेरी पवित्रता का प्रमाण दिया। क्या उसमें भी आपकी श्रद्धा नहीं? लोगों के निराधार प्रवाद को सुनकर ही आपने अपनी वाग्दत्ता पत्नी का परित्याग कर दिया। क्या यह आचरण आपकी विद्वत्ता अथवा कुल के अनुरूप है? 'स राजा' क्या ही चुभता हुआ व्यंग है! राम पहले राजा हैं, पति बाद में।

कालिदास की शैली—कालिदास की कृतियों मे संस्कृत काव्य-शैली का चारुतम रूप प्रस्तुत है। उनकी कविता के जिन गुणों ने संसार को उनका भक्त बना दिया है उसमें उनकी मौलिकता अद्वितीय है। उन्होंने अपना विषय भले ही प्राचीन आख्यानों से लिया हो, पर किस प्रकार वे अपने सृष्टि-नैपुण्य से उसे कुछ-का-कुछ बना देते हैं, किस प्रकार वे एक नीरस और सर्व-प्रसिद्ध कथानक को अति रुचिकर और मनोमुग्धकारी बना देते हैं—यह दर्शनीय है। मौलिकता नयी सृष्टि रचने में उतनी नहीं होती जितनी पुरानी सृष्टि को नूतन चमत्कार प्रदान करने में। कालिदास की सभी रचनाएं इस कसौटी पर खरी उतरती हैं।

कालिदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा उन्हें विश्व-साहित्य में असाधारण स्थान प्रदान करती है। उन्होंने महाकाव्य, गीतिकाव्य तथा नाट्य-रचना सभी में अपनी प्रखर प्रतिभा का समान रूप से परिचय दिया है। कोई भी एक कवि इन सबमें उनकी बराबरी नहीं कर सकता। संभव है कि शेक्सपियर एकमात्र नाट्य-नैपुण्य अथवा चरित्र-चित्रण में कालिदास से कुछ बढ़कर हों, किन्तु भारतीय आदर्श के अनुसार काव्य की अन्तरात्मा—'रस'—की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति कालिदास के काव्यों में हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

कालिदास की लोकप्रियता का रहस्य है, उनकी प्रसादपूर्ण शैली। उन्होंने अपने सभी ग्रंथ वैदर्भी शैली में लिखे हैं। वैदर्भी रीति का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार दिया है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥

ललित पदविन्यास के माधुर्य से तथा क्लिष्टता और कृत्रिमता के सर्वथा अभाव से कालिदास की रचनाएं स्वाभाविक और सहज-सुन्दर हैं, सर्वत्र सरल, सुबोध एवं प्रसादयुक्त हैं।

किसी भाव का चित्रण करते समय कालिदास एक अनूठी शैली का उपयोग करते हैं। वे उसे स्पष्ट शब्दों में कहने की अपेक्षा व्यंजनावृत्ति का आश्रय ले उसकी ओर संकेत कर देना पर्याप्त समझते हैं —

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ कु० ६।८४

जब अंगिरा ऋषि गिरिराज हिमालय से शंकर के लिये पार्वती की मँगनी की प्रार्थना कर रहे थे, उस समय पास ही बैठी हुई पार्वती की मानसिक दशा का इसमें चित्रण है। इस श्लोक में एक भी अलंकार नहीं है, तथापि कवि ने कमलपत्र की गिनती के वर्णन से पार्वती की सहज लज्जाशीलता, आंतरिक प्रेम तथा आनन्दातिरेक के गोपन की प्रवृत्ति की बड़ी रुचिर एवं मार्मिक व्यंजना की है। जहां बाण और भवभूति किसी रमणीय कल्पना का अति-विस्तृत वर्णन करते हैं, वहां कालिदास कतिपय चुने हुए शब्दों में ही उसकी बांकी झांकी दिखा देते हैं। कालिदास का यह शब्दलाघव उनकी कलात्मक अभिरुचि का परिचायक है। उनकी कवि-कल्पना नित्य नूतन चित्रों की सृष्टि करने में निपुण है। उनकी रसमयी रुचिर रचनाओं पर 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' वाली लोकोक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है।

कोमल एवं सुकुमार भावों की व्यंजना में कालिदास अद्वितीय हैं। इसीलिये 'प्रसन्नराघव' के कर्ता कालिदास को 'कविताकामिनी

का विलास' कहते हैं। शृंगार रस के संभोग एवं विप्रलंभ, इन दोनों पक्षों का जैसा सूक्ष्म एवं मार्मिक उद्घाटन कालिदास ने किया है वैसा संसार के किसी और कवि ने किया होगा, इसमें सन्देह है। उनका करुण रस भी कम मार्मिक नहीं। कुमारसंभव का रतिविलाप तथा रघुवंश का अजविलाप उनके करुणरस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पति के भस्मीभूत शरीर को देख कर रति विलाप कर रही है—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमेव दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥ कु० ४।३०

'हे वसन्त, तुम्हारे वे प्रिय सखा (कामदेव) हवा के झोंके से बुझे दीपक की भांति, कभी न लौटने के लिये, चले गये और देखो, मैं उस बुझे दीपक की काली बत्ती के समान असह्य शोकान्धकार से आवृत बची हुई हूं।' पत्नी के वियोग पर अज की कैसी दशा हो गयी है—

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यहायधीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु॥ रघु० ८।४३

'अज ने अपना सहज धैर्य छोड़ कर सिसकियों से अवरुद्ध हुई वाणी से विलाप किया। अधिक ताप से लोहा भी पिघल जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या?' इसके विपरीत नववधू के प्रेम का क्या ही मनोरम चित्र कवि ने खींचा है—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः॥ कु० ७।२२

'जब पार्वती ने अपने दीर्घ नेत्रों से दर्पण में अपना रमणीय रूप देखा तब वह शीघ्रता से शिव के समीप पहुंचने के लिये आतुर हो गयीं, क्योंकि स्त्रियों के लावण्य की सफलता प्रियतम की स्नेहसिक्त दृष्टि में ही निहित है।' करुण एवं शृंगार, इन दोनों रसों की व्यंजना में कवि के पद्यों का नाद-सौन्दर्य और सुकुमार वर्णविन्यास विशेष सहायक हुए हैं।

अलंकारों के प्रयोग में कवि ने अपनी सूक्ष्म मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनकी कविता अत्यधिक अथच अनावश्यक अलंकारों के भार से आक्रांत कामिनी की भांति मंद मंथर गति से चलने वाली नहीं है, अपितु 'स्फुटचन्द्रतारका विभावरी' की भांति अपने सहज-सौन्दर्य से सहृदयों के चित्त को आकृष्ट करने वाली है। उनके अनुप्रास उनकी काव्यधारा में सर्वत्र अप्रयास ही आ गये हैं, कहीं भी जबरदस्ती ठूंस-ठूंस कर नहीं बिठाये गये हैं, जैसे—'प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि,' 'मायूरी मदयति मार्जना मनांसि,' 'निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु' आदि। यमक से रस-भंग होने की आशंका रहती है, इसलिये कवि ने उसका क्वचित् ही उपयोग किया है, जैसे—'वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः,' 'मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्'। श्लेष के अधिक प्रयोग से काव्य में क्लिष्टता या कृत्रिमता आ जाती है, अतः कवि ने उसका कम ही प्रयोग किया है। उन्होंने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों पर विशेष ध्यान दिया है। स्वभावोक्ति में वे सिद्धहस्त हैं। उनके शाब्दिक चित्र सजीव एवं स्वाभाविक हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के प्रयोग में उनकी बहुश्रुतता एवं व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है।

कालिदास की उपमाओं की विलक्षणता तो विश्व-विख्यात है—'उपमा कालिदासस्य'। वास्तव में उनकी उपमाएं अद्वितीय हैं। नन्दिनी गाय राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच में वैसी ही शोभा पा रही है जैसी दिन और रात के मध्य में होने वाली रक्तवर्णा संध्या—'दिनक्षपामध्यगतेव संध्या'। पौरस्त्रियां राजकुमार अतिथि का अपने नेत्रों से उसी प्रकार अनुसरण करती थीं, जिस प्रकार चमकते हुए तारों वाली शरद ऋतु की रात्रियां ध्रुव नक्षत्र का अनुगमन करती हैं—'शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम्'। रमणीय होने के साथ ही कालिदास की उपमाएं यथार्थ हैं—स्वयंवर के समय इन्दुमती जिस जिस राजा को छोड़ती जाती है, उसके चेहरे

पर निराशा की ऐसी कालिमा छा जाती है जैसी राजमार्ग के उन महलों पर जिन्हें रात्रि के समय आगे बढ़नेवाली दीपशिखा पीछे छोड़ती चली जाती है। उपमाओं की विविधता भी दर्शनीय है। मदन-दाह के उपरांत शोक से व्याकुल रति की, बांध टूटने पर निर्जल तालाब में अकेली बची शोभाहीन कमलिनी से, मूर्त उपमा दी गयी है। शास्त्रीय उपमाएं भी कई मिलती हैं—ब्राह्म सरोवर से निकलने वाली सरयू सांख्य-शास्त्र के अव्यक्त मूल-प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धि-तत्त्व की तरह है। नन्दिनी के पीछे जाने वाले दिलीप की, श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति से उपमा आध्यात्मिक है—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'। अमूर्त कल्पनाओं से भी कवि ने उपमाएं ली हैं—माता की गोद को शोभित करनेवाले भरत की उपमा लक्ष्मी की शोभा बढ़ाने वाले विनय से दी गयी है। व्यवहार और अनुभव से सूझी हुई उपमाएं भी मिलती हैं—दुष्यन्त को सौंपी गयी शकुन्तला सुपात्र शिष्य को दी गयी विद्या के समान है। सभी उपमाएं स्वाभाविक और अपने-अपने प्रसंग के योग्य मालूम पड़ती हैं—पेटू विदूषक चंद्रमा को मक्खन का गोला समझता है!

सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण 'मेघदूत' में भरे पड़े हैं। पके पीले आमों के वृक्षों से आच्छादित आम्रकूट पर्वत की चोटी पर जब काले मेघ छा जाते हैं तब वह पर्वत ऐसा दिखाई पड़ता है मानों 'मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः' हो अर्थात् वसुन्धरा का गौरवर्ण का उन्नत उरोज हो जिसके मध्य में श्याम वर्ण का कुचाग्र शोभित हो रहा हो। इसी प्रकार कैलाश पर्वत की शुभ्र धवल हिमाच्छादित चोटियां ऐसी शोभित हो रहीं हैं मानों भगवान् शङ्कर के प्रतिदिन अट्टहास की राशियां लगी हों। दृष्टान्त भी कवि का प्रिय अलंकार है—'सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति', 'क इदानीं सहकारमुज्झित्वाऽतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते'—दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम को लक्ष्य में रखते हुए ये दृष्टान्त बड़े ही अनुरूप हैं। अर्थान्तर-

न्यास में कवि का व्यावहारिक ज्ञान बड़े रसीले रूप में प्रकट हुआ है—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्,' 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते,' 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता, 'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्'–इत्यादि।

अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति के कारण कालिदास अपने शब्द-चित्रों को बड़ी खूबी से खींच सके हैं। वे मानवहृदय की कोमल भावनाओं के, उसकी उत्सुकता और विह्वलता के, उसके विविध भावावेशों के सच्चे पारखी थे। अन्तर्जगत् के साथ बाह्य-जगत् के भी वे सूक्ष्म मर्मज्ञ थे। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का, उसके अनुपम दृश्यों का, सच्चा चित्र उनके काव्य में सर्वत्र मिलेगा।

चरित्र-चित्रण में भी कालिदास अद्वितीय है। 'दीपशिखा' के तुल्य इन्दुमती, 'कृशाङ्गयष्टि' सीता 'संनतगात्री' पार्वती 'तन्वी श्यामा' यक्षपत्नी, 'मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' शकुन्तला के जीते-जागते चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अपनापन लिये हुए है। वे हमारी कल्पना-नगरी में हजारों वर्षों से निवास करते हुए भी नित्य-नूतन एवं चिर-सुन्दर हैं। भारतीय-साहित्य में उनका स्थान अमर होगया है।

कालिदास की कृतियों में कहीं कहीं अश्लीलता, च्युतसंस्कृति, औचित्य-भंग एवं रस-दोष की त्रुटियां पायी जा सकती हैं, पर 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' के अनुसार वे सर्वथा नगण्य एवं उपेक्षणीय है। प्रसाद की प्रचुरता, माधुर्य का समुचित संनिवेश, भावों का सौष्ठव, अलंकारों की अपूर्वता एवं रमणीयता तथा भाषा का लालित्य—इन सब गुणों ने कालिदास की कविता को विश्ववन्द्य बना दिया है। कालिदास के विषय में किसी आलोचक की उक्ति है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

'प्राचीन काल में कवियों की गणना करने का प्रसंग आने पर कालिदास का नाम सर्व प्रथम कनिष्ठिका अंगुली पर गिना गया। किन्तु कालिदास की बराबरी करनेवाले अन्य कवि के न होने के कारण दूसरी अंगुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं, इसलिये उस अंगुली का नाम अनामिका पड़ा। आज भी कालिदास के समकक्ष कोई और कवि न होने के कारण उस अंगुली का 'अनामिका' नाम सर्वथा सार्थक हो रहा है।'

बाणभट्ट पूछते हैं कि कविवर कालिदास की आम्रमंजरी के समान सरस-मधुर सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता?—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

प्रसिद्ध आलंकारिक आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में एक स्थान पर कहा है—'अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते' अर्थात् इस संसार में अनेक कवि पैदा होते हैं, फिर भी उनमें से कालिदास के समान दो, तीन या अधिक से अधिक पांच-छः व्यक्तियों को ही 'महाकवि' की उपाधि दी जा सकती है। पीयूषवर्ष जयदेव ने कालिदास को 'कविकुलगुरु' पद से विभूषित किया है। सोड्ढल ने 'रघुवंशकार' की प्रशंसा इस प्रकार की है—

ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः॥

'धन्य हैं वे कवि कालिदास जिनकी कीर्ति उनकी कविता के समान ही निर्दोष, अमृततुल्य एवं मधुर है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्यवंश का पूरा वर्णन कर सकी वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुंची है।' श्रीकृष्ण कवि अपने 'भरतचरित' के आरंभ में कालिदास की भाषा का इस तरह वर्णन करते हैं—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

'कमलिनी की तरह अस्पृष्ट दोष वाली (रात में विकास न पाने वाली, दूसरे पक्ष में दोषरहित), मुक्ताहार की तरह गुणसमूहयुक्त (अनेक सूत्रों वाली, दूसरे पक्ष में गुण-समुदाय से युक्त), प्रिया की गोद की तरह विमर्द से (संवाहन से, परीक्षण से) आह्लादकारक भाषा कालिदास के सिवा अन्य किसी कवि की नहीं है।' गोवर्धनाचार्य ने भी कालिदास की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उनकी सूक्ति साभिप्राय, मधुर तथा कोमल विलासिनी के कण्ठस्वर की तरह है; हमें शिक्षा देते समय भी वह आनन्द से विभोर कर देती है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ती ॥

मम्मट का यह कथन कि कविता कान्ता के कोमल उपदेशों के समान शिक्षा देती है—'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'—कालिदास की कविता पर पूर्णतया घटित होता है।

कालिदास के बाद के महाकाव्य—अश्वघोष तथा कालिदास के बाद जिन महाकाव्यों की रचना हुई उनका कथानक अधिकतर रामायण अथवा महाभारत से लिया गया है। इन काव्यों में शृंगार-रसात्मक वर्णन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गयी। धीरे-धीरे भाषा ने अपनी सरलता छोड़ कर क्लिष्ट शब्दों और दीर्घ समासों का आश्रय लिया। इनमें अश्वघोष और कालिदास की सरलता और स्वाभाविकता की कमी है। कविगणों ने काव्य का उद्देश्य बाह्य शोभा— अलंकार, श्लेषयोजना एवं शब्द-विन्यासचातुरी—तक ही सीमित कर दिया। अलंकार-कौशल का प्रदर्शन करना तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के नियमों के पालन में अपनी निपुणता सिद्ध करना ही उनका प्रधान लक्ष्य होगया। काव्य का विषय गौण होगया तथा भाषा और शैली को अलंकृत करने की कला प्रधान होगयी।

इन काव्यों के रचयिता प्रायः राजाओं के आश्रित हुआ करते थे। राजा स्वयं साहित्यिक रुचि के व्यक्ति होते थे और उनमें वास्तविक गुणों की परीक्षा करने की क्षमता होती थी। राजसभाओं के इस प्रभाव के कारण संस्कृत कविता पर राजकीय जीवन की—उसकी विलासिता तथा कृत्रिमता की—छाप देख पड़ती है। भाव-प्रदर्शन का स्थान वैदग्ध्य-प्रदर्शन ने ले लिया, तथा कल्पना ने रस को आक्रांत कर लिया।

राजकीय प्रभाव के साथ ही इन काव्यों पर दो अन्य शास्त्रों—कामशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र—का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' से कवियों को नायक और नायिका का आदर्श प्राप्त हुआ। नायक-नायिका के आहार-विहार, हाव-भाव, कटाक्ष-भ्रूविलास आदि समस्त श्रृंगारिक विषय कवि के लिये 'कामसूत्र' में प्रस्तुत हैं। अलंकारशास्त्र ने काव्यसंबंधी नियमों को निर्धारित किया।

महाकवि कालिदास ने अपनी लेखनी तथा कल्पना को कामशास्त्र और अलंकारशास्त्र की संकीर्ण परिधि में नियंत्रित नहीं रखा; दुनिया को अपनी आंखों से देखने का कार्य बंद नहीं कर दिया। तभी उनकी कृतियां कलात्मक हैं और पाठक उनको पढ़ने में वैरस्य का कभी अनुभव नहीं करता। किन्तु निम्न श्रेणी की कृतियों में भावों का वह सुन्दर चित्रण नहीं, स्वाभाविकता, सरसता, तथा नवीनता नहीं। नियमों की शृंखला में आबद्ध होकर उनके रचयिता काव्य के प्रमुख प्रयोजन, रस की अभिव्यक्ति, से विमुख हो गये। शास्त्रीय सिद्धान्त की प्रधानता ने इन परवर्ती कवियों को अपनी स्वतंत्र उद्भावना-शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया। उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया, इसलिये स्वाधीन चिन्ता के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।

उपर्युक्त कारणों से कालिदास के अनन्तर रचे गये काव्यों में सूक्तियां अधिक हैं, काव्य कम। 'जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित

कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु अथवा तथ्य की मार्मिक भावना से लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।'

भारवि—महाकाव्यकारों में कालिदास के बाद भारवि का नाम लिया जाता है। इनके समय का ज्ञान हमें बहिरंग प्रमाणों से मिलता है। भारवि के काव्य में कालिदास की रचनाओं का बहुत-कुछ अनुकरण है जिससे भारवि का कालिदास के बाद में होना सूचित होता है। माघ (७०० ई०) पर भारवि का प्रभाव स्पष्ट है। बाण (६२० ई०) अपने 'हर्ष-चरित' में भारवि का उल्लेख नहीं करते। अतः अनुमान होता है कि उनके समय में भारवि की विशेष प्रसिद्ध नहीं हुई थी। ऐहोल के ६३४ ई० के शिलालेख में चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय की प्रशस्ति है। इसमें भारवि के नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

इस उल्लेख से पता चलता है कि भारवि का स्थितिकाल ६३४ ई० से पूर्व का है तथा उस समय वे दक्षिण भारत में प्रसिद्ध हो चुके थे। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के आधार पर भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे और पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभा-पंडित थे। विष्णुवर्धन का शासनकाल ६१५ ई० के लगभग था। अतः भारवि का समय ६०० ई० के आस पास का होना चाहिये।

भारवि की कीर्ति उनके सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय पर अवलंबित है। इनका यही एक मात्र ग्रंथ है। महाकाव्य में आलंकारिकों ने जिन जिन वस्तुओं के वर्णन को आवश्यक माना है उन सबका वर्णन इसमें है। किरातार्जुनीय का कथानक महाभारत

के वनपर्व से लिया गया है। द्यूतक्रीड़ा में हार कर पाण्डव द्वैतवन में रहने लगे। उनका एक गुप्तचर आकर दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन का वर्णन करता है। इस पर भीम और द्रौपदी युधिष्ठिर को युद्ध के लिये उत्तेजित करते हैं, परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़ कर समर छेड़ने की बात स्वीकार नहीं की। महर्षि वेदव्यास के परामर्श से अर्जुन पाशुपतास्त्र पाने के लिये इन्द्रकील पर्वत पर गये। उनकी कठोर तपस्या को सुरांगनाएं भी भंग न कर सकीं। अंत में अर्जुन ने किरातवेशधारी शिव से युद्ध करके उन्हें अपने बाहुबल और साहस से प्रसन्न किया तथा उनसे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्राप्त किया। यही इस काव्य की कथा का सार है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य ने अपने प्रशस्त गुणों के कारण संस्कृत साहित्य में विशिष्ट पद प्राप्त कर लिया है। संस्कृत महाकाव्यों की 'बृहत्त्रयी' (किरात, माघ और नैषध) में इसका प्रमुख स्थान है। समस्त संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के समान दूसरा कोई ऐसा ओजःपूर्ण तथा उग्र काव्य नहीं मिलता। इसमें १८ सर्ग हैं। बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के लक्षणानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन करके काव्य का बहुत विस्तार कर दिया है। अर्जुन की तपस्या, सुरांगना-विहार तथा किरात-अर्जुन युद्ध आदि के विशद वर्णन से उनकी अद्भुत वर्णना शक्ति सिद्ध होती है। किरात में प्रधान रस वीर है, जिसकी अभिव्यक्ति करने में कवि को अद्वितीय सफलता मिली है। शृंगार तथा अन्य रस गौण रूप से वर्णित हैं। किरात का आरंभ 'श्री' शब्द से (श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्) होता है तथा प्रत्येक सर्ग के अंतिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भारवि का काव्य अपने 'अर्थ-गौरव' के लिये—अल्प शब्दों में विपुल अर्थ के संनिवेश के लिये—प्रसिद्ध है—'भारवेरर्थगौरवम्'। कृष्णकवि ने ठीक ही कहा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना ।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥

भारवि ने अपने काव्य को रुचिर अलंकारों से विभूषित करने में बड़ी कुशलता दिखायी है। चतुर्थ सर्ग में शरद् ऋतु का जो नैसर्गिक और हृदयग्राही वर्णन है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उपमा, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग भी उचित मात्रा में किया गया है। चरित्र-चित्रण अतिशय प्रभावपूर्ण है। अपमान की ज्वाला से जलती हुई द्रौपदी, प्रचण्ड पराक्रमी भीम, शान्तिमूर्ति युधिष्ठिर, अप्रतिम वीर अर्जुन आदि सभी प्रधान पात्र बड़ी सजीवता से चित्रित किये गये हैं। व्यास, गुप्तचर तथा दूत आदि गौण पात्र भी वास्तविक प्रतीत होते हैं। भारवि की काव्यशैली के कुछ नमूने देखिए—

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥४।३६

शरद् का सुहावना समय है। 'शिरीष पुष्प की भांति कोमल हरे शुकों की पंक्ति मूंगे के टुकड़े के समान लाल चोंचों में धान की पीली बालियों को लेकर आकाश में उड़ रही है। शुकों का हरा शरीर, उनकी लाल चोंचें, उन चोंचों में पीली बालियां—इन रंगों की मिलावट से प्रतीत होता है कि आकाश में इन्द्रधनुष उगा हो।' कैसी नयी एवं स्वाभाविक कल्पना है! जलक्रीड़ा करती हुई अप्सराओं का कैसा चारु चित्रण है—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥ ८।४७

'जल में अवगाहन करने से उन दिव्य ललनाओं की दीर्घ केशराशि ने अस्तव्यस्त हो जाने के कारण उनके मुख को ढक लिया। ऐसी प्रतीति होती थी कि उनके वे मुख मानों भ्रमरपंक्ति से आच्छादित

कमल हों।' भारवि ने दीर्घकाय समासों का प्रयोग नहीं किया है। दुर्योधन के प्रति लोगों की राज्यभक्ति का कैमा सुबोध वर्णन है—

> महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
> न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥१।१६

'तेजस्वी, स्वाभिमानी, ऐश्वर्यवान्, धनुर्धारी, रणशूर तथा राज्यभक्त योद्धागण अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी दुर्योधन का प्रिय कार्य करने के लिये उत्सुक हैं।'

किन्तु भारवि किसी स्थान पर अनावश्यक अलंकारप्रियता का प्रदर्शन भी कर बैठते हैं। उदाहरणार्थ, चित्र काव्य लिखने में अपना कौशल दिखाने के लिये उन्होंने एक समग्र सर्ग (पन्द्रहवां सर्ग) ही लिख डाला है। उसमें सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्यान्य चित्रकाव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक ही अक्षर-वाला भी एक श्लोक लिखा है जिसमें एकमात्र 'न' अक्षर का ही प्रयोग हुआ है—

> न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
> नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥ १५।१४

'नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जाने वाला पुरुष पुरुष नहीं और न वही पुरुष कहलाने योग्य है जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँची है तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल मनुष्य को मार डालने वाला भी अपराधी नहीं है।' एक ही अक्षर में भारवि ने क्या ही अनूठे विचार भर दिये हैं! किन्तु साथ ही यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के चित्र काव्य के प्रयोग से उनका काव्य कठिन-सा होगया है। आरंभ के तीन सर्ग विशेष कठिन हैं, इसीलिये वे 'पाषाण-त्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतएव मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य को नारिकेल फल के समान बतलाया है जिसका बाह्य रूप रूक्ष तथा विषम है, पर अन्तर में काव्य का मधुर रस निहित है—

नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

अंतिम चार सर्गों में युद्ध-वर्णन के विस्तार के कारण कहीं कहीं पुनरुक्ति दोष भी आगया है। अप्सराओं की क्रीड़ा के वर्णन में तथा अर्जुन को मोहित करने के लिये उनके प्रयत्नों के वर्णन में भी यही दोष प्रवेश कर गया है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी भारवि की कविता में एक विचित्र चमत्कार है। उनका अर्थ-गाम्भीर्य पाठकों के हृदय को अपनी ओर बरबस खींच लेता है। संवादों की सहायता से कथानक को आगे बढ़ाने का उनका ढंग अनूठा है। किरातार्जुनीय का अधिकांश भाग रोचक संवादों से भरा पड़ा है। भारवि नीतिशास्त्र, अलंकारशास्त्र, तथा व्याकरणशास्त्र के पूर्ण पंडित थे। उनके पूरे काव्य में नीति-विषयक सूक्तियां भरी पड़ी हैं—'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः,' 'न वंचनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः,' 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः,' 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्', 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः', 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः' इत्यादि। राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन किरातार्जुनीय में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीम और युधिष्ठिर का संवाद राजनीति के गूढ़ तत्वों से भरा पड़ा है। युधिष्ठिर भीम के भाषण की प्रशंसा करते हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ २।२७

ये ही शब्द भारवि की कविता के विषय में भी अक्षरशः चरितार्थ होते हैं।

किरातार्जुनीय कहीं कहीं काव्यमय होने की अपेक्षा पांडित्यपूर्ण भले ही हो, पर हमारे लिये तो वह साहित्य-सौन्दर्य का आगार ही है तथा कालिदास और अश्वघोष के काव्यों के पश्चात् आदरणीय स्थान

पाने के सर्वथा योग्य हैं। उसमें अर्थगांभीर्य के साथ रुचिर एवं परिष्कृत पदावली का प्रयोग मणिकांचन-संयोग का आदर्श उपस्थित करता है।

भट्टि—रावण-वध अथवा भट्टिकाव्य के लेखक भट्टि के कथनानुसार इस महाकाव्य की रचना श्रीधरसेन के राज्यकाल में सौराष्ट्र की वलभी नगरी में हुई। पर शिलालेखों में इस नाम के चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०२ ई० है और अंतिम राजा का ६४१ ई० है। श्रीधरसेन द्वितीय के ६१० ई० के शिलालेख में किसी भट्टि नामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। अतएव भट्टि का समय ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सातवीं शताब्दी का आरंभ सिद्ध होता है।

भट्टिकाव्य में २२ सर्ग और १,६२४ श्लोक हैं। इसमें रामायण की कथा सरल रूप से वर्णित है। पर भट्टि का मुख्य लक्ष्य रामकथा-वर्णन के साथ व्याकरण के नियमों का उदाहरण भी उपस्थित करना था। व्याकरण जानने वालों के लिये यह ग्रंथ दीपक की तरह अन्य शब्दों को भी प्रकाशित कर देगा। पर व्याकरण न जानने वालों के लिये यह उसी तरह होगा जिस तरह अंधे के हाथ में दर्पण—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥ २२।३३

भट्टि अपने समय के अलंकारशास्त्र से पूर्ण परिचित हैं। उनके काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का खूब प्रयोग हुआ है। एक सुन्दर यमकावली देखिए—

न गजा नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम्।
प्रमदा प्रमदामहता महतामरणं मरणं समयात् समयात्॥ १०।३

आग से जलती हुई लंका का वर्णन है। 'पर्वतों में उत्पन्न होने वाले इन प्यारे हाथियों की रक्षा कोई भी नहीं कर रहा है। ये विशालकाय

हाथी अग्नि में भस्म हो रहे हैं। पक्षियों का आनन्द-खेल अब नष्ट होगया। प्यारी वस्तुएं पीड़ित देख पड़ती हैं। स्त्रियों का मद अब नष्ट होगया है तथा वे आम (रोग) से पीड़ित हैं। बिना युद्ध के ही बड़े बड़े योद्धाओं का मरणकाल आ पहुँचा है।' पद्य का चमत्कार दर्शनीय है।

कुछ आलोचकों ने भट्टिकाव्य पर कृत्रिमता और आडंबर की अधिकता का दोषारोपण किया है। पर उनके काव्य के विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि उसमें वास्तविक काव्य के गुणों की कमी नहीं। पहले तो उन्हें व्याकरण के जटिल से जटिल नियमों के उदाहरण उपस्थित करने थे और दूसरे अपने काव्य के सर्वजनविदित कथानक में मौलिकता का संनिवेश करना था। इसमें संदेह नहीं कि इन उभय उद्देश्यों का एक साथ निर्वाह करना किसी भी कवि के लिये नितान्त कठिन कार्य है। इस कठिनाई के रहते हुए भी भट्टि ने २१ सर्गों का जो विपुलकाय महाकाव्य प्रस्तुत किया है उसमें रोचकता, मधुरता और काव्योचित सरसता का अभाव नहीं है। उनके प्रभावशाली संवाद, प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम चित्रण, प्रौढ़ व्यंजनाप्रणाली तथा वस्तु-वर्णन उत्कृष्ट कोटि के हैं। उनके वस्तुविन्यास में प्रबंधात्मक प्रौढ़ता की न्यूनता होते हुए भी उनकी भाषा में प्रसाद और प्रांजलता है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥२।१९

'इस सुहावनी शरद् ऋतु में ऐसा कोई सरोवर नहीं है, जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भ्रमर न बैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं जो गूंज न रहा हो और ऐसी कोई गुंजार भी नहीं है जो मन को न हर लेती हो।' एकावली अलंकार का कैसा सुन्दर उदाहरण है!

निपातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः ।
उपारुरोदेव नदत्पतंगः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ ॥ २।४

'चन्द्रमा के अस्त हो जाने से कुमुदिनी संकुचित हो गयी है। उसकी दुःखद अवस्था अचेतन या जड़ वृक्ष को भी रुला रही है। वृक्ष की आंखें उसकी कोमल पत्तियां हैं। उनके ऊपर पड़ी हुई ओस की बूँदें आंसुओं की तरह मालूम होती हैं। चहकती हुई चिड़ियों की आवाज मानों वृक्ष के रोने का स्वर है। इस प्रकार यह तीरस्थ वृक्ष पक्षियों के शब्द के व्याज से करुण क्रन्दन कर रहा है।'

कुमारदास—कुमारदास-रचित जानकी-हरण भी संस्कृत का एक अनतिप्रसिद्ध महाकाव्य है। सिंहल की जनश्रुति के अनुसार कुमारदास ५१७-५२६ ई० तक वहां के राजा थे। इतना तो निश्चित है कि कुमारदास-कृत जानकी-हरण पर कालिदास की कृतियों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। जानकी-हरण में कई स्थलों पर कालिदास के रघुवंश की स्पष्ट छाप देख पड़ती है। एक ओर तो कुमारदास पाणिनीय व्याकरण की प्रसिद्ध टीका काशिकावृत्ति (६५० ई०) से अपना परिचय प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वामन (८०० ई०) ने अपने ग्रंथ में इनके जानकी-हरण से उद्धरण दिये हैं। अतः उनका स्थितिकाल ६५० ई० से ७५० ई० के बीच में माना जा सकता है।

जानकी-हरण के २५ सर्गों में से केवल १५ सर्ग उपलब्ध हैं। इसमें चिरपरिचित रामायण की कथा वर्णित है। फिर भी कुमारदास ने इस पुरानी कथा को नवीन कलेवर प्रदान करने का प्रयास किया है। मौलिकता अधिक न रहते हुए भी उनकी वर्णनशैली सुन्दर है। कालिदास की भांति वे वैदर्भी रीति का अनुसरण करते हैं। अनुप्रास कवि का प्रिय अलंकार है। प्रसाद और सुकुमारता कुमारदास की कृति के विशेष गुण हैं। शब्दसौष्ठव तथा छन्दों के नादसौन्दर्य के कारण इनकी कविता में अपूर्व माधुर्य का संचार हुआ है। उदाहरण

के लिये उनके दो पद्य नीचे दिये जाते हैं। प्रेम की शिथिलता का वर्णन देखिए—

तस्य हस्तमबला व्यपोहितुं मेखलागुणसमीपसंगिनम्।
मन्दशक्तिररतिं न्यवेदयल्लोलनेत्रगलितेन वारिणा॥

प्रेम और प्रकृति किस प्रकार घुले-मिले चित्रित किये गये हैं—

प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण॥

राजशेखर ने (९०० ई०) कुमारदास की प्रशंसा इस प्रकार की है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

'रघुवंश के मौजूद रहते भी जानकी-हरण करने की क्षमता या तो रावण में थी या कवि कुमारदास में।'

माघ—सुप्रसिद्ध महाकाव्य शिशुपालवध के रचयिता माघ अपने विषय में केवल यही कहते हैं कि उनके पिता दत्तक सर्वाश्रय थे और उनके पितामह सुप्रभदेव वर्मलात नामक राजा के मंत्री थे। माघ के समय-निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई उन्हें सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानता है तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य में। नीचे दिये प्रमाणों के अनुसार पहला समय अधिक संभव जान पड़ता है।

माघ के समय की नीचे की सीमा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर निर्धारित होती है। सोमदेव अपने 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०) में माघ का उल्लेख करते हैं। श्री आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने अपने 'ध्वन्यालोक' में शिशुपालवध के दो श्लोकों (३।५३, ५।२६) को उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। इससे पहले, राष्ट्रकूटों के राजा नृपतुंग (८१४ ई०) ने अपने कन्नड़ी भाषा के ग्रंथ 'कविराजमार्ग' में माघ को कालिदास का समकक्ष स्वीकार किया है। इससे

यह स्पष्ट है कि नृपतुंग के समय में, अर्थात् नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, माघ ने साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया था। अतएव यह निश्चित है कि माघ का आविर्भावकाल ८०० ई० के बाद का नहीं हो सकता।

६२५ ई० के एक शिलालेख के आधार पर माघ का समय लगभग १०० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। यह शिलालेख वर्मलात राजा का है, जो माघ के पितामह सुप्रभदेव के आश्रयदाता थे। इसलिये सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास का था और उनके पौत्र माघ का समय ६५०—७०० ई० तक रहा होगा।

माघ का समय निर्धारित करने के लिये एक महत्त्वपूर्ण अंतरंग प्रमाण मिलता है। वह शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग का नीचे लिखा श्लोक है जिसमें श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्दविद्या (व्याकरणशास्त्र) से की गयी है—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ २।११२

इस श्लोक में 'काशिकावृत्ति' और 'न्यास' नामक दो व्याकरण ग्रंथों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। मल्लिनाथ और वल्लभदेव दोनों टीकाकारों ने इस संकेत का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। 'काशिकावृत्ति' की रचना वामन और जयादित्य ने ६५० ई० में की थी। अतः यह निश्चित है कि माघ इस समय के बाद ही हुए होंगे। किन्तु उक्त श्लोक में 'न्यास' शब्द से किस ग्रंथ-विशेष की ओर संकेत है इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। पाठक[1] महोदय का कहना है कि उक्त 'न्यास' से अभिप्राय 'काशिकावृत्ति' की जिनेन्द्रबुद्धि-रचित 'न्यास' नामक टीका से है जिसकी रचना लगभग ७०० ई० में हुई। उनके मतानुसार माघ का समय इस आधार पर ७५० ई० के आस-

१—Ind. Ant 1912, p. 235 and JBBRAS Vol. 23 p. 18

पास सिद्ध होता है। पर यह कहना उचित नहीं है कि माघ उक्त श्लोक में जिनेन्द्रबुद्धि के ही 'न्यास' ग्रंथ की ओर संकेत कर रहे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि के पहले भी 'न्यास' नामक ग्रंथ की रचना हो चुकी थी। काणे[१] महोदय ने दिखाया है कि बाण (६२० ई०) ने अपने 'हर्षचरित' में 'न्यास' का उल्लेख किया है (कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि)। संभव है कि बाण के समान माघ ने भी इसी 'न्यास' की ओर संकेत किया हो, न कि जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' की ओर। अतः माघ का समय जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०) के पीछे नहीं माना जा सकता और वे सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हुए होंगे।

माघ के महाकाव्य की गणना 'बृहत्त्रयी' में होती है। शिशुपाल-वध को छोड़ कर माघ की किसी अन्य रचना का अभी तक पता नहीं लगा है। सूक्ति-संग्रहों में अवश्य कई एक ऐसे पद्य[२] माघ के नाम से दिये गये हैं जो शिशुपालवध में नहीं मिलते। संभव है कि माघ की और भी कोई रचना रही हो जो अब उपलब्ध नहीं होती।

माघ का आदर्श भारवि-कृत किरातार्जुनीय था, यह बात दोनों ग्रंथों की तुलना करने से स्पष्ट विदित होती है:—(१) दोनों महाकाव्यों की मुख्य कथा महाभारत से ली गयी है। (२) दोनों ग्रंथों का आरंभ 'श्री' शब्द से होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्' है, तो माघ के प्रारंभ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। (३) दोनों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है, किरात में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के पास, माघ में नारद के द्वारा श्रीकृष्ण के समीप। (४) किरात के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर, भीम और द्रौपदी के बीच राजनीतिविषयक संवाद होता है तो शिशु-

---

१—*History of Alankara Literature p. 36.*

२—बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः॥
(औचित्यविचारचर्चा)

पालवध के द्वितीय सर्ग में बलराम, श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच इसी विषय पर परामर्श होता है। (५) किरात में महर्षि वेदव्यास पाण्डवों को मार्ग सुझाते हैं तो माघ में देवर्षि नारद ऐसा ही उपदेश करते हैं। (६) किरात में अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये जाते हैं तो माघ में श्रीकृष्ण रैवतक पर्वत के समीप ठहरते है। (७) किरात में यदि हिमालय का यमकालंकारों के द्वारा वर्णन हुआ है तो माघ में इसी प्रकार रैवतक का वर्णन है। (८) दोनों में अप्सराओं के विहार का चारु चित्रण है। (९) किरात में किरातवेषधारी शिव, अर्जुन का अपमान करने के लिये दूत भेजते हैं तो माघ में शिशुपाल, श्रीकृष्ण का अनादर करने के लिये दूत भेजता है। (१०) किरात के १३ वें तथा १४ वें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में वाद-विवाद हुआ है तो माघ के १६ वें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि में हुआ है। (११) किरात के १५ वें और माघ के ११ वें सर्ग में चित्र-बन्धों द्वारा युद्ध-वर्णन है। (१२) दोनों में संध्याकाल, रात्रि, चन्द्रोदय, ऋतुओं एवं यात्रा का यथास्थान वर्णन हुआ है (१३) भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है तो माघ ने भी इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है। (१४) दोनों के वर्णन-क्रम में भी समानता है। (१५) दोनों काव्यों में द्वन्द्वयुद्ध के पूर्व विपक्षियों की सेनाओं में संघर्ष होता है।

शिशुपालवध के २० सर्गों में वर्णित कथा का सार इस प्रकार है। देवर्षि नारद इन्द्र की ओर से श्रीकृष्ण को देवताओं के विरोधी शिशुपाल का नाश करने के लिये प्रेरित करते हैं। बलराम तुरंत युद्ध छेड़ने का परामर्श देते हैं और उद्धव युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जाने का। श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ के लिये प्रस्थान करते हैं। मार्ग में उनका सारथि दारुक रैवतक पर्वत का वर्णन करता है। रात्रि

होजाने पर सेना पड़ाव डाल देती है। यादव लोग अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा और वनविहार में मग्न हो जाते हैं। सूर्योदय होने पर सेना-सहित यमुना पार करके श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचते हैं। युधिष्ठिर उनकी अग्रिम पूजा करके उन्हें सम्मानित करते हैं। शिशुपाल इसका विरोध करता है और लड़ाई के लिये सेना तैयार करता है। अपने दूत द्वारा दर्पपूर्ण सन्देश भेज कर शिशुपाल युद्ध को अवश्यंभावी बना देता है। दोनों सेनाओं में युद्ध होता है। अंत में श्रीकृष्ण सुदर्शनचक्र से शिशुपाल का सिर काट डालते हैं और उसका तेज उनमें लीन हो जाता है।

माघ वास्तव में उच्च कोटि के कवि हैं। उनका सारा काव्य प्रौढ़ एवं उदात्तशैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलंकारों से विभूषित भाषा में प्रकट किया गया है। इस कारण सम्पूर्ण काव्य आदि से अंत तक अत्यंत प्रभावोत्पादक होगया है। शैली की असाधारणता सर्वत्र झलकती है। प्रत्येक सर्ग में ओजोगुणमयी कविता का विकास दिखायी पड़ता है। प्रायः प्रत्येक सर्ग में कुछ ऐसे पद्य हैं जो वर्णनसौन्दर्य, भाव सौष्ठव अथवा विचारगांभीर्य की दृष्टि से अद्वितीय कहे जा सकते हैं।

माघकाव्य के वर्णन बड़े सजीव एवं सालंकार हैं। माघ की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति अद्भुत एवं प्रभावपूर्ण है। उनके प्रकृति के शब्दचित्र बड़े ही मनोरम हैं। रैवतक पर्वत को क्या ही विशाल हाथी का रूप दिया गया है—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥ ४।२०

रैवतक पर्वत की प्रातःकालीन सुषमा का वर्णन है। 'ऊपर फैली हुई रज्जुरूपी किरणों से युक्त सूर्य एक ओर उदय हो रहा है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है। जान पड़ता है कि यह रैवतक उस गजेन्द्र की शोभा धारण कर रहा है जिसके दोनों ओर दो उज्ज्वल

घंटे लटक रहे हों।' इसी कल्पना के कारण माघ को 'घंटामाघ' कहा गया है। एक और कल्पना की बहार देखिए—

उदयशिखरिश्रृंगप्राङ्गणेष्वेव रिंगन् सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥११।४७

'जैसे कोई बालक आंगन में खेल रहा है; स्नेहशीला मा उसे पुकार रही है, और वह हंसते हुए अपने कोमल हाथ फैला कर उसकी गोद में जा गिरता है; उसी प्रकार यह बालसूर्य उदयाचल के शिखररूपी आंगन में थिरकता हुआ, खिले कमलमुखों से हंसती हुई पद्मिनियों के देखते देखते अपने कोमल करों (किरणों) को फैला कर, पक्षियों के कलरव के व्याज से पुकारती हुई अपनी आकाशरूपी माता की गोद में लीलापूर्वक उचक रहा है।'

माघ के संवाद बड़े ही सरल एवं ओजःपूर्ण होते हैं। किस कटुता तथा ओजस्विता के साथ शिशुपाल, श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम सम्मानित करने के कारण, युधिष्ठिर से अपना विरोध प्रदर्शित कर रहा है—

अनृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यते।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतः तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता ॥ १५।१६

'डंके की चोट से संसार में घोषणा की जाती है कि तुम असत्य-भाषण नहीं करते, पर इस निन्दनीय कृष्ण की पूजा कर तुम अपने असत्याचरण का खुला विज्ञापन कर रहे हो।'

माघ की कविता की सरसता, अलंकारों की नवीनता, श्लेष की उपयुक्तता तथा चित्रालंकारों की विचित्रता दर्शनीय है। माघ ने अपने काव्य में स्थान स्थान पर मुग्धकारिणी स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि का समुचित सन्निवेश किया है। रैवतक पर्वत के वर्णन में कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा व्यवहृत हुई है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।

अनुरोदितीव करुणेन पत्त्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥ ४।४७

कन्या की विदाई का करुण दृश्य है। 'रैवतक पर्वत की कन्याएं (नदियां) जो अपने पिता की गोद में निःशंक भाव से लोटती थीं, आज पति-समागम (सागर-मिलन) के लिये जा रही हैं। पिता का स्नेहमय हृदय कन्याओं का वियोग देखकर पक्षियों के कलरव के रूप में क्रन्दन कर रहा है।' अनुरूप दृष्टान्त देने में भी माघ कुशल हैं—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे ।

अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥ १६।२५

'जिस समय शिशुपाल श्रीकृष्ण को गालियां सुना रहा था उस समय श्रीकृष्ण ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। सिंह मेघों का गर्जन सुनकर ही हुंकार करता है, शृगालों का रुदन सुनकर नहीं।'

माघ की उपमाएं भी रोचक हुई हैं। प्रातःकाल की चहकती चिड़ियों का कलरव घड़े को जल में डुबोने के समय होने वाले कुल-कुल शब्द के समान है। प्रभात-वेला में गृहों के दीपों की मन्द कान्तिवाली शिखा ऊंघते हुए गृहों के नेत्रों के समान है। शिशुपाल की सेना का श्रीकृष्ण की सेना से भिड़ना वैसा ही है जैसे नदियों के जल का महासागर की गगनचुम्बी ऊर्मियों से टकराना।

अनुप्रासों में माघ का पदलालित्य रमणीय है—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।

मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥६।२०

माघ के शृंगारिक पद्यों की स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है-

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।

निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥ ३।१६

'जिस जिस प्रिया को प्रियतम (श्रीकृष्ण) ने देखा उसने लज्जा से अपना मुंह नीचा कर लिया। इस पर दूसरी युवतियों ने उस प्रियतम को

ईर्ष्यावश, निर्भय होकर, एक साथ अपने नयन-बाणों से घायल कर दिया।'

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥ १३।४०

'प्रलय के समय जिस कृष्ण के उदर में सारा संसार समा गया था, उसी कृष्ण को एक उत्कंठित युवती ने अपने अधखुले नेत्र के एक कोने से ही पी लिया।'

भारतीय आलोचकों ने एक मत से माघ पर प्रभूत प्रशंसा की वृष्टि की है। उनमें कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव तथा दण्डी का पदलालित्य, इन तीनों गुणों का एकत्र सन्निवेश बताया गया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

पर यह माघ के किसी अनन्य भक्त की अत्युक्तिपूर्ण उक्ति मात्र है। पहले तो माघ में मौलिकता की ही कमी है। उनके काव्य का आदर्श किरातार्जुनीय है। भाव और भाषा दोनों में भारवि की छाया स्पष्ट देख पड़ती है। दूसरे, माघ की कविता में प्रतिभा की अपेक्षा पांडित्य का प्राधान्य है। उनकी शाब्दिक क्रीड़ा १९ वें सर्ग में पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। अधिक पांडित्यपूर्ण होने के कारण माघ की शैली अप्रसिद्ध प्रतीत होती है। उसमें श्लिष्ट शब्दों का चमत्कार अधिक है। चौदहवें सर्ग में शिशुपाल के दूत की उभयार्थक चतुर उक्ति देखिए—

अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः।
भवतोऽभिमनाः समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम् ॥ १६।२

'आपके अप्रसन्न होजाने की बात सुन कर शिशुपाल को बड़ा दुःख (क्रोध) हुआ है। वह बड़ी उत्सुकता से (निर्भयता से) आपका सम्मान करने के लिये (काम तमाम करने के लिये) आपके समक्ष

आना चाहता है।' कभी कभी माघ प्रायः अत्यंत अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते है। इसमे पाठकों को कविता का अर्थ हृदयंगम करने मे बड़ी कठिनाई होती है। कभी वे व्याकरणात्मक उपमाओं के प्रयोग में अपनी प्रवीणता दिखाने के लिये अथवा किसी विशेष शब्द या चरण के प्रयोग में अपनी निपुणता प्रकट करने के हेतु पद्यों का निर्माण करते हैं। संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं की ओर वे प्रायः संकेत करते हैं। अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों तथा कल्पनाओं की ऊंची उड़ानों से उनकी कविता भरी पड़ी है। कभी कभी प्रभाव उत्पन्न करने की भावना से शब्दों के बाह्यसौन्दर्य के फेर में पड़ कर वे अर्थ की स्पष्टता का निर्वाह नहीं कर पाते। पाठक उनके लंबे वर्णनों को पढ़ कर ऊब जाते है। उनके रूढ़िसम्मत प्रकृति-वर्णन अलंकारों से लदे होने के कारण स्वाभाविक नहीं लगते। कालिदास, बाण और भवभूति की अपेक्षा उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण निम्नकोटि का है।

सौभाग्यवश माघ के अनुपम गुणों के उज्ज्वल प्रकाश में उनके दोषान्धकार का परिहार हो जाता है। यदि उनमें भारवि की परिमितता एवं गांभीर्य नहीं है, तब भी उनकी व्यंजना-प्रणाली अनुपम और कल्पना अपरिमित है। माघ में कालिदास की सी उपमाएं भले ही न मिलें, फिर भी उनमें सुन्दर उपमाओं का अभाव नहीं है, न अर्थ-गौरव की कमी है। पदों का ललितविन्यास तो निस्सन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

माघ का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार है। नवीन शब्दावली का तो उनका काव्य आगार ही है। संस्कृत समालोचकों ने तो यहां तक कह डाला है कि प्रथम नौ सर्गों में माघ ने संस्कृत शब्दों का खजाना खाली कर दिया है—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'।

शब्द-भण्डार ही नहीं, उनका ज्ञान-भण्डार भी विचक्षण है। उनमें सर्वशास्त्रों का परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है। दर्शनों का भी उन्हें विशिष्ट ज्ञान है। सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों का कई जगह वर्णन मिलता है[1]। बौद्धदर्शन से भी वे भलीभांति परिचित थे[2]। नाट्यशास्त्र[3], व्याकरण[4], संगीतशास्त्र[5], अलंकार-शास्त्र[6], राजनीति[7], सभी के वे पंडित थे।

आश्चर्य नहीं यदि पुराने आलोचक माघ के पांडित्य एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर भावातिरेक में उनकी इस प्रकार प्रशंसा करें—

कृत्स्नप्रबोधकृद्वाणी भारवेरिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते॥ (राजशेखर)

'जहां भारवि की कविता सूर्य-किरणों की भांति समग्र ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है, वहां माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर किस कवि को कंपकंपी नहीं बंध जाती?' धनपाल ने भी इसी कथन का समर्थन किया है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा॥

'जिस प्रकार माघ के ठिठुरते जाड़े में बन्दर सूर्य का स्मरण करते उछल-कूद नहीं मचाते, उसी प्रकार माघ की रचना के सामने कवियों का पद-योजना करने में उत्साह ठंडा पड़ जाता है, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण करें।'

हरिचन्द्र—<u>धर्मशर्माभ्युदय</u> नामक २१ सर्ग का जैन महाकाव्य निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र का समय निश्चितरूप से नहीं बताया जा सकता। यदि ये

१—१।२३, ४।४५, १४।१६. २—२।२८.
३—पूर्वरंगः प्रसंगाय नाटकीयस्य वस्तुनः। ४—१६।७५.
५—११।१. ६—२।८६,८७. ७—२।११२.

वही हरिचन्द्र हैं जिनका बाण ने 'हर्षचरित' में 'भट्टार हरिचन्द्र' कह कर उल्लेख किया है तो उनका स्थितिकाल ईसा की पांचवीं या छठी शताब्दी प्रतीत होता है। किन्तु हरिचन्द्र के नाम से 'जीवनधरचम्पू' नामक ९०० ई० का ग्रंथ भी मिलता है। एक और 'वैद्य हरिचन्द्र' भी मिलते हैं, जो साहसांक नामक राजा के प्रधान वैद्य थे तथा जिन्होंने चरकसंहिता पर टीका लिखी है। धर्मशर्माभ्युदय की अलंकृत काव्य-शैली से इसके रचयिता हरिचन्द्र, भारवि या माघ के समय के मालूम पड़ते हैं; क्योंकि इनकी तरह उन्होंने भी अपने काव्य (१९ वें सर्ग) में चित्रालंकारों[1] की भरमार की है। सुभाषितसंग्रहों में हरिचन्द्र उद्धृत किये गये हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में उन्हें महाकवियों की श्रेणी में रखा गया है—

> सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
>
> धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
>
> विशुद्धोक्तिः सूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः
>
> तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

धर्मशर्माभ्युदय में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की, जन्म से निर्वाण पर्यंत, कथा का वर्णन है। कविता की मधुरिमा एवं प्रसाद दर्शनीय है, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है—

> सकर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः।
>
> श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं विधत्ते॥

रत्नाकर—संस्कृत महाकाव्यों में सबसे अधिक बृहत्काय महाकाव्य रत्नाकर-विरचित हरविजय है। किन्तु इसकी प्रसिद्धि या पठन-पाठन अधिक नहीं है। रत्नाकर काश्मीरी कवि थे। इनके पिता का नाम अमृतभानु था। रत्नाकर काश्मीर-नरेश चिप्पटजयापीड़

१—रैरोऽरीरारररोरारुरूरं रेरिराररुरः।
ररररूररिरौरे रररारीरि रं ररः॥ १९।३२ (चतुरक्षरः)

(७७९—८१३ ई०) के आश्रित कवि थे। जयापीड़ अद्भुत मेधावी होने के कारण 'बालबृहस्पति' कहलाते थे। परन्तु कल्हण की 'राजतरंगिणी' से विदित होता है कि रत्नाकर ने राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५५–८८४ ई०) में प्रसिद्धि पायी थी—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ ५।३४

यदि रत्नाकर, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, बालबृहस्पति के आश्रित थे, तो वे अवन्तिवर्मा के शासनकाल में काफी वृद्ध होगये होंगे। संभव है कि रत्नाकर के गुणों को पहले जयापीड़ ने आंका हो, किन्तु उनकी ख्याति अवन्तिवर्मा के समय में जाकर हुई हो। हरविजय के अतिरिक्त रत्नाकर ने वक्रोक्तिपंचाशिका और ध्वनिगाथापंजिका नामक दो ग्रंथ और लिखे हैं।

हरविजय में ५० सर्ग और ४,३२० श्लोक हैं। इसमें शिव द्वारा अन्धकासुर-वध की कथा वर्णित है। पार्वती ने शिव के नेत्रों को लीलावश अपने हाथों से ढक लिया, इसलिये शिव से उत्पन्न अन्धक दृष्टिहीन हुआ। किन्तु तपस्या करके उसने शिव से दृष्टि पायी और तीनों लोकों का स्वामी बन बैठा। अंत में शिव को उसे मार डालना पड़ा। कथानक छोटा होते हुए भी कवि ने वर्णन का अत्यधिक विस्तार करके ग्रंथ को विपुलकाय कर दिया है। अन्धकासुर का नाश करने के लिये शिव के सचिवों में परामर्श ११ सर्गों में जाकर समाप्त होता है। १३ सर्गों में शिवगणों के विहार का वर्णन है। ७ सर्गों में शिव के दूत और अन्धकासुर में संवाद ही होता रहता है। शिव-सेना की युद्ध के लिये तैयारी का ही वर्णन ४ सर्गों में हुआ है। रत्नाकर ने बाण का अनुकरण करने का दावा किया है। माघकाव्य का भी प्रभाव हरविजय पर स्पष्ट देख पड़ता है।

राजशेखर (९०० ई०) ने रत्नाकर की कविता की प्रशंसा इस प्रकार की है—

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे ।
इतीव सत्कृतो धात्रा कविरत्नाकरोऽपरः ॥

'ब्रह्मा ने चार रत्नाकरों (समुद्रों) को पर्याप्त न समझ कर इस पांचवें रत्नाकर (कवि) की सृष्टि की।' हरविजय के अध्ययन से पता चलता है कि वह केवल रूढ़ि के अनुसार लिखा गया एक विशालकाय महाकाव्य है। उसमें रचयिता की काव्य-प्रतिभा उतनी नहीं लक्षित होती जितनी उनकी विद्वत्ता और भक्ति। शैली में यद्यपि उदात्तता है, तथापि ओज और प्रभविष्णुता की कमी है। वर्णनात्मक प्रसंगों में कविता का प्रवाह शिथिल होगया है। हरविजय काव्य से यहां एक उदाहरण दिया जाता है। समरभूमि में हाथी का वर्णन है--

युधि धावतः प्रतिगजाभिमुखं पुनरप्यधाद्गजपतेः सरुषः ।
दलिताश्रयः सपदि केतुपटः पतितो मुखे पृथुमुखच्छदताम् ॥४२।११

'एक भीमकाय हाथी कुपित होकर शत्रु-पक्ष के हाथी का सामना करने के लिये वेग से दौड़ा। शत्रु-पक्ष के हाथी की टूटी हुई ध्वजा का वस्त्र गिर पड़ा जिससे जान पड़ने लगा कि मानों उसने लज्जित होकर एक बड़े पर्दे से अपना मुंह ढक लिया हो।'

कविराज--राघवपाण्डवीय महाकाव्य के कर्ता कविराज का स्थितिकाल १२ वीं शताब्दी था। वे जयन्तपुरी के कदम्ब राजा कामदेव (११८२--९७) के सभा-पंडित थे। उनका नाम माधवभट्ट था और कविराज, सूरि, पंडित आदि उनकी उपाधियां थीं। राघवपाण्डवीय एक अद्भुत महाकाव्य है। इसके प्रत्येक श्लोक में श्लेष द्वारा रामायण और महाभारत की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है। उदाहरणस्वरूप नीचे लिखे पद्य का अवलोकन कीजिए--

नृपेण कन्यां जनकेन दित्सितामयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे ।
द्विजप्रकर्षेण स धर्मनन्दनः सहानुजन्मा भुवमप्यनीयत ॥

रामायण के अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार होगा--'(राम), जिन्होंने धर्म को आनन्दित किया था, अपने भाइयों के साथ ऋषिश्रेष्ठ

(विश्वामित्र) द्वारा स्वयंवर-स्थान (मिथिला) को ले जाये गये जिससे वे राजा जनक की विवाह-योग्य अयोनिजा कन्या (सीता) को प्राप्त कर सकें।' महाभारत के अनुसार इसका अर्थ यों करना होगा—'धर्म के पुत्र (युधिष्ठिर) अपने भाइयों के साथ मुनिश्रेष्ठ (वेदव्यास) की आज्ञा से स्वयंवर-स्थान (पांचाल) को गये जिससे कि वे राजा-पिता (द्रुपद) की विवाह-योग्य अयोनिजा कन्या (द्रौपदी) को प्राप्त कर सकें।'

राघवपाण्डवीय का कई कवियों ने अनुकरण किया। हरदत्त-सूरि के राघवनैपधीय में नल और राम की और चिदम्बरकृत राघवपाण्डवीययादवीय में रामायण, महाभारत तथा भागवत की कथा एक साथ वर्णित है। विद्यामाधवरचित पार्वती-रुक्मिणीय में शिव-पार्वती तथा कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का एक साथ वर्णन किया गया है। सबसे अधिक कुतूहलोत्पादक तो वेंकटाध्वरि का ३० श्लोकों का यादवराघवीय है जिसमें सीधे पढ़ने से राम की तथा उलटे पढ़ने से कृष्ण की कथा का वर्णन है। इस प्रकार का शाब्दिक कौतूहल संस्कृत के अतिरिक्त संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं पाया जाता।

श्रीहर्ष—श्रीहर्ष संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध महाकाव्य नैपधीयचरित के रचयिता थे। ये श्रीहर्ष उन सम्राट् हर्ष (वर्धन) से सर्वथा भिन्न हैं जो 'रत्नावली' 'नागानन्द', 'प्रियदर्शिका' नाटिका के रचयिता थे। सौभाग्य-वश इन्होंने अपने जीवनवृत्त पर कुछ प्रकाश डाला है। प्रत्येक सर्ग के अंत में उन्होंने अपने माता-पिता का तथा कभी-कभी अपने अन्य ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनके पिता का नाम श्रीहीर और माता का मामल्लदेवी था[1]। श्रीहर्ष कन्नौज के राजा जयचन्द्र राठौर की सभा में रहते थे। वहां उनका बड़ा सम्मान था। 'कान्यकुब्जेश्वर'

१—श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

महाराज जयचन्द्र उन्हें स्वयं आसन तथा पान के दो बीड़े दिया करते थे—'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'। जयचन्द्र का राज्यकाल ११६९–११९५ ई० था, अतः श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे। श्रीहर्ष ने कई ग्रंथों की रचना की। उनकी अन्य रचनाओं के नाम ये हैं—'खण्डनखण्डखाद्य,' 'स्थैर्यविचारण,' 'श्रीविजयप्रशस्ति' 'छिन्दप्रशस्ति,' 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति,' 'नवसाहसांकचम्पू,' 'अर्णववर्णन,' 'शिवशक्ति (भक्ति) सिद्धि'। श्रीहर्ष अपने समय के अद्भुत पंडित थे और उनकी कीर्ति का प्रसार उस समय के संस्कृतशिक्षा के केन्द्र काश्मीर में भी हुआ—'काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विद्भिर्महाकाव्ये'।

नैषध में २२ सर्गों में नल-दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा बड़ी उत्तम रीति से वर्णित है। उनकी प्रथम मिलन-रात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रंथ समाप्त होता है। कालिदास आदि की भांति श्रीहर्ष ने भी अपनी कविता का कथानक पौराणिक स्रोत से ही लिया है और उस पर अपनी प्रखर प्रतिभा की छाप बैठा दी है। नैषध में वास्तविक काव्यसौन्दर्य तथा शोभातिशायक अलंकारों का मणि-कांचन संयोग है। श्रीहर्ष की कविता संस्कृत साहित्य की अनुपम वस्तु है। शब्दों के सुन्दर विन्यास में, भावों के समुचित निर्वाह में, कल्पना की ऊंची उड़ान में तथा प्रकृति के सजीव चित्रण में यह महाकाव्य काव्य-जगत् में अपना सानी नहीं रखता। उनकी स्वभावमधुर कविता किस सहृदय के मन को हर नहीं लेती? शब्द और अर्थ की नवीनता उसे सचमुच 'एकार्थमत्यजतो नवार्थघटनाम्' बना देती है। नैषध में एक ही विषय पर कई श्लोकों में वर्णन मिलेगा, पर सर्वत्र नवीन शब्दावली एवं अभिनव पदशय्या उपलब्ध होती है। शब्द और अर्थ का मनोहर सामंजस्य नैषध में है। श्रीहर्ष की अलोकसामान्य प्रतिभा से जाज्वल्यमान नैषध-रूपी हीरक के सामने

किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध आदि काव्यों की आभा फीकी पड़ जाती है—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व न भारविः'।

श्रीहर्ष ने अपनी भारती को अलंकारों द्वारा इस प्रकार विभूषित किया है कि उसकी भव्यमूर्ति देखते ही बनती है। अतिशयोक्ति की मनोहर उद्भावना में, उपमा, रूपक, यमक, अनुप्रास, विरोधाभास, श्लेष के समुचित प्रयोग में श्रीहर्ष अद्वितीय हैं। यमक की छटा द्वारा कन्दर्प की कैसी स्तुति की गयी है—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार शृंगारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥११।२५

'जिसने शृंगारिक भावों से ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भी शान्तभाव को जर्जर कर दिया है और अपने पांचों बाणों से जिसने संसारी जीवों की पांचों इन्द्रियों को क्षुब्ध किया है, वे पंचसायक कामदेव आपको प्रमुदित करें।' एक उत्प्रेक्षा का भी अवलोकन कीजिए—

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥३।३३

दमयन्ती से नल की प्रशंसा करते हुए हंस कहता है कि 'जब चन्द्रमा ने अपने मुख को जीतनेवाले नल के मुख का वर्णन मुझसे सुना तो वह अत्यंत लज्जित होकर कभी सूर्यमंडल में प्रवेश कर जाता है, कभी समुद्र में कूद पड़ता है और कभी मेघमाला के पीछे छिप जाता है!'

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को 'शृंगारामृतशीतगुः'—शृंगाररूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है। रमणीरूप के वर्णन में, शृंगार रस की मधुर व्यंजना में कवि ने विलक्षण सहृदयता का परिचय दिया है। दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य का क्या ही अनूठा चित्रण है—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥२।२५

'जान पड़ता है, दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड़ कर उसका सार भाग खींच लिया है। इसी

कारण बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखायी पड़ती है।[१]' दमयन्ती के उरोजों के ऊपर क्या ही अच्छी कल्पना है—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतो गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।

स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥२।३१

'दमयन्ती का शरीर कान्ति के झरनों से अथाह हो गया है, अतः उसमें चलने वालों को डूबने का भय सदा बना रहता है। पर दमयन्ती के अंग-प्रत्यंग में काम और यौवन का संचार है। वे दोनों अपने को डूबने से कैसे बचावें? डूबते को तिनके का भी सहारा काफी है; इनको भी तैरने के लिये दो घड़े मिल गये हैं—ये ही दमयन्ती के दोनों उरोज हैं। इन्हीं के सहारे काम तथा यौवन उसके शरीर रूपी सरोवर में स्वच्छन्द सन्तरण कर रहे हैं।'

दमयन्ती नल को वरण करने की इच्छा को कैसे चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त करती है—

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।

का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥ ३।५९

'जिस मनोरथ को मन नहीं छोड़ता, जिसे मैंने हृदय में धारण कर रखा है, वह मनोरथ मेरे कंठपथ में कैसे आ सकता है? मन की बात वाणी से कैसे कही जाय? हे हंस! कौन कुलांगना राजा (नल) से पाणिग्रहण होने की अभिलाषा स्वयं अपने मुख से व्यक्त करने की धृष्टता कर सकती है? (या, कौन विवेकवती बाला चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा कर सकती है?)' नल के विरह से व्याकुल दमयन्ती की मनोदशा का वर्णन कर विप्रलंभ शृंगार

१—इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

कोउ कह जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा ॥

छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परछांहीं ॥

रामचरित-मानस, लंका काण्ड।

का सुन्दर वर्णन किया गया है। अग्नि से उत्पन्न हुई दाहव्यथा कोई व्यथा नहीं। वियोगाग्नि से उत्पन्न हुई व्यथा ही उत्कट व्यथा है। नहीं तो स्त्रियां मृत पति के साथ प्रत्यक्ष अग्नि में क्यों भस्म हो जातीं (४।४६)? चन्द्रमा विरहिणी स्त्रियों का निर्दय घातक ही है—

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते।
शितिनिशादृषदि स्फुटमुत्पतत् कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥४।४९

'इस चन्द्रमा ने अनेक निरपराध विरहिणी स्त्रियों को मार कर पाप कमाया है। इसी से यह घुमा कर रात्रिरूपी चट्टान पर आकाश से पटका जाता है। पटके जाने पर खंड-खंड हो जाने से इसके जो कण चारों ओर बिखर गये, वे ही मानों आकाश में तारों के रूप में चमक रहे हैं।'

नैषध में कहीं कहीं विस्तार की अधिकता पायी जाती है। तभी तो जो कथा महाभारत के 'नलोपाख्यान' के कुछ अध्यायों में ही समाप्त हो जाती है, वही नैषध में २२ लंबे-लंबे सर्गों में अति विस्तीर्ण कर दी गयी है। समालोचकों का यह कहना बहुत कुछ ठीक है कि कालिदास के पीछे के बने काव्यों में कृत्रिमता का समावेश हुआ है। उनमें मुख्य विषयों की ओर कम, परन्तु आनुषंगिक विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। द्वितीय सर्ग में हंस के मुख से श्रीहर्ष दमयन्ती का वर्णन कर चुके हैं, फिर भी पूरा सातवां सर्ग दमयन्ती के नख-शिख वर्णन से ही भरा है। यही नहीं, दसवें सर्ग में भी स्वयंवर के समय इस वर्णन का पिष्टपेषण हुआ है। महाभारत में नल-दमयन्ती के प्रेम का पवित्र एवं सात्त्विक रूप दर्शित है, पर श्रीहर्ष ने उसे विलास और वासना के रंग में रंग कर चित्रित किया है। साथ ही, महाभारत में नल के निर्वासित जीवन की जिन कारुणिक एवं मार्मिक दशाओं का चित्रण हुआ है, नैषध में उनका उल्लेख तक नहीं किया गया। नैषध की विलास-वाटिका में मानो जीवन के जटिल वट-वृक्षों को कोई स्थान ही नहीं था।

किंवदन्ती है कि 'काव्यप्रकाश' के कर्त्ता मम्मट ने नैषध की यह आलोचना की थी कि काव्यप्रकाश के सप्तम (दोष) उल्लास को लिखने के पहले ही यदि यह ग्रंथ उन्हें मिल गया होता तो काव्य दोषों के उदाहरण ढूंढ़ने में उन्हें इतना प्रयास न करना पड़ता, क्योंकि काव्य के सारे दोषों के उदाहरण उन्हें इसी में एकत्र मिल गये होते। इस आलोचना में अवश्य ही अत्युक्ति है, किन्तु यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि नैषध आदर्श महाकाव्य नहीं माना जा सकता। कारण यह यह है कि उसका कथानक मानवजीवन की समग्रता का अंकन नहीं करता, केवल शृंगार का एकदेशीय चित्र उपस्थित करता है। चरित्र-चित्रण में तथा कथानक की कलात्मक सृष्टि में श्रीहर्ष निपुण नहीं कहे जा सकते। मौलिक भावों के अभाव में, एक ही भाव दो पद्यों में भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, नैषध के प्रथम दो श्लोकों को ही लीजिए। पहले श्लोक में जो भाव व्यक्त किया गया है, दूसरे श्लोक में उसी की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति है। आदि से अंत तक काव्य विलक्षण अत्युक्तियों और दुरूह कल्पनाओं से जटिल हो गया है। कहीं कहीं श्रीहर्ष अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाते हैं। श्लेष का प्रयोग कर वे बड़ी क्लिष्टता पैदा कर देते हैं। नैषध की पंचनली प्रसिद्ध ही है। इस वर्णन में श्रीहर्ष ने अपनी अपूर्व श्लेष-चातुरी व्यक्त की है। प्रत्येक श्लोक से दमयन्ती को पाने की इच्छा से आये हुए देवता तथा राजा नल दोनों का अर्थ निकलता है। एक नमूना देखिए—

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते ॥ १३।३४

नल के संमुख दमयन्ती खड़ी है। इस श्लोक में देवता और नल दोनों का अर्थ व्यंजित कर सरस्वती उसे मोह में डाल रही है—'हे विदुषि! यह तो देवता है, पृथ्वीपति नहीं। क्या तू इसे नरराज नहीं पहचानती

चाहती ? मैं सच कहती हूं, यह तेरा नल नहीं है, किन्तु नल की आभा मात्र है। यदि तू इसे छोड़ देगी तो फिर और कौन तेरा वर होगा ?' पर इसी शब्दावली में नल की भी ध्वनि निकलती है—'हे विदुषि ! नैषधराज के वेश में अपने पति इस राजा को तू क्या नहीं पहचानती और क्या तू इसे जयमाल पहनाना नहीं चाहती ? यदि तू इसे छोड़ देगी तो तेरी बड़ी हानि होगी, फिर और कौन तेरा वर होगा ?'

किन्तु इस प्रकार काव्य को क्लिष्ट करना तो श्रीहर्ष का प्रयोजन ही था—

> ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
> प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु ।
> श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
> त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥

'पंडित होने का दर्प करने वाला कोई दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को हठपूर्वक जानने का चापल्य न कर सके, इसीलिये हमने जान बूझ कर कहीं कहीं इस ग्रंथ में ग्रंथियां लगा दी हैं। जो सज्जन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु को प्रसन्न करके इन गूढ़ ग्रंथियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में हिलोरें ले सकेंगे।'

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी नैषध का 'बृहत्त्रयी' में आदर से नाम लिया जाता है। नैषध में पदविन्यास और छन्दःकौशल के समस्त वैभव का प्रवीण प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। शब्दों के भावार्थ से यथेच्छ क्रीड़ा करने वाले, प्रकृति का सूक्ष्म एवं स्निग्ध चित्रण करने वाले (२२।५,९,१२) तथा उससे उत्पन्न मनोभावों का प्रभावशाली निरूपण करनेवाले श्रीहर्ष वास्तविक कवि हैं और महाकवि हैं। शब्दों के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अर्थों के विपर्यास से कविता का प्रभाव द्विगुणित हो जाता है। शास्त्रों के अर्थ का भी बड़े ही मार्मिक ढंग से सन्निवेश किया गया है। बड़े ही मजेदार व्यंग से वे शास्त्रकारों को फबतियां सुनाते हैं—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥ १७।७०

'स्त्री प्रकृति और पुरुष प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें, अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसकों) के लिये है। पाणिनि ने भी 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर इस बात को स्वीकार किया है।' पाणिनि पर कवि ने कैसा मार्मिक व्यंग किया है !

श्रीहर्ष बड़े भारी दार्शनिक भी थे। नैषध का सत्रहवां सर्ग दार्शनिकता से ओतप्रोत है। वे अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी थे। उनका मत है कि सब मतों में अद्वैत-तत्त्व ही श्रेष्ठ है। अन्य मतों की सत्यता पर वे संदेह नहीं करते, किन्तु उनके मतानुसार वेदान्तप्रतिपादित अद्वैत-तत्त्व ही सत्यतर है (१३।३६)।

श्रीहर्ष को अपनी विद्वत्ता का अतिशय गर्व था। अपने विषय में उनकी यह उक्ति है—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥२२।१५४

'जिसे कान्यकुब्जनरेश के यहाँ से सम्मानसूचक दो पान तथा आसन मिलते हैं; जो समाधिस्थ होकर अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करता है; जिसका काव्य मधु के समान मधुर है; जिसकी तर्कशास्त्र-संबंधिनी उक्तियों को सुनकर प्रतिपक्षी परास्त होकर भाग जाते हैं, उस श्रीहर्ष नामक कवि की यह कृति पुण्यवानों के लिये आनन्दप्रद हो।' अपनी कविता के लिये श्रीहर्ष ने 'महाकाव्य', 'निसर्गोज्ज्वल', 'चारु', 'नव्य', 'अतिनव्य' इत्यादि पदों का प्रयोग किया है। अपने नैषधीय को उन्होंने 'अतिशय स्वादिष्ट अर्थों को उत्पन्न करने वाला', 'शरत्कालीन चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान उज्ज्वल उक्तियों से भरा',

'अत्यंत सरस और अत्यंत स्वादिष्ट', 'एक भी नवीन अर्थ या घटना को न छोड़ने वाला' तथा 'अभूतपूर्व रसमयी उक्तियों से युक्त' कहा है। आत्मश्लाघा की पराकाष्ठा तो वहां होगयी है जहां श्रीहर्ष ने अपने को अमृत आदि चौदह रत्न उत्पन्न करने वाला क्षीरसागर बताया है और शेष सब कवियों को दो-चार दिन में सूख जाने वाली नदियों को उत्पन्न करने वाले छोटे छोटे पहाड़ !

नैषध के उपरान्त संस्कृत में कोई उल्लेखनीय महाकाव्य नहीं मिलता। इस समय के बाद काव्य-साहित्य में गीति, शतक, स्तोत्र और संग्रह आदि का ही प्राधान्य रहा।

संस्कृत साहित्य के जिन प्रमुख महा-कवियों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है, उनकी नामावली कालक्रमानुसार नीचे दी जाती है:—

आदौ स्यादश्वघोषः कालिदासस्ततः परम्।
भारविश्च तथा भट्टिः कुमारश्चापि पञ्चमः ॥
माघश्च हरिचंद्रश्च तथा रत्नाकरोऽपि वै।
कविराजश्च श्रीहर्षः प्रख्याताः कवयो दश ॥

नाटक

उत्पत्ति—संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। परम्परानुसार 'नाट्यवेद' की सृष्टि ब्रह्मा ने की थी तथा उसका पृथ्वी पर प्रचार भरत मुनि ने किया। भरत मुनि अपने 'नाट्यशास्त्र'[1] में लिखते हैं कि ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लेकर नाट्यवेद का निर्माण किया। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर नाटक की उत्पत्ति के विषय में कई विचारधाराएं[2] उपस्थित की हैं। नाटक के प्रधानतम अंग संवाद, संगीत, नृत्य एवं अभिनय हैं। वैदिक साहित्य की समीक्षा से विदित होता है कि वैदिक काल मे इन सभी अंगों का किसी न किसी रूप में अस्तित्व था। ऋग्वेद में यम और यमी, उर्वशी और पुरूरवा, सरमा और पणि आदि के संवादात्मक सूक्तों में नाटकीय संवाद का तत्त्व उपलब्ध होता है। सामवेद में संगीत का तत्त्व है ही। विद्वानों का अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तर में परिमार्जित एवं परिष्कृत होकर नाटकों के रूप में परिणत हुए होंगे। वैदिक अनुष्ठानों में कुछ ऐसे भी क्रिया-कलाप होते थे जिनमें अभिनय का पुट था। इसके आधार पर हिलेब्रांड और कोनो जैसे पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेदों में यज्ञयागादि विषयक नाटक मौजूद थे। परन्तु यह मत सर्वथा समीचीन नहीं, क्योंकि उक्त

१—जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ १।१७

२—Keith: *Sanskrit Drama* pp. 12-77.

वैदिक क्रियाकलापों में अभिनय का पुट भले ही हो, किन्तु उन्हें हम यज्ञीय नाटक कदापि नहीं कह सकते। वैदिक कर्मकाण्ड से धार्मिक नृत्यों के प्रचार का भी पता चलता है, जिनमें मूक आंगिक अभिनय का समावेश था। अतः वैदिक साहित्य में एक प्रकार से नाटक के मूल तत्त्व प्रस्तुत थे और इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। पर वास्तविक नाटक के विकसित रूप का आभास वेदों में कहीं लक्षित नहीं होता।

रामायण-महाभारत-काल में आकर नाटक का कुछ और स्पष्ट उल्लेख मिलता है। विराट् पर्व में रंगशाला का उल्लेख पाया जाता है। 'नट' शब्द का भी प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ श्रीधरस्वामी के अनुसार 'नवरसाभिनयचतुर' है। 'हरिवंश' में रामायण की कथा पर आश्रित एक नाटक के खेले जाने का उल्लेख है। रामायण में भी 'नट', 'नर्तक' एवं 'नाटक' का कई स्थलों पर वर्णन मिलता है। उसमें 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग भी नट या अभिनेता के अर्थ में ही हुआ है।

पाणिनि (चौथी शताब्दी ई० पू०) ने अपने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'[1] इस सूत्र में नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है। पतंजलि (१५० ई० पू०) के महाभाष्य[2] में तो 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख ही हुआ है। इस आधार पर ई० पू० द्वितीय शताब्दी में नाटकों की उत्पत्ति मानी जा सकती है। नाटक पर धर्म का प्रभाव भी खूब पड़ा। यात्राओं (धार्मिक महोत्सवों) के अवसर पर लोगों के मनोरंजन के लिये खुले स्थानों में राम तथा कृष्ण की लीलाओं का अभिनय किया जाता था। पिशेल का यह मत निराधार है कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के खेल से हुई।

१—४।३।११० २—३।२।१११

संस्कृत नाटकों में रंगमंच के पर्दों के लिये कहीं कहीं 'यवनिका' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके आधार पर कोनो आदि पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति ग्रीक नाटकों के प्रभाव से हुई। किन्तु यह मत सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त प्रमाणित हो चुका है। 'यवनिका' शब्द का प्रयोग केवल इसलिये होता था कि यवन (Ionia) देश से आये वस्त्रों से वे पर्दे बनाये जाते थे। संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति तथा विकास स्वतंत्र रूप से हुआ।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक ने अपने क्रमिक विकास में कुछ तत्त्व वैदिक साहित्य से लिये, कुछ इतिहास-पुराणों से तथा कुछ लोकगीतों से। धार्मिक एवं सामूहिक उत्सवों से भी उसे प्रेरणा मिली। पतंजलि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) के समय में तो उसका पूर्ण विकसित रूप में अभिनय भी होने लगा था। इस प्रकार भारत में संस्कृत नाटक का पूर्ण विकास कई शताब्दियों में जाकर हुआ और उस की उत्पत्ति तथा अभ्युदय में अनेक तत्त्वों या उपादानों का उपयोग हुआ।

अश्वघोष—अश्वघोष संस्कृत के प्रथम नाटककार माने जाते हैं। इनका स्थितिकाल, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ईसा की प्रथम शताब्दी में था। सन् १९१० में मध्य एशिया के तूरफ़ान नामक स्थान में अश्वघोष के तीन नाटक डॉ० ल्यूडर्स द्वारा पाये गये। उनमें एक का नाम शारिपुत्रप्रकरण है। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्धधर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। यत्र-तत्र बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी गयी है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार यह एक 'प्रकरण' है। इसमें ९ अंक हैं। संस्कृत के अन्य नाटकों की भांति इसमें नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग इत्यादि सभी नाटकीय लक्षण पाये जाते हैं। हां, अंत में 'भरतवाक्य' का प्रयोग नहीं मिलता। शारिपुत्रप्रकरण के साथ अश्वघोष के दो और नाटकों के खंडित अंश भी मिले हैं।

इनमें से एक तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' के समान रूपकात्मक है, जिसमें बुद्धि, धृति, कीर्ति और बुद्ध पात्रों के रूप में चित्रित किये गये हैं, दूसरा 'मृच्छकटिक' की भांति वेश्यानायिकात्मक नाटक है, जिसमें मगधवती नामक वेश्या, कौमुदगंध नामक विदूषक आदि पात्र हैं। पर ये दोनों नाटक अधूरे ही मिले हैं, इनके नाम का पता नहीं चलता।

अश्वघोष के नाटकों की संस्कृत में कहीं कहीं कुछ अशुद्धियां देख पड़ती हैं, जो संभवतः प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के कारण हुई है। उदाहरणार्थ, आरथं (अर्थ), क्रिमि (कृमि), प्रद्वेपम् (प्रदीपम्) इत्यादि। अश्वघोष के बाद के नाटकों में नाटकीय निर्देश (जैसे, सकरुणम्, सर्वे आकर्णयन्ति, निष्क्रान्ताः, परिवृत्य आदि) पात्रों के कथोपकथन से पृथक् दिये गये है, किन्तु अश्वघोष के नाटकों मे वे उसके साथ ही दिये गये हैं। अश्वघोष की प्राकृत में भी कई ऐसे आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं जिनके आधार पर वे कालिदास के पूर्ववर्ती सिद्ध किये जाते हैं।

भास—सन १९०९ में स्वर्गीय महामहोपाध्याय टी॰ गणपति शास्त्री को ट्रावनकोर राज्य में भास के तेरह नाटक खोज में मिले थे। उनके अनुसार इन नाटकों के रचयिता वही महाकवि भास हैं, जिनका उल्लेख कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की प्रस्तावना में किया है[1]। इसमें संदेह नहीं कि ये तेरहों नाटक एक ही व्यक्ति की कृतियां हैं, क्योंकि इन सबमें अत्यधिक सादृश्य पाया जाता है—सभी आकार में लघु हैं, सभी की भाषा और शैली एक-सी सरल और प्रांजल है, सभी में संस्कृत के कुछ अपाणिनीय आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं, सभी की प्राकृतों में समानता है तथा पात्रों के नामों तक में अनुरूपता है। पर इस प्रश्न पर बड़ा मतभेद है कि ये भास के ही हैं। बहुत से विद्वान् इन्हें भासकृत मानते हैं और बहुत से इनके भासकृत होने में संदेह करते हैं। इन नाटकों के भासकृत होने के

1—'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः।'

पक्ष में ये प्रमाण दिये जाते हैं—(१) ट्रावनकोर में मिले हुए १३ नाटकों में एक का नाम 'स्वप्नवासवदत्त' है। इस नाटक को राजशेखर[1] (९०० ई०) ने भासरचित माना है। 'स्वप्नवासवदत्त' की विशेषताएं अन्य नाटकों में भी पायी जाती हैं, अतः वे भी भासकृत ही हैं। (२) वाक्पतिराज (७५० ई०) ने अपने 'गौडवहो' में भास को 'जलणमित्त'[2] (ज्वलनमित्र)—अग्नि का मित्र—कहा है। यह विशेषण इन नाटकों के रचयिता के लिये बड़ा उपयुक्त है क्योंकि कई नाटकों में भास ने कथानक में अग्निदाह का दृश्य उपस्थित किया है। (३) 'प्रसन्नराघव' के कर्त्ता जयदेव (१२०० ई०) ने भास को 'कविताकामिनी का हास' कहा है। इन नाटकों में हास्यरस का स्थल स्थल पर सुन्दर चित्रण हुआ है, अतः इनके कर्त्ता भास के लिये 'हास' का विशेषण उपयुक्त ही है। (४) इन नाटकों की भाषा तथा शैली अश्वघोष और कालिदास के बीच के समय (ईसा की तृतीय या चतुर्थ शताब्दी) की ओर संकेत करती है। (५) भास ने एक से अधिक नाटकों की रचना की, इसका भी यथेष्ट प्रमाण मिलता है। बाण[3] (६२० ई०) और दण्डी[4] (६५० ई०) ने भास की जो प्रशंसा की है उससे प्रतीत होता है कि भास के अनेक नाटक प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त भामह (६५० ई०), वामन (८०० ई०), राजशेखर (९०० ई०), अभिनवगुप्त (१००० ई०)

१—भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

२—भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीपुत्ते तहावि रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारि अन्दे अ आणन्दो॥

३—सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥

४—सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः॥

आदि ने अपनी अपनी कृतियों में भास द्वारा कई नाटक लिखे जाने का उल्लेख किया है। इसलिये उपलब्ध तेरहों नाटक भासप्रणीत माने जा सकते हैं।

जो विद्वान् इन नाटकों को भासकृत नहीं मानते वे निम्नलिखित खण्डनात्मक तर्क उपस्थित करते हैं—(१) राजशेखर के अतिरिक्त और किसी ग्रंथकार ने 'स्वप्नवासवदत्त' को भासरचित नहीं लिखा है। (२) डॉ० बार्नेट कहते हैं कि महेन्द्रविक्रमवर्मा (६२० ई०) नामक पल्लव राजा के 'मत्तविलास' प्रहसन में एक पद्य[1] पाया जाता है जिसको सोमदेव (९५९ ई०) ने भासरचित बतलाया है, किन्तु जो भास के किसी नाटक में नहीं पाया जाता। संस्कृत के अन्य नाटकों में मंगलाचरण के श्लोक के बाद 'नान्द्यन्ते' यह नाटकीय निर्देश पाया जाता है, किन्तु भास के इन तेरह नाटकों में तथा 'मत्तविलास' प्रहसन में मंगलाचरण-श्लोक के पहले ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। अतः 'मत्तविलास के समान ही इन नाटकों की रचना भी किसी केरल देश निवासी कवि द्वारा हुई होगी। किन्तु यह कथन अनुचित है, क्योंकि 'मत्तविलास' और इन नाटकों की भाषा तथा भरत-वाक्य में बहुत भेद है। 'मत्तविलास' की प्रस्तावना में उसके रचयिता के नाम का स्पष्ट उल्लेख है, पर इन नाटकों में ऐसा नहीं है। विस्तार-भय से यहां इस विवाद का विस्तृत विवेचन करना वांछनीय न होगा, अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्वानों ने बहुमत से इन तेरह नाटकों को भास-विरचित मान लिया है।

अश्वघोष, भास और कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषाओं का विचार कर विद्वानों ने निश्चय किया है कि भास अश्वघोष (१०० ई०) के अनन्तर और कालिदास (४०० ई०) के पहले

१—पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

हुए होंगे। इसके अतिरिक्त भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का एक श्लोक 'बुद्धचरित' के १३।६० श्लोक के समान है। कालिदास के समय भास प्राचीन नाटककार के रूप में विख्यात हो चुके थे, यह 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना से स्पष्ट है। अतः भास का स्थितिकाल ईसा की तृतीय शताब्दी में माना जा सकता है।

भासकृत नाटकों में से छः नाटकों का कथानक महाभारत से लिया गया है; दो नाटक रामायण पर आश्रित हैं तथा अन्य की कथा प्राचीन अर्ध-ऐतिहासिक घटनाओं से ली गयी है। किन्तु इन सब में भास की मौलिक तथा अनूठी कल्पनाशक्ति एवं नाट्य-कुशलता का आभास मिलता है। भास के नाटकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—(१) पंचरात्र—यह तीन अंकों का एक 'समवकार' है। उसमें महाभारत की एक घटना का भिन्न प्रकार से वर्णन है। द्रोण ने दुर्योधन से पाण्डवों को आधा राज्य दे देने के लिये कहा। दुर्योधन ने कहा कि यदि पांच रात के भीतर ही पाण्डव (जो उस समय अज्ञातवास कर रहे थे) मुझसे मिल जायं तो मैं आधा राज्य दे दूंगा। द्रोण के प्रयत्न से पाण्डव मिल जाते हैं और दुर्योधन उन्हें आधा राज्य दे देता है। (२) मध्यम-व्यायोग— यह एक अंक का 'व्यायोग' है, जैसा कि इसके नाम ही से प्रकट है। इसमें मध्यम पाण्डव भीम ने एक ब्राह्मणपुत्र की रक्षा एक भयंकर राक्षस से की है। (३) दूत-घटोत्कच—यह भी एक अंक का 'व्यायोग' है। अभिमन्यु-वध होने पर पाण्डवों को अपनी विजय पर संदेह होने लगता है। इसलिये संधि स्थापित करने के लिये घटोत्कच को दूत बनाकर भेजा जाता है, परन्तु दुर्योधन के इस संधि-प्रस्ताव को अस्वीकार कर देने पर युद्ध फिर आरम्भ हो जाता है। (४) कर्णभार, (५) दूत-वाक्य और (६) ऊरुभंग— ये तीनों एकांकी 'व्यायोग' हैं। 'कर्णभार' में कर्ण ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र को अपना कवच-कुण्डल दान में दे डालते हैं। 'दूत-वाक्य' में संधि करने के लिये श्रीकृष्ण

का दुर्योधन के शिविर में जाना तथा उनका विफल-मनोरथ होकर लौटना वर्णित है। 'ऊरुभंग' में भीम और दुर्योधन के अन्तिम गदायुद्ध का तथा दुर्योधन की मृत्यु का करुणापूर्ण वर्णन है। संस्कृत में यही एकमात्र दुःखान्त नाटक है। (७) प्रतिमा—यह ७ अंकों का एक नाटक है। इसमें राम-वनवास से लेकर रावण-वध तक की घटनाओं का वर्णन है। महाराज दशरथ की मृत्यु के बाद ननिहाल से लौटते हुए भरत मार्ग में अयोध्या के समीप प्रतिमा-मन्दिर में जब अपने दिवंगत पूर्वजों के साथ दशरथ की भी प्रतिमा देखते हैं तब उन्हें दशरथ की मृत्यु का पता चलता है। इसी घटना के आधार पर इस नाटक का नाम 'प्रतिमा' पड़ा। (८) अभिषेक नाटक—यह ६ अंकों का है। इसमें बालि-वध, हनूमान् का लंका में पहुंच कर सीता को सांत्वना देना और रावण को खरी-खोटी सुनाना, रावण का सीता के संमुख राम और लक्ष्मण के कटे मस्तकों को दिखाकर असफल छल करना और अन्त में रावण-वध तथा रामराज्याभिषेक का वर्णन है। (९) बालचरित—यह ७ अंकों का एक नाटक है। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा वर्णित है। (१०) चारुदत्त या दरिद्रचारुदत्त—इस नाटक के केवल ४ अंक उपलब्ध हुए हैं। इसमें निर्धन किन्तु सदाशय ब्राह्मण चारुदत्त तथा तथा गुणग्राहिणी वेश्या वसन्तसेना का सच्चा स्नेह मार्मिक ढंग से वर्णित है। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' इसी के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। (११) अविमारक—यह ६ अंकों का नाटक है। इसमें राजा कुन्तिभोज की रूपवती कन्या कुरंगी का अविमारक नामक राजकुमार से प्रच्छन्न विवाह वर्णित है। (१२) प्रतिज्ञायौगन्धरायण—यह ६ अंकों में समाप्त होने वाला एक नाटक है। इसमें मंत्री यौगन्धरायण के प्रयत्न से वत्सराज उदयन और अवंतिकुमारी वासवदत्ता के रहस्यमय विवाह का वर्णन है। (१३) स्वप्नवासवदत्त—इस नाटक में ७ अंक हैं। इसमें मन्त्री यौगन्धरायण की दूरदर्शिता

मे वासवदत्ता का अग्नि में जल कर भस्म होजाने का प्रवाद प्रचारित कर, उदयन् का विवाह मगधराजकुमारी पद्मावती के साथ सम्पन्न होता है। इसमें भास की नाट्यकलाकुशलता का चूड़ान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का उत्तरार्ध समझना चाहिए।

उपर्युक्त नाटकों की अनेकता तथा विविधता से भास की मौलिकता एवं नाट्यकलाकुशलता का परिचय मिलता है। महाभारत के आधार पर जिन नाटकों की रचना हुई है उन्हें भास ने अपनी अनूठी कल्पना-शक्ति से अत्यन्त रोचक बना दिया है। यद्यपि भास ने नाट्यशास्त्र के नियमों का अक्षरशः पालन नहीं किया है, फिर भी वे नाट्यकला के सफल और श्रेष्ठ आचार्य हैं। जहां संस्कृत के अन्य नाटक अभिनय के लिये प्रायः अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं वहां भास के सभी नाटक रंगमंच के लिये सर्वथा उपयुक्त हैं। उनके कथानक घटनाप्रधान तथा अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं। किसी भी सफल नाटक के लिये निम्नलिखित ६ गुण आवश्यक हैं—(१) घटना का ऐक्य, (२) घटना की सार्थकता, (३) घटनाओं की घात-प्रतिघात गति, (४) कवित्व, (५) चरित्र-चित्रण और (६) स्वाभाविकता। भास के नाटकों में इन सभी गुणों का समावेश पाया जाता है। भास की भाषा में स्वाभाविक पदविन्यास के साथ भावसौष्ठव भी प्रचुर है। बाह्यप्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों के भास सूक्ष्म मर्मज्ञ थे। चरित्र-चित्रण में वे निपुण हैं। उनके नाटकों में नाटकीय घटनाओं की स्वाभाविक एवं मनोहारिणी शृंखला देख पड़ती है। उनके नाटकों में परिष्कृत एवं शिष्ट हास्य का पुट पाया जाता है। सरलता, स्वाभाविकता, प्रसाद एवं माधुर्य भास की शैली के विशेष गुण हैं। लंबे समासों तथा दुरूह भावों का उसमें अभाव है। भास ने अपनी उपमाओं के लिये प्रकृति से उपादान चुने हैं—

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ॥ प्रतिमा २।७

साथ ही भास की उपमाएं बड़ी सरल, मार्मिक एवं बोधगम्य होती है—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ।

एवं लोकस्तुल्यधर्मा वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च॥ स्वप्न० 6।10

'मृत्यु के समय कौन किसकी रक्षा कर सकता है? रस्सी टूटने पर घड़े को कौन सम्हाल सकता है? यह संसार वन के समान है। जिस प्रकार वन में वृक्ष काटे जाते हैं और फिर उगते हैं, उसी प्रकार इस संसार में भी मनुष्य मरता रहता है और पैदा होता रहता है।' सायंकाल का कैसा नैसर्गिक दृश्य है—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥ स्वप्न० 1।16

'पक्षी अपने घोसलों में चले गये। मुनि लोग जल में स्नान कर चुके। प्रज्वलित अग्नि शोभित हो रही है। धुआं तपोवन में व्याप्त हो रहा है। सूर्य ने भी दूर से उतर कर अपनी किरणों को बटोर लिया है और रथ को लौटा कर वे धीरे धीरे अस्ताचल में प्रवेश कर रहे हैं।' कन्या के विवाह पर माता दुविधा में पड़ जाती है—

अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः॥ प्रतिज्ञा० 2।7

अलंकारों के चुनाव में तथा स्वभावोक्ति के प्रयोग में भास सिद्धहस्त हैं। एक ही ध्वनि वाले अक्षरों के प्रयोग की ओर उनकी विशेष रुचि है—'सजलजलधर', 'सनीरनीरदं', 'कुलद्वयं हन्ति मदेन नारी, कूलद्वयंक्षुब्धजला नदीव'। व्यंग का प्रयोग 'स्वप्नवासवदत्त' में खूब देख पड़ता है। भास के नाटकों में एक ही सुन्दर भाव या विचार की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति की गयी है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब कृतियां एक ही लेखनी से प्रसूत हैं।

मार्मिक लोकोक्तियों का प्रयोग भी बड़ा प्रभावोत्पादक है, जैसे—'प्रियनिवेद्यमानानि प्रियाणि प्रियतराणि भवन्ति', 'सर्वमलंकारो सुरूपाणाम्' 'वाचानुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः', 'अल्पं तुल्य-शीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते', कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रार-पंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः', 'न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि' आदि।

भास के उपर्युक्त गुणों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि कालिदास जैसे महाकवि उनका आदरपूर्वक उल्लेख करें तो क्या आश्चर्य है।

शूद्रक—प्रसिद्ध प्रकरण मृच्छकटिक के रचयिता राजा शूद्रक को कुछ विद्वान् एक कल्पित व्यक्ति मात्र मानते हैं। शूद्रक के व्यक्तित्व पर अभी तक प्रामाणिक रूप से कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। इस विषय में ऐतिहासिक अनुसन्धान की आवश्यकता है। संस्कृत साहित्य में शूद्रक के विषय में अनेक दन्तकथाएं प्रचलित हैं। 'कादम्बरी,' 'कथासरित्सागर', 'वेतालपंचविंशतिका', 'हर्षचरित', 'राजतरंगिणी', 'स्कन्दपुराण' आदि ग्रंथों में शूद्रक का उल्लेख मिलता है। 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में शूद्रक का परिचय दो श्लोकों में दिया गया है। उसमें उनकी मृत्यु का भी वर्णन है। किन्तु किसी कवि का अपनी ही रचना में स्वयं अपनी मृत्यु का उल्लेख करना असंभव है। अतः प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। कीथ[1] का मत है कि किसी अज्ञात कवि ने भास के 'चारुदत्त' नाटक को परिवर्धित कर उसे 'मृच्छकटिक' का नाम दिया और प्रसिद्ध राजा शूद्रक के नाम से उसे प्रचारित किया।

मृच्छकटिक के रचनाकाल का विचार करते समय निम्न-लिखित बातों[2] पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) मृच्छकटिक की

१—*Sanskrit Drama* p. 131

२—Introduction to मृच्छकटिक edited by V. G. Paranjpe

मूल-कथा का आधारभूत ग्रंथ गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' बतलायी जाती है, जिसका रचनाकाल ७८ ई० माना जाता है। अतः मृच्छकटिक की रचना की ऊपरी सीमा पहली शताब्दी है। वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में शूद्रक का उल्लेख[1] कर मृच्छ-कटिक के दो पद्यों (१।९, ७।६) को उद्धृत किया है। इससे पहले दण्डी (६५० ई०) ने अपने 'काव्यादर्श' में मृच्छकटिक के 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इस पद्यांश (१।३४) को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक के नवें अंक में शूद्रक ने बृहस्पति को अंगारक (मंगल) का विरोधी (९।३३) बतलाया है, परन्तु वराहमिहिर (५८९ ई०) ने इन दोनों ग्रहों को मित्र[2] माना है। वराहमिहिर के बाद का ग्रंथकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं बतला सकता। अतः शूद्रक वराहमिहिर से पहले हुए होंगे। इस प्रकार मृच्छकटिक की रचना की नीचे की सीमा छठी शताब्दी है। (२) मृच्छकटिक के छठे अंक में जो ज्योतिष-संबंधी पंक्तियां हैं उनसे पता चलता है कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र पर उस समय तक यूनानी नक्षत्र-गणना का प्रभाव पड़ चुका था। भारत और भूमध्य-सागर में व्यापारिक संबंध २५ ई० पू० से आरंभ हुआ था। इस आधार पर भारत ने ग्रीक ज्योतिष-सिद्धान्त को ईसा की पहली शताब्दी में अपनाया होगा। अतः मृच्छकटिक २०० या ३०० ई० के बाद की रचना नहीं हो सकती। (३) मृच्छकटिक में आर्यक नामक आभीर युवक, पालक राजा को मारकर उसका राज्य हस्तगत कर लेता है। ईसा की तृतीय शताब्दी में ऐसी ही घटना दक्षिण में हुई थी, जब एक आभीर राजा ने आन्ध्रों का राज्य छीन लिया था। (४) मृच्छकटिक में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग वस्तुतः 'पुलिस के उच्च अधिकारी' के अर्थ में हुआ है। किन्तु बाद के साहित्य में 'राष्ट्रिय'

१—'शूद्रकादिविरचितेषु प्रबन्धेषु'।

२—'जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः' बृहज्जातक २।१६

शब्द का प्रयोग 'राजा के साले' के अर्थ में मिलता है। कालिदास ने 'राष्ट्रिय' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। अतः मृच्छकटिक की रचना कालिदास के पूर्व की है। (५) मृच्छकटिक में आठ प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों में जो नियम पाये जाते हैं उनका पालन मृच्छकटिक में नहीं किया गया है। अतः मृच्छकटिक की रचना इन ग्रंथों के पहले ही हुई होगी। (६) कालिदास के नाटकों में मृच्छकटिक की कुछ छाप देख पड़ती है। कालिदास का समय लगभग ४०० ई० माना जाता है, अतः मृच्छकटिक की रचना इससे कुछ पूर्व अवश्य हुई होगी। (७) मृच्छकटिक में जिन धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक, नैतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है उनसे भी इसकी रचना ईसा की तृतीय शताब्दी में ही सिद्ध होती है। (८) मृच्छ-कटिक भास के 'चारुदत्त' नाटक का परिवर्धित रूप जान पड़ता है। अतः इसकी रचना भास के बाद अर्थात् ३०० ई० के लगभग हुई होगी।

मृच्छकटिक १० अंकों का एक 'प्रकरण' है। उसके कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है। उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या वसंत-सेना चारुदत्त नामक ब्राह्मण पर अनुरक्त है। उधर राजा का साला (शकार) वसन्तसेना को अपने वश में करना चाहता है। एक दिन अंधेरी रात में वह उसका पीछा करता है, किन्तु वसन्तसेना उसे चकमा देकर चारुदत्त के घर में घुस जाती है। शकार से बचने के लिये वसंतसेना अपने आभूषण चारुदत्त के घर रख आती है। वसंतसेना की दासी मदनिका को मुक्त कराने के लिये उसका प्रेमी शर्विलक चारुदत्त के घर में सेंध लगाता है और वसंतसेना के उन्हीं आभूषणों को चुरा लाता है। उन आभूषणों से मदनिका सेवामुक्त हो जाती है। चारुदत्त की पतिव्रता स्त्री धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उन अलंकारों के बदले में वसंतसेना को देती है। अब चारुदत्त

का पुत्र रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी लेकर वसंतसेना के घर जाता है तो वसंतसेना अपने गहनों से उसकी मिट्टी की गाड़ी भर देती है और उससे कहती है कि इनसे सोने की गाड़ी खरीद लेना। 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) यह नाम इसी घटना से सम्बन्ध रखता है। सुहावनी वर्षा के समय वसंतसेना प्रणय-मिलन के लिये चारुदत्त के घर आती है। दूसरे दिन चारुदत्त पुष्पकरंडक नामक बगीचे में जाता है। वसंतसेना उससे मिलने वहां जाती है, किन्तु भ्रम से चारुदत्त की गाड़ी के स्थान पर समीप खड़ी हुई शकार की गाड़ी में जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की इस भविष्यद्वाणी पर विश्वास करके कि उसके बाद गोपाल का पुत्र आर्यक राजा बनेगा, आर्यक को कैद में डाल देता है। कैद से भाग कर आर्यक चारुदत्त की गाड़ी में जा बैठता है। लौह-शृंखला की आवाज़ को आभूषणों की झनकार समझ गाड़ीवान गाड़ी हांक देता है। रास्ते में पुलिस के दो सिपाही गाड़ी रोक देते हैं। उनमें से एक, आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से मिल कर गायब हो जाता है। उधर जब वसंतसेना पुष्पकरंडक उद्यान में पहुँचती है तो उसे वहां चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार मिलता है। वसंतसेना उसके अनुचित प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती है। वह वसंतसेना का गला घोंट देता है। संवाहक नामक एक बौद्धभिक्षु उपचार करके उसे पुनरुज्जीवित करता है। इधर शकार न्यायालय में चारुदत्त पर वसंतसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। चारुदत्त को फांसी का हुक्म होता है। किन्तु उधर चारुदत्त का मित्र आर्यक पालक को मार स्वयं राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को मुक्त कर मिथ्याभियोग के कारण शकार को फांसी का हुक्म देता है। किन्तु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। अंत में वसंतसेना और चारुदत्त का विवाह हो जाता है।

संस्कृत नाटकों में मृच्छकटिक अपने ढंग का अनूठा नाटक है उसमें नाटककार ने बड़ी कुशलता से प्रेम के कथानक को राजनीतिक घटनाओं के साथ संबद्ध किया है। संस्कृत में यही एकमात्र चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटक कहा जा सकता है। शूद्रक ने अपनी कृति में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि कर तत्कालीन समाज का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। संस्कृत के अन्य नाटकों के समान हमारे समाज के केवल उच्च या संभ्रान्त वर्ग का ही चित्रण इसमें नहीं हुआ है, अपितु समाज की सभी श्रेणियों का यथार्थ निरूपण हुआ है। चोर, जुआरी, धूर्त, क्रांतिकारी, कुट्टनी, वेश्या, पुलिस के अधिकारी, राजा, ब्राह्मण आदि सभी प्रकार के पात्र अपने व्यस्त व्यापारों से सारे नाटक को रोचक बना देते हैं।

मृच्छकटिक में सामाजिक जीवन की अपूर्व रोचकता, घटनाओं का घात-प्रतिघात तथा कथानक का क्रमिक विकास पाया जाता है। उसमें जीवन की घटनाओं का जो विविध एवं वास्तविक स्वरूप उपस्थित किया गया है वह उसे रंगमंच के लिये सर्वथा उपयुक्त बना देता है। उसकी विविधता का परिचय उसके विभिन्न अंकों के नामों से ही मिलता है। कहीं जूआ खेलने वाले मूर्ख संवाहक का वर्णन है तो कहीं ब्राह्मण चोर शर्विलक अपनी प्रेमिका के लिये सेंध लगाता है; कहीं प्रवहणों का विपर्यय होता है तो कहीं नगर के बाहर उद्यान में वसंतसेना की हत्या का प्रयत्न किया जाता है; कहीं न्यायालय का दृश्य है तो कहीं वधस्थल का। एक ओर पति-भक्ति, करुणा, गुण-ग्राहकता और उदारता है तो दूसरी ओर कपट, पाखंड, मूर्खता और निर्दयता है।

संस्कृत के अन्य किसी नाटक में मृच्छकटिक की भांति इतने विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग नहीं हुआ है और न हास्यरस का ऐसा अनूठा चित्रण ही। शूद्रक की शैली सरल एवं प्रवाहयुक्त है तथा नाटक के गतिशील कथानक के सर्वथा उपयुक्त है। उनकी भाषा

में अवश्य ही कालिदास की चारुता तथा भवभूति की उदात्तता नहीं है। 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' या 'अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया' जैसे जीवन के महान् सत्यों का भी उल्लेख शूद्रक प्रायः नहीं करते। फिर भी वे किसी भाव का मार्मिक चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। उनकी भाषा तथा शैली की सरलता एवं स्पष्टता नाटक की रोचकता में वृद्धि करती है। बड़े बड़े छन्दों का प्रयोग उन्होंने बहुत कम किया है। नये नये भाव स्थान स्थान पर मिलते हैं। कहीं करुणरस की फल्गु धारा प्रवाहित हो रही है (८।३८), कहीं शृंगाररस की स्निग्ध व्यंजना है तो कहीं प्रकृति के दृश्यों का मनोरम चित्रण। पहले अंक में दरिद्रता का तथा पांचवें अंक में वर्षाऋतु का वर्णन बड़ा हृदयग्राही हुआ है। सारे नाटक में यत्र-तत्र सुन्दर भाव, रमणीय उपमाएं तथा रोचक कल्पनाएं देखने को मिलती हैं। कथोपकथन भी बड़े मनोहर हुए हैं, विशेषकर उन स्थलों पर जहां वसन्तसेना, मदनिका, विट, मैत्रेय या शकार उपस्थित रहते हैं। शूद्रक ने विट के मुंह से जो पद्य कहलाये हैं वे कवित्व की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से शूद्रक की शैली का परिचय प्राप्त होगा। दरिद्रपुरुष की स्थिति कैसी दयनीय होती है—

> दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते
> सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
> सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
> पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥१।३६

'निर्धन व्यक्ति की बात उसके बन्धुगण नहीं मानते। उसके प्रिय से प्रिय मित्र शत्रु बन जाते हैं। आपत्तियों का तांता बंध जाता है। उसका तेज क्षीण हो जाता है। उसके शीलरूपी चन्द्रमा की कान्ति म्लान पड़ जाती है। दूसरों द्वारा भी किये गये अपराधों का दोष दरिद्र पुरुष के ही मत्थे मढ़ दिया जाता है।' नीचे के पद्य में चन्द्रोदय का क्या ही विचित्र वर्णन है—

उदयति हि शशांक: कामिनीगण्डपाण्डुर्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः ।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः स्रुतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति ॥१।५७

'प्रेमी के विरह में पड़ी हुई प्रेमिका के कपोलों की भांति पीला यह चन्द्रमा अनेक नक्षत्रों से घिरा हुआ उदय हो रहा है, मानों वह इस राजमार्ग का दीपक हो। उसकी श्वेत किरणें जब अन्धकार के पटल पर पड़ती हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है मानो सूखे काले कीचड़ में दूध की पतली सफ़ेद धाराएं गिर रही हों।'

कालिदास—महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट नाटककार माने जाते हैं। उनका स्थितिकाल, जैसा कि पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है, भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५–४१३ ई०) के राज्यकाल में माना जाता है।

कालिदास ने तीन नाटक लिखे हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान-शाकुन्तल। भारतीय नाट्य साहित्य का पूर्ण परिपाक हमें सर्व प्रथम कालिदास की कृतियों में ही मिलता है। अपनी अनूठी कल्पनाशक्ति और विलक्षण नाट्यनैपुण्य के कारण कालिदास संसार के नाटककारों में अग्रगण्य माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति का जैसा समुज्ज्वल, मनोरम और भव्य चित्र उन्होंने अपने नाटकों में अंकित किया है वैसा किसी अन्य देश के लेखक ने अपने देश की संस्कृति का नहीं। कालिदास की प्रतिभा अलौकिक एवं सर्वतोमुखी थी। जैसे सरस और हृदयग्राही उनके महाकाव्य हुए हैं, जैसी मौलिक और अनूठी कल्पनाशक्ति उनके 'मेघदूत' में देख पड़ती है, वैसी ही अद्भुत और अनुपम रचना-चातुरी उनके नाटकों में प्रस्फुटित हुई है। नाटककार कालिदास, कवि कालिदास से किसी प्रकार कम नहीं हैं। उनका नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल विश्व-साहित्य का एक अमूल्य रत्न स्वीकृत हो चुका है।

रचनाक्रम के अनुसार मालविकाग्निमित्र कालिदास का पहला नाटक है जैसा कि इसकी प्रस्तावना से प्रतीत होता है—'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्'। इस स्थल पर कवि ने अपनी नवीन कृति को उपस्थित करते हुए यह तर्क दिया है कि प्राचीन होने से ही कोई काव्य उत्कृष्ट नहीं होता और न नवीन होने से ही निकृष्ट। साथ ही उसकी अपरिपक्व शैली से भी यही बात सिद्ध होती है। विक्रमोर्वशीय रचनाक्रम से कालिदास की द्वितीय कृति है। इसमें उनकी प्रतिभा का अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ है। अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास का अंतिम नाटक तथा उनकी प्रतिभा का प्रौढ़तम निदर्शन है।

मालविकाग्निमित्र के पांच अंकों में राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणयकथा वर्णित है। राजमहिषी की परिचारिका मालविका अपने अनुपम सौन्दर्य से राजा के चित्त को आकृष्ट करती है। रानी उससे ईर्ष्या करने लगती है। राजा अपनी प्रेमिका मालविका से मिलने के लिये अनेक प्रयत्न करता है। अंत में यह प्रकट होजाता है कि मालविका जन्मना राजकुमारी है और तब उसका विवाह अग्निमित्र से हो जाता है।

मालविकाग्निमित्र शृंगाररस-प्रधान नाटक है। कालिदास का पहला नाटक होने पर भी इसमें कहीं क्लिष्टता और कृत्रिमता नहीं है। इसकी भाषा प्रसादपूर्ण और मनोहर है। यद्यपि इसका कथानक जटिल है और पात्रों के मनोविकारों के विश्लेषण में कवि का विशेष प्रयत्न नहीं देख पड़ता, तथापि इसमें वैचित्र्यपूर्ण प्रसंगों की कमी नहीं है। राजा और मालविका का मिलन कराने में तथा मालविका के कैद हो जाने पर उसे मुक्त कराने में 'कामतंत्र-सचिव' विदूषक की युक्तियां विशेष रूप से अवलोकनीय हैं। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति भी अभी पूर्णतया प्रस्फुटित नहीं हुई है। वह राज-महल के दृश्यों तक ही सीमित देख पड़ती है। ग्रीष्म का वर्णन देखिए—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥ २।१२

'राजमहल के भीतर बावलियों में कमलपत्रों की छाया में हंस आंखें बन्द किये ऊंघ रहे हैं। अत्यधिक ताप के कारण कबूतर महलों के छज्जों से उड़ उड़ पड़ते हैं। जलकणों को पीने की इच्छा से मोर चक्कर काटने वाले फौवारे के पास आ बैठता है। सूर्य अपनी समस्त किरणों से उसी प्रकार प्रचण्ड रूप में उद्भासित हो रहे हैं, जैसे हे राजन्! आप अपने प्रशस्त गुणों से।'

विक्रमोर्वशीय पांच अंकों का एक 'त्रोटक' (उपरूपक) है। इसमें राजा पुरूरवा तथा उर्वशी अप्सरा की प्रणयकथा वर्णित है। पुरूरवा केशी नामक दैत्य से उर्वशी का उद्धार करते हैं। राजा उर्वशी के सौन्दर्य पर मोहित हो जाते हैं। भरत मुनि के शाप से उर्वशी को मृत्युलोक में आना पड़ता है और तब वह राजा के साथ कुछ समय तक रहती है। एक बार मंदाकिनी के तट पर खेलती हुई किसी विद्या-धर-कुमारी की ओर राजा देखने लगा। इस पर उर्वशी रूठ कर कार्तिकेय के गन्धमादन उपवन में चली जाती है। कार्तिकेय ने ऐसा नियम बनाया था कि जो स्त्री इस उपवन में घुसेगी वह लतारूप में परिणत हो जायगी। उर्वशी भी लता हो जाती है। इधर उर्वशी के विरह में राजा जंगल जंगल भटकता और विलाप प्रलाप करता है। संगमनीय-मणि के प्रभाव से उर्वशी पुनः अपने पूर्वरूप को प्राप्त हो जाती है। दोनों राजधानी को लौट आते हैं। पर जब उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न अपने कुमार को राजा देख लेता है तब उर्वशी इन्द्र के आज्ञानुसार स्वर्ग लौट जाती है। इस पर राजा कुमार का राज्याभिषेक कर वन में जाने का निश्चय करता है। किन्तु इन्द्र उसे

ऐसा करने से रोकते हैं और आश्वासन देते हैं कि उर्वशी जन्म भर तुम्हारी सहधर्मिणी होकर रहेगी।

कला की दृष्टि से विक्रमोर्वशीय का स्थान मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञान-शाकुन्तल के बीच का है। उर्वशी और पुरूरवा के इस अत्यधिक प्राचीन आख्यान को कवि ने भाव, भाषा और शैली की मौलिकता से अत्यंत रमणीय रूप दिया है। कवि की कल्पनाशक्ति इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है। भरतमुनि का शाप, कार्तिकेय का नियम, उर्वशी का रूप-परिवर्तन, पुरूरवा का उन्मत्त विलाप इत्यादि प्रसंग और समग्र पांचवां अंक—ये सब कालिदास की कल्पनाशक्ति के फल हैं। दूसरे और तीसरे अंकों की कुछ घटनाएं कथानक की प्रगति के लिये आवश्यक नहीं जान पड़तीं। चौथे अंक में विप्रलंभ का इतना मात्रातीत चित्रण हुआ है कि नाटकीय व्यापार में शिथिलता आगयी है। फिर भी विक्रमोर्वशीय में संभोग और विप्रलंभ शृंगार का उत्तम परिपोष हुआ है। पात्रों की संख्या कम होने पर भी उनका चित्रण मार्मिकता से किया गया है। यद्यपि विक्रमोर्वशीय की भाषा उतनी मंजी हुई और मुहाविरेदार नहीं है जितनी अभिज्ञान-शाकुन्तल की, तथापि वह प्रासादिक, सौष्ठवयुक्त एवं अलंकृत है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी स्थान स्थान पर रमणीय है। इसके लघु छन्दों की मधुरता और विविधता दर्शनीय है। उर्वशी का अप्रतिम रूप देख कर राजा अपने चित्त में सोचता है:—

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
>
> शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
>
> वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलः
>
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ १।८

'इस सुन्दरी का निर्माण करने वाला विधाता स्वयं रमणीय कान्ति वाला चन्द्रमा रहा होगा अथवा शृंगाररसमय कामदेव अथवा स्वयं कुसुमाकर वसंत निरंतर वेदाभ्यास के कारण शुष्क हृदय

और सांसारिक विषय-वासनाओं से उदासीन जरठ नारायण ऋषि भला इतने मनोहर रूप की सृष्टि कैसे कर सकते हैं ?' कालिदास का उपमा-कौशल[1] इस नाटक में विशेषरूप से प्रस्फुटित हुआ है। उर्वशी का मूर्च्छित दशा से धीरे धीरे होश में आने का कैसा मार्मिक एवं मूर्तिमान् वर्णन है—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगारोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम् ॥ १।७

'जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर रात्रि शनैः शनैः अंधकार से मुक्त होने लगती है, संध्याकाल में धूएँ के निकल जाने पर अग्नि की ज्वाला धीरे धीरे स्पष्ट देख पड़ने लगती है, कगारों के गिरने से कलुषित जलवाली गंगा क्रमशः निर्मल होने लगती है, उसी प्रकार यह सुवदना उर्वशी भी अपनी मूर्च्छा से धीरे धीरे होश में आ रही है।' चौथे अंक में कालिदास की कवित्वशक्ति का खूब चमत्कार दिखायी पड़ता है। पुरूरवा उन्माद में सोचता है कि उर्वशी कहीं नदी के रूप में तो परिणत नहीं होगयी—

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥ ४।२८

'अवश्य ही उर्वशी मेरे अपराधों को न सह सकने के कारण, उनका बारंबार स्मरण करती हुई, नदी रूप में परिणत होगयी है—तरंगे ही उसकी टेढ़ी भौंहें हैं, कलरव करते हुए पक्षिगण ही उसके कटिसूत्र हैं। देखो, कोप से खिसक पड़े अपने फेनरूपी वस्त्रांचल को समेटती हुई वह

1—१।१०, १२; २।१: ३।६: ४।२५, ३८; ५।१६, २२

चली जा रही है।' नहीं, इस हंस ने ही उर्वशी का अपहरण किया होगा—

> हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता।
> विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥ ४।१७

'हे हंस, मेरी प्रियतमा को लौटा दे, जिसकी बांकी चाल तू ने चुरा ली है। जिसके पास चोरी के धन का कुछ भी अंश मिल जाता है उसे सारा धन लौटाने को बाध्य होना पड़ता है।'

अभिज्ञान-शाकुन्तल महाकवि कालिदास का—या यों कहिए कि समग्र संस्कृत साहित्य का—सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें कुल सात अंक हैं। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त मृगया करते हुए संयोग-वश महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँच जाते हैं, जहां उनका शकुन्तला से साक्षात्कार होता है। उसके जन्म की रहस्य-कथा सुन लेने के बाद उनके हृदय में उस मुनिकन्या के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। शकुन्तला भी आभिजात्य और पौरुष की प्रत्यक्ष प्रतिमा महाराज दुष्यन्त के प्रति आकर्षित होती है। दोनों गांधर्व-विधि से विवाहसूत्र में बंध जाते हैं। प्रणय-मिलन के बाद आवश्यक कार्यवश दुष्यन्त को हस्तिनापुर लौटना पड़ता है। जाते समय दुष्यन्त अपनी नामांकित अंगूठी शकुन्तला को यह कह कर दे जाते हैं कि जितने अक्षर इस अंकित नाम में हैं, उतने ही दिनों के अन्तर्गत मैं तुम्हें हस्तिनापुर बुला लूंगा। इधर महर्षि कण्व तीर्थयात्रा से लौटते हैं और शकुन्तला को गर्भवती जान उसे पतिगृह भेजने का आयोजन करते हैं। शकुन्तला अपने शैशव के सहचर लता' पादप, पशु, पक्षी, मृगशावक, सखियां—सभी से स्नेहपूर्वक विदा होकर हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करती है। वहां दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त उसे न पहचान कर उसका प्रत्याख्यान करते हैं। तब विलाप करती हुई शकुन्तला को एक दिव्य

ज्योति आकाश में उड़ा ले जाती है। हेमकूट पर्वत पर महर्षि मारीच के आश्रम में अपनी माता मेनका के साथ वह अपने वियोग के दिन काटती है। इधर एक मछुए को राजा की वह नामांकित अंगूठी एक मछली के पेट में मिलती है। ज्यों ही राजा उस अंगूठी को देखते हैं, उन्हें शकुन्तला के साथ अपने प्रणय का स्मरण हो आता है, और वे शकुन्तला से मिलने के लिये व्याकुल हो उठते हैं। अंत में इन्द्र की सहायता कर स्वर्ग से लौटते समय दुष्यन्त का मारीच-आश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन और शकुन्तला से पुनर्मिलन होता है। वहां से हस्तिनापुर लौट कर दुष्यन्त शकुन्तला के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं।

'शाकुन्तल' नाटक का मूल कथानक महाभारत के आदि पर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान से लिया गया है। किन्तु उस सीधी-सादी पौराणिक कथा को कालिदास ने अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति के द्वारा अनुपम नाटकीय रूप दे दिया है। महाभारत में शकुन्तला अपने जन्म की कथा स्वयं कहती है। कालिदास ने ये सब बातें नायिका के मुख से न कहला कर उसकी दो सखियों—प्रियंवदा और अनसूया—से कहलाई हैं, जिससे शकुन्तला के शील और मुग्धत्व की रक्षा की गई है। महाभारत में शकुन्तला विवाह करने के पहले शर्त रखती है—

> मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम्।
> युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

किन्तु 'शाकुन्तल' में वह अपनी सखियों से कहती है—'तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तथा यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि।' महाभारत की शकुन्तला प्रगल्भ, स्पष्टवादिनी और निर्भीक तरुणी है। किन्तु कालिदास ने जिस शकुन्तला की सृष्टि की है वह एक लज्जाशील, प्रेमपरायण और मुग्ध बालिका है। महाभारत में शकुन्तला के गर्भ से आश्रम में ही पुत्र उत्पन्न होता है। जब वह बालक छः वर्ष का हो जाता है तब शकुन्तला पतिगृह को जाती है। कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही

शकुन्तला को पतिगृह भेजकर भारतीय मर्यादा का पालन किया है। महाभारत का दुष्यन्त कामुक, भीरु और स्वार्थी प्रतीत होता है, किन्तु कालिदास का दुष्यन्त एक अत्यंत परिष्कृत रुचि-सम्पन्न 'धीरोदात्त' नायक है। महाभारत का दुष्यन्त लोकापवाद के भय से शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह की बात, स्मरण रहने पर भी, अस्वीकार कर देता है और आकाशवाणी होने पर ही उसे स्वीकार करता है। कालिदास ने दुर्वासा के शाप और अंगूठी की कल्पना करके दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा की है।

पद्मपुराण की कथा 'शाकुन्तल' के कथानक से मिलती जुलती है। इस आधार पर विन्टरनिट्ज़ महोदय का कहना है कि कालिदास ने अपनी कथावस्तु पद्मपुराण से ली होगी। किन्तु पद्मपुराण के शकुन्तलोपाख्यान वाले अंश की रचना कालिदास के बाद प्रतीत होती है। क्योंकि उसमें कई स्थलों पर 'शाकुन्तल' की शब्दावली ज्यों की त्यों उद्धृत की गयी है। अतः अनेक विद्वानों की धारणा है कि पद्मपुराण का यह प्रसंग 'शाकुन्तल' नाटक के आधार पर रचा जाकर पद्मपुराण में बाद में जोड़ दिया गया होगा।

'शाकुन्तल' कालिदास की नाट्यकलाकुशलता का चूडान्त निदर्शन है। संपूर्ण जगत का वह हृदयहार बन चुका है। संसार के चुने हुए सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में उसे आदरणीय स्थान प्राप्त है। कालिदास की इस अनुपम कृति में उनकी नाट्यप्रतिभा, कल्पना-प्रचुरता, भाषालालित्य, रस-परिपाक तथा मानवमनोविकारों के मार्मिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता अत्यंत विशद रूप से प्रकट हुई है। भारतीय समालोचकों की सम्मति में यह संस्कृत साहित्य का सर्वोत्तम नाटक है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'। स्वयं कालिदास के ग्रंथों में भी 'शाकुन्तल' सर्वश्रेष्ठ है—'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्'।

'शाकुन्तल' की लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। शृंगार-प्रधान होने पर भी उसमें सभी रसों की मार्मिक और मनोहर व्यंजना हुई है। उसका कथानक मालविकाग्निमित्र के कथानक की भांति जटिल नहीं है। उसके विभिन्न प्रसंगों का मेल इस कौशल से कराया गया है कि प्रेक्षकों की उत्सुकता अंत तक बनी रहती है। उसमें विविध घटनाओं का उत्तरोत्तर विकास बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित है। प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक प्रसंग सहेतुक है; उसका एक शब्द भी अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त नहीं है। उदाहरणार्थ, पांचवें अंक में हंसपदिका के गीत को लीजिए। उसमें शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान की ओर बड़ा ही सूक्ष्म और सुकुमार संकेत है। घटनाओं का घात-प्रतिघात भी खूब हुआ है। अन्तर्द्वन्द्व भी पांचवें अंक में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

'शाकुन्तल' की भाषा अत्यन्त प्रांजल, परिमार्जित, परिष्कृत और प्रसादपूर्ण है। उसमें कहीं भी क्लिष्टता या दूरान्वय का दोष नहीं। बीच बीच में ऐसे चुस्त और मुहाविरेदार वाक्यों का प्रयोग हुआ है जिनसे भाषा में एक अपूर्व सजीवता आ गई है। उदाहरण के लिये जब अनसूया प्रियंवदा से यह कहती है कि दुर्वासा के शाप की बात शकुन्तला के कानों तक न पहुँचने पावे तो प्रियंवदा उत्तर देती है—'क इदानीमुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति'—'भला कौन ऐसा होगा जो जूही की लता को खौलते जल से सींचेगा ?' इसी प्रकार के कुछ चुने हुए वाक्य नीचे दिये जाते हैं—'अयि आत्म-गुणावमानिनि, क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति', 'आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्', 'हला, पश्य नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति दुष्कर-महं करोमीति', 'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशांकलेखामनुवर्तेते', 'दिष्ट्या-ऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरं वर्जयित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते', 'एष नाम

अनुग्रहो यत् शूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः', 'हा धिक्, हा धिक्, सति खलु दीपे व्यवधानदोषेण एषोऽन्धकारदोषमनुभवति', 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः', 'सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावपि युवामारण्यकौ।', 'क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।'

कालिदास ने प्रत्येक पात्र के मुख से उसके अनुरूप ही कथोपकथन कराया है। यज्ञयागादि तथा अध्यापन-कार्य में सदा संलग्न रहने वाले महर्षि कण्व के मुख से ऐसी ही उक्तियां निकलती हैं जो उनके पद के सर्वथा अनुरूप हैं। दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का अनुमोदन करते हुए वे कहते हैं—'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता'—हर्ष है कि धूम से आकुल दृष्टि वाले यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी।' शकुन्तला को विदा करते समय कण्व कहते हैं—'वत्से सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृत्ता'—'बेटी, सुपात्र शिष्य को दी गई विद्या के समान तू भी सर्वथा अशोच्य है।' विदूषक की उक्तियों में प्रायः उसके पेटूपन की ही झलक मिलती है। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के बढ़ते हुए आकर्षण को देख वह कहता है कि 'पके खजूर के मीठे फलों से ऊब कर जैसे कोई इमली चखने की इच्छा प्रकट करे, इसी प्रकार आप भी अन्तःपुर की रानियों के सौन्दर्य से परितृप्त होकर इस मुनिकन्या के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं।'

'शाकुन्तल' में कालिदास की शैली का अत्यंत विकसित एवं परिष्कृत रूप देख पड़ता है। शब्दों का सुकुमार विन्यास, छन्दों का स्वरमाधुर्य तथा सूक्ष्म व्यंजनावृत्ति, इन विशेष गुणों के कारण कालिदास की शैली में अपूर्व रमणीयता आगयी है। 'शाकुन्तल' की रम्य कल्पना के लिये यह शैली सर्वथा अनुरूप है। शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन में उनकी मसृण पदावली का नमूना देखिए—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥
'सिवार की घास में लिपटा हुआ भी कमल अत्यंत रमणीय प्रतीत होता है। काले धब्बों से युक्त होने पर भी चन्द्रमा की शोभा कम नहीं होती। इसी प्रकार वल्कलवस्त्र धारण करने पर भी यह शकुन्तला अधिक मनोहर लग रही है। सच है, सुन्दर आकृतिवालों के लिये कौनसी वस्तु शोभावर्धक नहीं हो जाती ?'

सुन्दर उपमाओं का तो 'शाकुन्तल' भंडार ही है। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के अप्रतिम एवं अनवद्य सौन्दर्य का प्रथम साक्षात्कार कर दुष्यन्त अपना हृद्गत उद्गार प्रकट करते हैं—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ २।१०

'अहा! यह वह कमनीय कुसुम है जिसे सूंघने का सौभाग्य अभी किसी को प्राप्त नहीं हुआ; यह वह सुकुमार नूतन किसलय है जिस पर किसी के नाखून की खरोंच नहीं लगी; यह वह रत्न है जो अभी तक बिंधा नहीं है; यह वह ताजा मधु है जिसे अभी तक किसी ने चखा नहीं। न जाने विधाता किसे पूर्वजन्म के समस्त पुण्यों के सारभूत इस निष्कलंक सौन्दर्य का उपभोग करने वाला बनायेगा ?' वल्कल-धारिणी शकुन्तला सिवार में लिपटे हुए कमल के समान है। दुष्यन्त के दरबार में कण्व के जटाधारी तापस शिष्यों के बीच लावण्यवती शकुन्तला ऐसी प्रतीत होती है जैसे पीले सूखे पत्तों के बीच कोई नूतन सुकुमार किसलय। दरबार में सामने खड़ी आपन्नसत्त्वा शकुन्तला के अलौकिक रूपलावण्य को देख दुविधा में पड़े दुष्यन्त की वही दशा हो रही है, जो उस भ्रमर की होती है जो प्रातःकाल तुषारबिन्दुगर्भित

कुन्दकलिका का न तो मकरन्द ही पान कर सकता है और न उसे छोड़ अन्यत्र ही जा सकता है। स्वभावोक्ति भी शाकुन्तल की शैली का प्रमुख लक्षण है। पहले अंक में भागने हुए भयविह्वल मृग का (१।७), रथ के अश्वों की द्रुतगति का (१।८) तथा तपोवन का (१।१४) वर्णन स्वभावोक्ति के प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

कालिदास की शैली की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसमें किसी भाव का बहुत लंबा चौड़ा वर्णन न करके उसकी सूक्ष्म एवं मार्मिक व्यंजनामात्र कर दी जाती है। दुष्यन्त जब पहले पहल शकुन्तला को देखते हैं तो अपने हृद्गत भावों का विशद वर्णन करने के स्थान पर केवल एक वाक्य मे अपने आनन्दातिरेक को व्यंजित करते हैं—'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्'। 'शाकुन्तल' में कई स्थलों पर इसी ध्वन्यात्मक शैली का आश्रय लेकर भविष्य की घटनाओं की ओर सूक्ष्म संकेत हुआ है। प्रस्तावना में ही ग्रीष्मऋतु के वर्णन—'दिवसाः परिणाम-रमणीयाः'—से नाटक के सुखद अंत की सूचना मिलती है। नटी के गायन में (१।४) 'शिरीष कुसुम' का संकेत शकुन्तला की ओर, 'भ्रमर' का दुष्यन्त की ओर तथा 'ईषदीषच्चुम्बितानि' का नाटक के पूर्वार्ध में दुष्यन्त और शकुन्तला के अल्पस्थायी मिलन की ओर है। सूत्रधार की 'आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया तत्' इस उक्ति से दुष्यन्त का शकुन्तला को भूल जाना और फिर अंगूठी देखने पर उसे स्मरण करना सूचित होता है।

'शाकुन्तल' में संगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओं का यथास्थान आकर्षक प्रयोग हुआ है। उसमें अनेक ऐसे भावपूर्ण स्थल हैं जिन पर उत्कृष्ट कोटि के चित्र बनाये जा सकते हैं। कालिदास के चित्रकलावैदग्ध्य का एक नमूना देखिए। शकुन्तला के स्वरचित अधूरे चित्र को देख दुष्यन्त कह रहे हैं कि अभी इस चित्र में इन इन बातों की कमी रह गई है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥६।१७

'इस चित्र में एक तो मालिनी नदी का दृश्य होना चाहिए जिसके रेतीले तट पर हंसों के जोड़े बैठे हों। उसके समीप ही हिमालय की पावन उपत्यका का दृश्य हो जहां हरिण बैठे हुए जुगाली कर रहे हों। फिर एक विशाल वृक्ष हो, जिसकी शाखाओं पर सूखने के लिए वल्कल-वस्त्र लटक रहे हों और जिसके नीचे एक काले मृग के सींग से उसकी सहचरी हरिणी अपनी बाईं आंख की कोर धीरे धीरे खुजला रही हो।'

'शाकुन्तल' में अन्तःप्रकृति और बाह्य-प्रकृति दोनों का सुन्दर सामंजस्य घटित हुआ है। यह विशेषता नाटक के प्रारंभ से ही स्पष्ट देख पड़ती है। प्रस्तावना में नटी के गायन में—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि ।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥ १।४

मनुष्य की प्राकृत तथा अल्पस्थायी कामुकता की झांकी प्रकृति के प्राणियों की चेष्टाओं में भी दिखाई गई है। भ्रमर का शिरीष-पुष्प की मनोहरता से आकृष्ट हो एक क्षण के लिए उसका रस लेकर उसे छोड़ देना उसी प्रकार है जिस प्रकार दुष्यन्त का शिरीष-सुकुमार शकुन्तला से कुछ समय तक प्रणय कर उसे भूल जाना। बाह्य-प्रकृति और मानवमनोभावों का सुन्दर सामंजस्य चौथे अंक में अपूर्व रूप में प्रस्फुटित हुआ है। प्रोषितभर्तृका शकुन्तला की दशा का प्रकृति के साथ कैसा मार्मिक संबंध स्थापित किया गया है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ ४।३

'चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी अब नेत्रों को आनन्द प्रदान नहीं करती। उसकी शोभा की केवल स्मृति रह गई है। सच है, प्रियतम (दुष्यन्त) के प्रवास के कारण अबला (शकुन्तला) की मनोव्यथा अवश्य ही असह्य होजाती है।' शकुन्तला को विदा करते समय महर्षि कण्व तपोवन के तरुओं को संबोधन करके कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ ४।९

'जो आप लोगों को सींच कर जब तक पानी नहीं पिला लेती थी तब तक स्वयं कभी जल नहीं ग्रहण करती थी, जो अत्यधिक शृंगारप्रिय होने पर भी आप लोगों के प्रति स्नेह होने के कारण कभी कोई किसलय या कोंपल नहीं तोड़ती थी, जो आपके पहले फूलों को देखकर आनन्द से नाच उठती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जारही है। आप सब उसे जाने की अनुमति प्रदान करें।' शकुन्तला के जाने से सारा तपोवन व्याकुल होरहा है—

उद्गलितदर्भकवलाः मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥ ४।१२

'हरिणियों के मुख से अधचबाई घास गिर पड़ती है। मोर नाचना बन्द कर देते हैं। लताएं गिरते हुए सूखे पत्तों के बहाने आंसू बहा रही हैं।' शकुन्तला अपनी नवज्योत्स्ना नामक लताभगिनी का स्नेहपूर्वक आलिंगन करती है। आश्रम की गर्भिणी मृगी का प्रसव-संवाद भेजने के लिये वह कण्व से साग्रह प्रार्थना करती है। शकुन्तला का प्यारा मृगशावक उसका वस्त्र पीछे से खींच कर उसे रोक रहा है। शकुन्तला को जाते देख कण्व का गला रुंध जाना सहज है, प्रियंवदा और अनसूया की विह्वलता भी बोधगम्य है,

परन्तु अंतःकरण की करुणदशा को व्यक्त करने वाली प्रकृति की यह मूकवाणी अभूतपूर्व है।

'शाकुन्तल' में शिष्ट हास्य तथा परिष्कृत परिहास का भी मनोहर पुट देख पड़ता है। शकुन्तला अनसूया से कहती है कि प्रियंवदा ने मेरी कंचुकी बहुत तंग बांध दी है, इसलिये ज़रा उसे ढीला करदो। इस पर परिहास-प्रिय प्रियंवदा कहती है कि तुम मुझे क्यों दोष देती हो; अपने यौवन को उलाहना दो जिसने तुम्हारे उरोजों का विस्तार कर दिया है। द्वितीय अंक के प्रारंभ में विदूषक का मृगया-वर्णन बड़ा ही रोचक एवं विनोदपूर्ण है। सेनापति जब राजा के सामने मृगया के गुणों की प्रशंसा करता है तो विदूषक उसे फटकारता हुआ उत्तर देता है—'अपेहि रे उत्साहहेतुक! अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिका-लोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।'—'दूर हटो, बड़े उत्साह बढ़ाने वाले आये! महाराज अब शान्तचित्त है। जाओ, तुम्हीं जंगल जंगल भटकते फिरो। भले ही किसी बूढ़े भालू के मुख का शिकार बनोगे, जो आदमी की नाक चट करने को हमेशा तरसा करता है।' छठे अंक में जब वसंत की आम्रमंजरी को विरहपीड़ित दुष्यन्त मदन-बाण कहते हैं, तब मन्दबुद्धि विदूषक लाठी लेकर उन मदन-बाणों का नाश करने के लिये दौड़ पड़ता है! यह देख कर दुखी राजा भी अपनी हंसी नहीं रोक सकते। इसी अंक के प्रवेशक में धीवर तथा पुलिस के अधिकारियों में बड़ा विनोदपूर्ण कथोपकथन हुआ है।

कालिदास का चरित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख होते हुए भी सर्वथा स्वाभाविक और सजीव है। उसमें कहीं कृत्रिमता का लेश भी नहीं। नाटक के नायक और नायिका कवि की लेखनी का स्पर्श पाकर अमर होगये हैं। दुष्यन्त धीरोदात्त नायक हैं। उनकी मनोहर तथा गंभीर आकृति है। वे प्रभाववान् और

मधुरभाषी हैं—'चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते'। वे बलिष्ठ एवं पराक्रमशाली हैं (२।४;३।१), साथ ही विनय से शोभित हैं। वे ललितकलाओं के मर्मज्ञ हैं। हंसपदिका के संगीत को सुनकर उनका यह कहना—'अहो राग परिवाहिनी गीतिः'—उनकी संगीत-कलाभिज्ञता का परिचायक है। प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति भी उनमें खूब है (७।८)। वे एक कुशल चित्रकार हैं (६।१७)। ऋषि-मुनियों तथा आश्रमों के प्रति उनके हृदय में अगाध सम्मान है। उनकी गंभीरता शार्ङ्गरव की कटूक्तियों से भी स्खलित नहीं होती। जैसा उनका मनोरम बाह्यरूप है वैसा ही स्निग्ध, ललित एवं सुसंस्कृत स्वभाव भी है। यह उनके शकुन्तला के साथ प्रणय-संभाषण से प्रकट होता है। 'आश्रमललामभूता' शकुन्तला के अनुपम रूप-लावण्य को देख उसकी ओर उनका आकृष्ट होना स्वाभाविक था। किन्तु एक भद्र पुरुष की भांति उन्होंने यह जान लेना नितान्त आवश्यक समझा कि उसका विवाह हो चुका है या नहीं, उसके साथ प्रेम करना धर्मसंगत है या नहीं (१।२०)। यह जान लेने के बाद ही वे उस पर अनुरक्त होते हैं (१।२५)। कालिदास के अन्य नाटकों के नायकों के समान दुष्यन्त भी बहुपत्नीक हैं, पर शकुन्तला के प्रति उनका प्रेम वास्तविक और निश्छल है (३।१८)।

किन्तु दुष्यन्त एक मनुष्य हैं और उनमें मानवोचित दुर्बलताएं भी हैं। नाटक के पहले भाग (अंक १-३) में उनका पतन हुआ है, द्वितीय भाग (४-५) में उठने की चेष्टा और तृतीय भाग (६-७) में उनका उत्थान हुआ है। दुष्यन्त के चरित्र का महत्व इसी पतन और उत्थान में है। मृगया के लिये घूमते हुए आश्रम में प्रवेश करने के बाद शकुन्तला को देखकर, जहां तक संभव था, उनका पतन हुआ। छुपछिप कर वयस्क कन्याओं की विनोद भरी क्रीड़ाएं देखना, अपना मिथ्या परिचय देना, देखते ही शकुन्तला को उपभोग के योग्य नारी समझ लेना, माता की आज्ञा पर ध्यान न देना, विदूषक

को छल से राजधानी भेज देना और उससे असत्य बोलना (२।१८), विवाह के बाद कण्वमुनि के आने के पहले ही हस्तिनापुर चले जाना आदि उनके ऐसे कार्य हैं जो उनकी मानवोचित दुर्बलता के परिचायक हैं। राजधानी में आकर शकुन्तला को भूल जाना उनके पतन की चरम सीमा है। किन्तु इसके बाद कवि ने बड़े कौशल से उन्हें ऊपर उठाया है। किसी भी सुन्दर स्त्री को देखकर मोहित हो जाने की मधुकरवृत्ति उनमें नहीं है—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्', 'अनार्यः परदार-व्यवहारः'। उनकी असाधारण धर्मपरायणता का परिचय पाँचवें अंक में मिलता है। एक असाधारण रूपवती युवती उनसे पत्नीभाव की भिक्षा माँग रही है। एक ओर अलौकिक रूप है, ऋषि का क्रोध है, नारी का अनुनय-विनय है; दूसरी ओर धर्म का भय है। राजा के इस दृढ़ व्रत को देखकर कंचुकी विस्मित होकर कह उठता है—'अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः! ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति।'

छठे अंक में हम देखते हैं कि शकुन्तला के साथ परिणय का वृत्तान्त दुष्यन्त को याद हो आया है। दुखी होकर वे राज्य भर में वसंतोत्सव बन्द करा देते हैं। रमणीय वस्तुएं उन्हें नहीं भातीं (६।५)। पर इतने शोक में भी वे अपने कर्तव्य को नहीं भूले हैं। न्याय और धर्म के अनुसार वे राजकार्य में संलग्न हैं।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

राजा की इस आज्ञा में 'उनके शोक, उनके धर्मज्ञान, उनके कर्तव्य और स्नेह, उनके वर्तमान और अतीत का अपूर्व संयोग है'। वणिक् धनमित्र की पुत्रहीनता और उसकी विधवाओं का शोक राजा की अपनी पुत्रहीनता और शोक में आकर मिल गया। सातवें अंक में राजा और ऊपर उठते हैं। हेमकूट पर्वत पर उनकी पुत्रवत्सलता का

परिचय हमें मिलता है (७।१७)। शकुन्तला से मिलकर वे महाभारत के दुष्यन्त के समान गर्वपूर्वक यह नहीं कहते—

यच्च कोपितयाऽत्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे॥

अपितु उसके पैरों पर गिरकर क्षमा-याचना करते हैं। संपूर्ण नाटक को पढ़ने के बाद अंत में हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि 'दुष्यन्त कोरे कामुक नहीं हैं, वे प्रेमी हैं, पुत्रवत्सल हैं, कवि हैं, चित्रकार हैं और कर्तव्यपरायण राजा भी हैं। उनका चरित्र महान् है, सुन्दर है, किन्तु कवि ने चन्द्र के कलंक को नहीं पोंछा।'

शकुन्तला का चरित्र-चित्रण करने में कवि ने अपनी सारी प्रतिभा का उपयोग किया है। उसका अतुलनीय सौन्दर्य मोहक होने के साथ नैसर्गिक भी है (अव्याजमनोहरं वपुः)। महर्षि कण्व के आश्रम की वह मानो साक्षात् वनश्री है। लता-वृक्षों के प्रति उसका सोदर-स्नेह है। प्रकृति की गोद में पलकर उसने सारी चराचर सृष्टि से प्रेम करना सीखा है। पिता कण्व के प्रति उसके हृदय में निस्सीम प्रेम है। प्रियम्वदा और अनसूया तो उसके प्राणों में घुल-मिल गयी हैं। काम-शास्त्र से वह सर्वथा अनभिज्ञ थी। पर दुष्यन्त की धीर गम्भीर आकृति, मधुर भाषण और असामान्य पराक्रम से उसके मन में एक अननुभूत प्रेमविकार उत्पन्न होता है—'किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'। स्वाभाविक लज्जा के कारण उसने अपना प्रेमविकार सखियों पर प्रकट नहीं किया। उनके बहुत आग्रह करने पर ही उसने अपनी मदनव्यथा प्रकट की। अपने प्रिय के संमुख भी वह लज्जा का परित्याग नहीं करती—'पौरव रक्ष विनयम्। मदनसंतप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।' इससे उसका स्वात्माभिमान तथा गुरुजनों के प्रति आदर की भावना प्रकट होती है।

'शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी प्रेमिका है, शान्ति की गोद में पली होने पर भी चपल है।' वह एक नारी है, और नारी-हृदय के प्रेम, उमंग और उल्लास की उसमें पर्याप्त मात्रा है। दुष्यन्त की भांति उसके चरित्र का महत्व उसके पतन और उत्थान में है। उसका प्रायश्चित्त उसके प्रत्याख्यान से शुरू होता है और विरहव्रत से पूर्ण होता है। उसका प्रथम प्रेम उद्दाम और प्रबल था। इस प्रेम ने पांचवें अंक में एक प्रबल धक्का खाया। इसी स्थल पर शकुन्तला के नारीत्व का प्रदीप्त स्वरूप हमारे सामने आता है। जब दुष्यन्त ने सारी स्त्री-जाति पर 'अशिक्षितपटुत्व' का अपवाद लगाया (५।२२), तब शकुन्तला का गर्व चोट खाकर जाग उठा। तिलमिला कर उसने राजा को 'धर्म का चोला पहने, तृण से ढके कूप के समान' कह डाला। उस समय क्रोध से लाल उसके मुखमंडल को देख दुष्यन्त स्तंभित हो उठते हैं (५।२३)।

सातवें अंक में शकुन्तला विरहिणी की अवस्था में देख पड़ती है। प्रत्याख्यान किये जाने पर भी वह सदैव पति का ही चिन्तन करती है। इस समय उसका सारा स्नेह अपने पुत्र में संचित हो गया है। बालक ने जब पूछा कि ये (दुष्यन्त) कौन हैं, तब शकुन्तला कहती है—'वत्स, ते भाग्यधेयानि पृच्छ'—'बेटा, अपने भाग्य से पूछ।' इस उत्तर में 'पुत्रस्नेह, पति का अन्याय, दैव का अत्याचार सब कुछ है; पुत्र के प्रति, स्वामी के प्रति, विधाता के प्रति साध्वी शकुन्तला का उज्ज्वल अभिमान प्रकट है।' दुष्यन्त पर क्रोध करने के बदले वह अपने भाग्य को ही दोष देती है। इस प्रकार कालिदास की शकुन्तला प्रेमिका से अन्त में देवी के पद पर पहुंच जाती है। स्नेह, सौहार्द, लज्जा, तेज और करुणा की वह एक मनोहर मूर्ति है।

अन्य चरित्रों का भी कालिदास ने कुशलता के साथ निर्माण किया है। कण्व के रूप में स्नेहपरायण पिता का हृदयस्पर्शी चित्र

अंकित है। शकुन्तला की सखी अनसूया गंभीर, दूरदर्शी और व्यवहार-कुशल है। प्रियंवदा मधुरभाषिणी, सदा आनंदित रहने वाली और विनोदशील है। खेद है कि कवि ने चौथे अंक के बाद इन दोनों स्नेहमयी सखियों के जीवन पर प्रकाश नहीं डाला। विदूषक माढव्य विनोदी, उदर-परायण और भीरु है। शार्ङ्गरव शीघ्रकोपी और स्पष्टवक्ता है। शारद्वत सौम्य और विवेकशील है। इनके अतिरिक्त शकुन्तला की मातृस्थानीय गौतमी, सिंह के बच्चे के दांत गिनने वाला निर्भीक सर्वदमन, गरीब किन्तु स्वाभिमानी धीवर, रिश्वतखोर सिपाही, खुशामदी सेनापति—सभी का सजीव एवं सरस चित्रण हुआ है।

'शाकुन्तल' में कवि ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित किया है। उस समय वर्णाश्रम-धर्म पूर्णरूप से प्रतिष्ठित था। ब्राह्मण यज्ञ-यागादि एवं अध्ययन-अध्यापन कार्य में संलग्न थे। क्षत्रिय दुष्टों के दमन में कटिबद्ध थे। वैश्य समुद्रयात्रा द्वारा दूर दूर के देशों से व्यापार कर राष्ट्र की आर्थिक उन्नति में योग देते थे। शूद्र भी अपने उद्योगों से राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति में हाथ बंटाते थे। परम्परागत कर्म निन्दित होने पर भी त्याज्य नहीं समझा जाता था[1]। लोग गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पूरे करके वानप्रस्थी बनकर तपस्या करने के लिये वन में चले जाते थे। नृपतिगण भयग्रस्त मनुष्यों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। राजा प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था[2]। दुष्यन्त की प्रजा में निम्नवर्ग के लोग भी कुमार्गगामी नहीं थे (५।१०)। राजा सदैव प्रजाहित में तत्पर रहता था[3]। राजा को प्रजा की आय का छठा भाग कर रूप में लेने का अधिकार था। इसीलिये वह 'षष्ठांश-वृत्ति' (५।४) कहलाता था। न्याय निष्पक्ष होने पर भी कठोर

१—सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु कर्म विवर्जनीयम्। ६।१

२—प्रजाः प्रजाः स्वा इव तंत्रयित्वा। ५।५, ३—प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः। ७।३५

नहीं था। धनी व्यापारी धनमित्र के निःसन्तान मरने पर राजनियमानुसार उसकी सारी संपत्ति राजा की थी। किन्तु निर्लोभी और दयालु राजा ने उसकी गर्भवती विधवा को वह संपत्ति दे देने की आज्ञा दी। अपनी वृद्धावस्था में राजा अपने पुत्र को राज्य सौंप कर स्त्री-सहित किसी आश्रम में जाकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करते थे (४।९)। कैदी को या अपराधी को मारने के लिये उस समय भी पुलिस के अधिकारियों के हाथों में खुजली उठा करती थी। रिश्वत लेने में भी वे लोग खूब अभ्यस्त थे।

कालिदास ने तत्कालीन पारिवारिक एवं सामाजिक प्रथाओं का भी सजीव चित्र उपस्थित किया है। धनिक-वर्ग में तथा राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। पुत्र का न होना दुर्भाग्य समझा जाता था। पुरुषों का स्त्रियों के प्रति शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार होता था। उच्चकुल की महिलाएं जनसमूह में पर्दा किया करती थीं। दुष्यन्त के दरबार में शकुन्तला 'अवगुण्ठनवती' होकर आयी थी। पति के साथ गुरुजनों के संमुख जाने में स्त्रियां लज्जा का अनुभव करती थीं—'जिह्रेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्'। पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार होता था (५।२६)। कन्याओं का वयस्क होने पर विवाह होता था। लोग शकुन और अपशकुनों पर विश्वास करते थे। उस समय स्त्रियां शिक्षित हुआ करती थीं। प्रियंवदा और अनसूया दोनों साक्षर थीं। दुष्यन्त की अंगूठी पर अंकित नाम पढ़ कर ही उन्हें उनके राजा होने की बात मालूम हुई। शकुन्तला ने अपने प्रेमपत्र में अपना प्रणयभाव जिस मार्मिक ढंग से व्यक्त किया उससे उसकी शिक्षा तथा भावप्रकाशन-पटुता का परिचय मिलता है। लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त स्त्रियों को चित्रकला, संगीत, गृहकृत्य आदि उपयोगी विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों के लिये प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान भी आवश्यक था। अपने प्यारे

मृगशावक के घाव पर इंगुदी का तेल लगा कर शकुन्तला ने उसकी चिकित्सा की थी (४।१४)।

'शाकुन्तल' में उस समय के धार्मिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की ओर भी संकेत है। बुरे ग्रहों की शान्ति के लिये तीर्थयात्रा आदि मांगलिक कार्य संपन्न होते थे। राष्ट्र के जीवन में आश्रमों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। आश्रमों की रक्षा करना राजा का धर्म था। वहां जीवहिंसा न होने का कड़ा नियम था। बालक-बालिकाओं दोनों की शिक्षा के लिये इन आश्रमों में समुचित प्रबंध था (१।१३)। आश्रमों का वायुमण्डल पावन एवं रमणीय था (१।१४;७।११)। हेमकूटपर्वत पर स्थित मारीच-आश्रम के विषय में दुष्यन्त कहते हैं—'स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।' तपस्या के अद्भुत प्रभाव पर कालिदास ने स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला है। 'शाकुन्तल' के अंतिम पद्य में कवि ने सामाजिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों का अटूट संबंध दिखाते हुए आध्यात्मिकता को ऊंचा पद दिया है—

> प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
> ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

'शाकुन्तल' की सबसे बड़ी विशेषता उसका अमर संदेश है। शकुन्तला और दुष्यन्त प्रणय के प्रथम आवेग में विवाह कर लेते हैं, किन्तु प्रेम का वास्तविक मूल्य उन्होंने नहीं पहचाना था। इसलिये कवि को उन्हें एक पाठ पढ़ाना था—

> अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
> अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्॥

'एकान्त की मित्रता बहुत विचार कर करनी चाहिए। नहीं तो जिसके हृदय को अच्छी तरह नहीं पहचाना, उसके प्रेम का पर्यवसान वैर में होता है।' प्रेमी-प्रेमिका को पश्चात्ताप और वियोग की करालाग्नि में हृदय-शुद्धि करनी पड़ती है, तब कहीं वे सच्चे स्नेह की सरिता तक

पहुंचते हैं—'न बिना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते'। कवि रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है कि 'शकुन्तला के आरंभ के सौन्दर्य ने मंगलमय परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को अमृत के साथ सम्मिलित करा दिया है।' प्रसिद्ध जर्मन-कवि गेटे ने इस नाटक का अनुवाद पढ़कर जो उसकी प्रशंसा की है वह अक्षरशः ठीक है—

> Wouldst thou the young year's blossoms and the fruits of its decline,
> And all by which the soul is charmed, enraptured, feasted, fed ?
> Wouldest thou the earth and heaven itself in one sole name combine ?
> I name thee, O Shakuntala, and all at once is said.

इसका महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी-कृत सुन्दर संस्कृत रूपान्तर देखिए—

> वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
> यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
> एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
> रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

'यदि यौवन-वसंत का पुष्पसौरभ और प्रौढत्व-ग्रीष्म का मधुर फलपरिपाक एकत्र देखना चाहते हो, अथवा अन्तःकरण को अमृत के समान संतृप्त एवं मुग्ध करने वाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हो, अथवा स्वर्गीय सुषमा एवं पार्थिव ऐश्वर्य इन दोनों के अभूतपूर्व संमिलन की अपूर्व झांकी करना चाहते हो, तो एक बार अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुशीलन करो।'

सौन्दर्य और प्रेम के कवि कालिदास—यों तो सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण संसार के सभी उत्कृष्ट कवियों ने किया है, फिर भी कालिदास ने इन दो विषयों के वर्णन में अपनी जिस

असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है, वह उन्हें शृंगाररस के कवियों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करती है। कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य को बाह्य-साधनों की अपेक्षा नहीं (शा० १।१८)। वास्तविक सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में मनोरम एवं रमणीय होता है—'अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्'। उसकी चारुता उसके 'अक्लिष्टकान्ति' होने में ही निहित है। कालिदास का मत है कि समस्त दृश्य प्रकृति में जो सौन्दर्य या रमणीयता फैली हुई है, मानवीय लावण्य उसी का अंगभूत है। इसीलिये वे स्त्री-सौन्दर्य की तुलना प्रकृति की लताओं और पुष्पों से करते हैं—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ॥शा० १।१९

'शकुन्तला का अधर कोमल किसलय के समान रक्तवर्ण है। उसकी सुकुमार भुजाएं लता की कोमल शाखाओं के समान हैं। उसके अंगों में यौवन (उरोज) खिले हुए पुष्प के समान आकर्षक हैं।' जिस अनुपम सौन्दर्य को अलंकृत करने के स्थान पर आभूषण स्वयं उससे अलंकृत होते हैं[1], प्रकृति के पुष्प उस सौन्दर्य की शोभा में भी अभिवृद्धि अवश्य करते हैं। तभी तो अलका की रमणियां हाथ में लीलाकमल, केशपाश में कुन्दकली, मुख पर लोध्र पुष्प का पराग, कानों में सुन्दर शिरीषपुष्प और सिर की मांग में कदम्ब-पुष्प धारण किया करती थीं। कालिदास के अनुसार आकृति की सुन्दरता और हृदय की वक्रता दोनों साथ साथ नहीं रह सकतीं—'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति'। रमणीरूप के वर्णन में कालिदास अद्वितीय हैं। निम्नलिखित पद्य में पार्वती की मुस्कराहट का क्या ही मनोरम वर्णन है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥कु० १।४४

१—आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ विक्रमोर्वशीय २।३

'यदि जूही की कलियां चुनकर अरुणवर्ण के कोमल किसलयों पर सजा दी जायं, अथवा लाल लाल मूंगों पर मोतियों के दाने तरतीब से बैठा दिये जायं, तब कहीं जाकर पार्वती के अरुण अधरों पर खेलनेवाली मुस्कराहट की उपमा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं।'

कालिदास ने मानव सौन्दर्य का ही वर्णन नहीं किया है, प्राकृतिक सौन्दर्य का भी उन्होंने भव्य और हृदयग्राही चित्रण किया है—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥शा० १।७

'देखो, यह मृग कैसे मनोहर ढंग से अपनी गर्दन मोड़ मोड़ कर पीछे वेग से बढ़ने वाले इस रथ को बार बार देखता जा रहा है। कहीं बाण आकर चुभ न जायं, इस भय से यह अपने शरीर के पिछले हिस्से को समेट कर शरीर के अगले हिस्से में मानो घुसा जा रहा है। थकावट के कारण हांफने से इसके खुले मुख से अधचबाई घास गिरती जा रही है। इसकी लंबी लंबी छलांगों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हवा में तो अधिक और पृथ्वी पर कम ही चल रहा है।'

✓ कालिदास की दृष्टि में नारी केवल उपभोग की वस्तु नहीं है। वह गृहिणी है, सचिव है, सखी है और है समस्त ललित कलाओं में निष्णात गृहस्वामिनी। कण्व के मुख से उन्होंने परिवार का भूषण अथवा दूषण बननेवाली स्त्रियों का वर्णन कराया है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥शा०४।१८

'तुम गुरुजनों की सेवा करना, सौतों के साथ प्रिय सखियों के सदृश व्यवहार करना, पति के नाराज होने पर भी, कभी क्रोध के कारण

विरुद्ध आचरण न करना, परिजनों के प्रति उदार भाव रखना और ऐश्वर्य का गर्व कदापि न करना। स्त्रियां ऐसे आचरण से ही गृहिणी पद पाती हैं। इसके विरुद्ध आचरण करने वाली स्त्रियां कुल को रोग की तरह कष्ट पहुंचाने वाली होती हैं।'

कालिदास ने सौन्दर्य की परिणति प्रेम में मानी है—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'। उन्होंने प्रेम का आदर्श बहुत ही ऊँचा माना है। काम का कर्त्तव्य से विरोध नहीं होना चाहिए, यह उनकी सारी कृतियां घोषित कर रही हैं। शिव अर्थात् मंगल का विरोधी काम भस्मावशेष कर दिया जाता है। कालिदास ने प्रेम का मूलभूत कारण पूर्वजन्म का संस्कार माना है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥ शा० ५।२

'सुन्दर वस्तुओं को देख कर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कण्ठित हो जाता है। इसका कारण यही है कि वह किसी पूर्वजन्म में होनेवाली मैत्री का अज्ञातभाव से स्मरण करने लगता है। मन बिना किसी कारण के उस सौहार्द की ओर चला जाता है।' 'मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्' कह कर कालिदास ने रघुवंश (७।१५) में इसी सिद्धान्त को पुनः प्रतिपादित किया है। प्रेम की इतिश्री इसी जन्म में नहीं हो जाती। परित्यक्ता सीता कहती हैं—'भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः।'

प्रेमी-प्रेमिका के मधुर संबंध का कालिदास ने बड़ी सहृदयता से चित्रण किया है। पर प्रिया के विरह से बढ़ कर संसार में और कोई उग्रतर दैवदुर्विपाक नहीं हो सकता। विरही के लिये शीतल चन्द्रमा आग का गोला, उसकी किरणें वज्र के बाण बन जाती हैं—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥ शा० ३।३

कालिदास ने अपने नाटकों में स्त्रियों के प्रथम प्रेम का तथा पुरुषों के अपर प्रेम का दिग्दर्शन कराया है। इससे उनका अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में प्रेम की कोमलता स्वाभाविकरूप से विद्यमान रहती है, किन्तु पुरुषों में उसका प्रादुर्भाव वासना के वेग के शान्त होने पर होता है। कालिदास कहते हैं कि स्त्री में जब प्रेम की उद्भूति होती है, तब वह उसे शब्दों द्वारा नहीं, बल्कि सुकुमार हावों द्वारा व्यक्त करती है—'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु'। प्रेम-परवश किन्तु संकोचशील शकुन्तला के उदीयमान प्रेम का मधुर दृश्य देखिए—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥ शा०२।१२

'अवसर न होने पर भी पैर में कुश का कांटा लग जाने का बहाना करके, वह सुन्दरी कुछ दूर जाकर ठिठक गई और झाड़ी की शाखा में वल्कल वस्त्र न फंसने पर भी उसको छुड़ाने के बहाने वह मुझे बारबार मुड़ कर देखने लगी।'

यह स्मरण रखना चाहिए कि कालिदास ने भ्रमरवृत्ति का पक्ष नहीं लिया है, प्रत्युत दाम्पत्य-प्रेम को ही महत्व दिया है। परस्त्री की ओर दृष्टिपात करना भी वे अनुचित समझते हैं। दुष्यन्त कहते हैं—

कुमुदान्येव शशांकः सविता बोधयति पंकजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥ शा० ५।२८

'चन्द्रमा केवल कुमुदों को तथा सूर्य केवल कमलों को विकसित करता है। संयमी पुरुषों का मन परस्त्री-प्रेम से सर्वथा विमुख रहता है।' कुमारसंभव के पांचवें सर्ग में कालिदास ने कहा है कि प्रेम का

ज्वार लोकापवाद की परवा नहीं करता—'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अमर्यादित प्रेम का समर्थन करते है। उनके नाटकों का कमनीय काव्य-सौन्दर्य किसी बीभत्स घटना, आत्यंतिक आवेश अथवा अस्वाभाविक व्यापार से आक्रान्त नहीं होता।

कालिदास का प्रकृति-वर्णन—कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुजारी थे। उनके सजीव एवं विशद प्राकृतिक वर्णन हमारे कल्पना-चक्षु के संमुख एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देते हैं। बाह्य दृश्यों के इस संश्लिष्ट एवं रूपयोजनात्मक चित्रण से उनके प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम का परिचय मिलता है। उनके प्रकृति-वर्णन में निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की सरसता तथा कल्पना की कमनीयता पायी जाती है। हां, यह अवश्य है कि उन्होंने प्रधानतया प्रकृति के केवल भव्य, मनोरम और सौन्दर्य-समुज्ज्वल पक्ष का ही वर्णन किया है। प्रकृति के मधुर तथा कोमल पहलू का एक स्निग्ध चित्रण देखिए—

> क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
> अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
>
> क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः।
> अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
>
> क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
> अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा॥
>
> क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
> पश्यानवद्याङ्गि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥
>
> रघुवंश, १३।५४-५७

'हे निर्दोष अंगोंवाली सीते! जरा गंगा और यमुना के संगम को देखो। यमुना की तरंगों से मिलता हुआ गंगा का प्रवाह कितना सुन्दर प्रतीत होता है! कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मोतियों की लड़ी में चमकीले नीलम पिरो दिये गये हों, कहीं ऐसा भान होता है कि श्वेत

कमलों की माला में नील कमल बीच बीच में गुंथे हों। कहीं नील हंसों की श्रेणी में आ मिलने वाली मानस-प्रेमी-उज्ज्वल हंसों की पंक्ति के समान, कहीं कालागुरु की चित्ररेखाओं से सुशोभित भूतल की चन्दन-चर्चित चित्रकारी की भांति, कहीं वृक्षों की छाया में अन्धकार से मिलनेवाली धवल चन्द्रिका के समान, कहीं शरत्कालीन शुभ्र मेघखंडों के अन्तराल से देख पड़ने वाले नील नभःप्रदेश के समान और कहीं काले सर्पों से अलंकृत तथा भस्मांगराग से मंडित भगवान् शंकर के शरीर के समान गंगा-यमुना के संगम का यह मनोहर दृश्य शोभित हो रहा है।' क्या ही अलंकृत, विशद एवं रमणीय वर्णन है!

कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति और प्रेम का मधुर संबंध स्थापित किया है। उन्होंने प्रकृति को मुख्यतः एक प्रेमिका के रूप में देखा है। 'मेघदूत' का यक्ष अपनी प्रियतमा के अंगों की समता प्रियंगुलता में पाता है, चकित हरिणी की दृष्टि में उसके कटाक्षों का अनुभव करता है, चन्द्रमा में उसके मुख की शोभा निरखता है, मयूरपुच्छों में उसके अलकों का अनुमान करता है तथा नदी की लोल लहरियों में उसकी भौंहों की छवि निहारता है। पवन के झकोरों से थिरकती लताओं के रूप में नर्तकियों का कैसा सुन्दर एवं सजीव चित्र उपस्थित किया गया है—

> श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
> उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥ रघु० ९।३५

'उपवन में लताएं नाच रही हैं। भ्रमरों की श्रुतिमधुर गुंजार ही उनका मादक संगीत है। कोमल कुसुम कलियां उनके चमकते दांत हैं। वायु के झकोरों से हिलते किसलय उनके सुकुमार पाणिपल्लव हैं जिनसे वे मानों बीच बीच में ताल दे रही हैं।' चन्द्रमा अपनी प्रियतमा रजनी का चुम्बन कर रहा है—

> अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
> कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥ कु० ८।६३

'चन्द्रमा अपनी किरणरूपी सुकुमार अंगुलियों से रजनी के अंधकार-रूपी बिखरे केशपाश को धीरे से समेट कर उसके अर्धमुद्रित कमल रूपी नेत्रों वाले मुख-मण्डल का चुम्बन कर रहा है (श्लेष से, प्रदोपकाल का स्पर्श कर रहा है) ।'

मानवीय सौन्दर्य का मापदण्ड प्राकृतिक सौन्दर्य ही है । पार्वती की हृदयहारिणी आंखों की तुलना मृगी के नेत्रों से ही हो सकती है तथा उसके सौन्दर्य की समता पल्लवित लता से ही—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ कु० ३।५४

'अरुणोदयकालीन बालसूर्य के समान रक्तवर्ण के वस्त्रों को धारण किये हुई तथा उरोजों के भार से झुकी हुई पार्वती पूजा करने के लिये जा रही हैं । जान पड़ता है कि फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल लाल नये पल्लवों को धारण करने वाली कोई लता चली जा रही हो ।'

प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य इन दोनों में अपेक्षा-कृत कौन श्रेष्ठ है, इस प्रश्न का निर्णय कालिदास की कृतियों में कठिनाई से होता है । एक ओर तो मालविकाग्निमित्र में वे प्राकृतिक सौन्दर्य की श्रेष्ठता स्थापित करते हैं—

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम् ।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ॥ ३।५

'स्त्रियों के बिम्बासदृश अधरों की शोभा की अपेक्षा अशोक पुष्प का सौन्दर्य कहीं अधिक श्रेष्ठ है । श्याम, शुभ्र और अरुण वर्ण वाला यह कुरबक पुष्प उनके मुख पर चित्रित मकरिकापत्र को मात कर रहा है । इस भ्रमर-चुम्बित पुष्प के सामने उनके ललाट पर अंकित तिलक फीका पड़ जाता है । इस प्रकार यह मधुमास स्त्रियों की मुखप्रसाधन-

विधि की अवज्ञा कर रहा है ।' दूसरी ओर कुमारसंभव में वे रमणीरूप को प्रकृति के सौन्दर्य से श्रेष्ठ सिद्ध करते है--

> शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
> पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ कु० १।४१

'मेरी सम्मति में पार्वती के दोनों हाथ शिरीष पुष्प से भी अधिक सुन्दर हैं । क्योंकि कामदेव जब अपने पुष्पबाणों से शिव को वश में न कर सका तो उसने इन्हीं भुजलताओं को उनके कंठ का पाश बनाया ।'

कालिदास ने प्रकृति को मूक, चेतनाहीन अथवा निष्प्राण नहीं माना है । मानवप्राणियों की भाँति उसमें भी सुख-दुःख-संवेदना का भाव देख पड़ता है । 'मेघदूत' में जब यक्ष स्वप्न में अपनी पत्नी के दर्शन कर प्रसन्नता से आलिंगन करने के लिये अपनी भुजाएं पसारता है तब वनदेवताओं की आंखों से मोती के समान स्थूल अश्रु-बिंदु वृक्षों की पत्तियों पर गिर पड़ते हैं । रावण जिस मार्ग से सीता को ले गया था, वह मार्ग लताओं ने राम को अपनी शाखाओं और पल्लवों से सूचित किया था । हरिणियों ने दर्भांकुर चरना छोड़ दक्षिण दिशा की ओर दृष्टि करके वही कार्य किया था । विरहग्रस्त प्रेमी को तो प्रकृति अवर्णनीय सांत्वना एवं संतोष प्रदान करती है । मलयानिल अग्निमित्र को सांत्वना दे रहा है—

> आमत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
> सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव ।
> अंगे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
> सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन ॥ माल० ३।४

'आम्रमंजरी से सुवासित यह मलयानिल मेरे अंगों को स्पर्श कर रहा है, मानो स्वयं वसंत अपने कोमल और प्रेमस्निग्ध हस्त से मुझे स्पर्शसुख प्रदान करता हुआ कोयल की मधुर काकली द्वारा मुझसे सहानुभूति में कह रहा हो कि सखे, अपने मदनताप को सहन करो ।'

कालिदास ने किस प्रकार क्रमशः प्रकृति के मार्मिक प्रभाव को हृदयंगम किया था, यह समझने के लिये उनके ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। 'ऋतुसंहार' का तरुण कवि प्रकृति का प्रेमी है, पर वह कामिनियों का अपेक्षाकृत अधिक प्रेमी है। ऋतुसंहार में कामिनी के सौन्दर्य, शृंगार, विभ्रम, विलास और प्रेम का ही वर्णन प्रधानरूप से पाया जाता है। भिन्न भिन्न ऋतुओं में कामियों के मन में उत्पन्न होने वाले विकारों का ही उसमें अधिक वर्णन है। 'कुमारसंभव' में प्राकृतिक विभूति और दैवी विभूति में साम्य स्थापित किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य के केन्द्र हिमालय की पवित्रता की पूर्ति उमा-महेश्वर की तपश्चर्या से होती है। 'मेघदूत' में कवि ने मनुष्य और प्रकृति के बीच तादात्म्य स्थापित करने का अद्भुत प्रयास किया है। पूर्वमेघ में विरही यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने दुखी हृदय को आश्वासन देता है। उत्तरमेघ में वह प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत एवं भावी मिलनसुख का स्वप्न देखता है। 'रघुवंश' में कवि कुछ और ऊँचे स्तर पर पहुँच गया है। उसमें प्रकृति-जीवन का मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से संबंध स्थापित किया गया है। उसमें कवि ने दिखाया है कि प्रकृति-जीवन से वियुक्त मानव-जीवन की समाप्ति आध्यात्मिक ह्रास, सामाजिक दुर्दशा तथा राजनीतिक अवनति में जाकर होती है। किन्तु कवि की सर्वोच्च प्रतिभा का निदर्शन, प्रकृति-संदेश का मार्मिक उद्घाटन 'शाकुन्तल' में जाकर हुआ है। आद्योपान्त मानवीय भावनाओं का चित्रण करते हुए भी, 'शाकुन्तल' सर्वत्र मनुष्य का प्रकृति के साथ मधुर संबंध स्थापित करता है। प्रथम अंक में ही नगर के वासनामय विलास और तपोवन के अकृत्रिम वैभव के तारतम्य पर प्रकाश डाला गया है (१।१५)। इन्द्रिय-वासना की तात्कालिक लहर शांत होते ही हम प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उच्चतर स्थान पर पहुँच जाते हैं। मृत्युलोक और स्वर्गलोक के मध्यस्थानीय हेमकूट पर्वत पर महर्षि मारीच के

पावन तपोवन में न केवल प्रेमियों का पुनर्मिलन होता है, अपितु अन्तः और वाह्य प्रकृति के चिरन्तन संयोग की पुनः प्रतिष्ठा भी होती है।

कालिदास का कलाविषयक आदर्श—कालिदास की कृतियों में स्थल स्थल पर कलाजन्य सौन्दर्य का बड़ा ही उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया गया है। जो लोग भ्रमवश कालिदास की कृतियों में केवल वासनात्मक शृंगार का दर्शन करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे कालिदास के सूक्ष्म संकेतों को भी समझने की चेष्टा करें। नीचे दिये पद्य में कालिदास ने इस उच्च आदर्श की मार्मिक व्यंजना की है—

> मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
> न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ शा० १।२२

इस पद्य में शकुन्तला के रूपवर्णन के व्याज से कवि ने प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित किया है कि कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि सर्वथा लोकोत्तर है, इस रजोमयी पार्थिव पृष्ठभूमि से परे है, वासनामय धरातल से उच्चतर है। साथ ही, उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि कलाजन्य आनन्द की अनुभूति तर्कबुद्धि द्वारा संभव नहीं—

> चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
> रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
> करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
> वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ शा० १।१७

इस पद्य में कवि ने इस सिद्धान्त की ओर सूक्ष्म संकेत किया है कि जीवन-मधु की प्राप्ति—कलाजन्य आनन्द की उपलब्धि—तत्त्वान्वेषण बुद्धि द्वारा अर्थात् तर्क की विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा संभव नहीं। उस मधु के आस्वादन के लिये आवश्यकता है उस सहृदयता की—भावप्रवणता की—जो कला-सुन्दरी के चंचल अथच प्रतिक्षण परिवर्तमान कटाक्षकोरों को स्पर्श कर सके, उसके मार्मिक रहस्य का उद्घाटन कर सके और उसके रतिसर्वस्व—रस का आस्वादन कर सके।

महाकवि कालिदास के काव्यों या नाटकों में सर्वत्र एक अत्यंत उदात्त नैतिकता अथवा आदर्श भारतीय मर्यादा का चित्रण हुआ है। कालिदास की उक्ति 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (रघु० १।५९) और शेक्सपियर की उक्ति 'O Opportunity, thy guilt is great' की तुलना से ही स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भारतीय आदर्श और पाश्चात्य आदर्श में कितना अंतर है। भारत की इस नैतिक एवं कलात्मक संस्कृति का जो चित्रण कालिदास ने अपनी रुचिर रचनाओं में किया है वह मानो सारे संसार के लिये आदर्श-भूत है—मानदण्ड है—'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'। वस्तुतः वाल्मीकि और व्यास के समान ही कालिदास भी भारतीय प्रतिभा के अन्यतम अवतार हैं।

दिङ्नाग--सन् १९२३ में मद्रास से कुन्दमाला[1] नामक ६ अंकों का नाटक प्रकाशित हुआ है। इसके रचयिता दिङ्नाग[2] संभवतः दक्षिण भारत के निवासी थे। ये तथा प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग एक ही व्यक्ति नहीं थे, क्योंकि कुन्दमाला में आर्ष वैदिक-धर्म का ही दिग्दर्शन उपलब्ध होता है, जो बौद्ध दिङ्नाग द्वारा कभी संभव नहीं।

दिङ्नाग का स्थितिकाल पांचवीं शताब्दी ई० था। संभवतः ये कालिदास के समकालीन थे। 'मेघदूत' के निम्नलिखित १४ वें पद्य की टीका में मल्लिनाथ ने दिङ्नाग को कालिदास का समकालीन माना है—

> स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
>
> दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्।

दोनों कवियों में प्रतिस्पर्धा की भी कल्पना की जा सकती है। दोनों की कविताओं में कई स्थलों पर भावसाम्य भी प्रतीत होता है।

१–कीथ के *Sanskrit Drama* (1924) में इसका उल्लेख नहीं है।

२–Introduction to कुन्दमाला edited by Vedavyas and S. D. Bhanot, Lahore (1931).

कुन्दमाला के प्रथम अंक में लक्ष्मण गर्भवती सीता को राम के आदेश से गंगातट पर छोड़ आते हैं। महर्षि वाल्मीकि सीता को अपने आश्रम में आश्रय देते हैं। द्वितीय अंक में लव-कुश का जन्म होता है। वाल्मीकि उन्हें रामायण की शिक्षा देते हैं। उधर राम नैमिषारण्य में अश्वमेध की तैयारी करते हैं। वाल्मीकि के आश्रमवासियों को यज्ञ में उपस्थित होने के लिये निमन्त्रण मिलता है। पति-परायणा सीता भी सब के साथ जाने के लिये उद्यत होती हैं। तृतीय अंक में लव-कुश के साथ सीता नैमिषारण्य में पहुँचती हैं। राम तथा लक्ष्मण गोमती के तीर पर टहलते समय जलधारा में कुन्दपुष्पों की बहती हुई एक माला देखते हैं। राम उसे सीता-निर्मित समझ सीता के वियोग में विलाप करते हैं। सीता पास ही कुंज में खड़ी यह करुणोत्पादक दृश्य देख रही हैं। चतुर्थ अंक में तिलोत्तमा नामक अप्सरा राम के संमुख सीता का रूप धारण कर उन्हें और अधिक संतप्त करती है। पांचवें अंक में लव-कुश राम के संमुख रामायण का गान-पारायण कर रहे हैं। छठे अंक में पृथ्वीदेवी स्वयं प्रकट होकर सबके संमुख सीता की पवित्रता की घोषणा करती हैं। अन्त में राम, सीता, लव और कुश का आनन्ददायक पुनर्मिलन होता है।

कुन्दमाला और भवभूति के उत्तररामचरित में बहुत कुछ समानता देख पड़ती है। दोनों का कथानक रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा पर अवलंबित है। दोनों सुखपर्यवसायी हैं तथा दोनों में अदृश्य सीता की कल्पना की गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि भवभूति दिङ्नाग से अधिक श्रेष्ठ नाटककार हैं, तथापि यह असंभव नहीं कि उन्होंने अपने कथानक की सृष्टि करने में कुन्दमाला से सहायता ली हो। उत्तररामचरित रस एवं भाव की दृष्टि से सर्वांगसुन्दर और श्रेष्ठ है, किन्तु कुन्दमाला कथानक की क्रियाशीलता की दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक है।

दिङ्नाग की शैली में कालिदास की प्रासादिकता तथा भवभूति की मार्मिकता है, पर उनमें न तो कालिदास की सी कल्पना है, न भवभूति की सी भाव-प्रचुरता। दिङ्नाग की भाषा में दुरूहता नहीं है। लंबे समासों का प्रायः अभाव है। उन्होंने करुण रस की सुन्दर व्यंजना की है। परित्यक्ता सीता को देखकर वन के प्राणी कितने शोकाकुल हो जाते हैं—

> एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
>
> हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति ।
>
> नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
>
> तिर्यग्गता वरममी, न परं मनुष्याः ॥१।१८

राम सीता के परित्याग का स्मरण कर विलाप कर रहे हैं—

> नीलस्तावन्मकरवसतौ बन्धयतां शैलसेतुः
>
> देवो वह्नि र्न च विगणितः शुद्धिसाक्ष्ये नियुक्तः ।
>
> इक्ष्वाकूणां भुवनमहिता सन्ततिर्नेक्षिता मे
>
> किं किं मोहादहमकरवं मैथिलीं तां निरस्य ॥ ३।३

'समुद्र पर पत्थरों का पुल बांधना निरर्थक हुआ; सीता की पवित्रता के साक्षी अग्निदेव को मैंने कुछ न गिना; संसारपूजित इक्ष्वाकुओं की सन्तति का भी मैंने कुछ ध्यान नहीं रखा; हाय, मिथिला-राजकुमारी का परित्याग कर मैंने मोहवश क्या कर डाला ?' भवभूति की भांति दिङ्नाग ने भी प्रकृति के भयावह पटल का वर्णन किया है—

> नादः पातालमूलात् प्रभवति तुमुलं पूरयन् व्योमरन्ध्रं
>
> पातक्लिष्टा इवैते क्षिति दिशि गिरयो मन्दमन्दाश्चरन्ति ।
>
> बद्धानन्दाः समन्तात्प्रवणजलधयो मथ्यमाना इवासन्
>
> सीमामुल्लंघ्य वेगादुदनिधिसलिलैः स्वानि वेलावनानि ॥ ६।२४

'पाताल के गर्भ से एक महान् कलकल घोष निकल कर सारे आकाश-मंडल में व्याप्त हो रहा है। ये पहाड़ियां गिर जाने के भय से मानों दिशाओं में धीरे धीरे डगमगा रही हैं। आनन्द से उन्मत्त समुद्र

मानो अपने तटवर्ती वनों को अपनी सीमोल्लंघनकारिणी उत्तालतरंगों से मथ रहा है।'

कुन्दमाला में कुछ स्थलों पर खंडित वाक्य मिलते हैं। उसकी प्राकृत में भी कहीं कहीं कुछ ऐसे प्रयोग हैं जिनका संस्कृत रूपान्तर नहीं हो सका है। कुन्दमाला के अधिक अध्ययन तथा प्रचार से इन त्रुटियों पर प्रकाश पड़ने की संभावना है।

हर्ष—भारत के प्राचीन विद्या-व्यसनी राजाओं में सम्राट् हर्षवर्धन (६०६–६४८ ई०) का नाम परम प्रसिद्ध है। इन्होंने तीन नाटकों की रचना की है—रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द। इन कृतियों के संबंध में कुछ आलोचकों का कहना है कि ये हर्ष की रचनाएं नहीं हैं। उन्होंने अपने किसी आश्रित कवि (बाण या धावक) द्वारा उन्हें लिखवा कर अपने नाम से प्रचारित किया। इतना तो निश्चित है कि उक्त तीनों रचनाएं एक ही कवि की लेखनी से प्रसूत हैं, क्योंकि (१) इन तीनों नाटकों की प्रस्तावना में एक ही रचयिता (हर्ष) का उल्लेख हुआ है। (२) प्रियदर्शिका और नागानन्द में दो श्लोक समान हैं तथा एक श्लोक प्रियदर्शिका और रत्नावली में भी अभिन्न है। (३) इन तीनों नाटकों की शैली में भी पूर्ण साम्य है। अब प्रश्न यह होता है कि इनके वास्तविक रचयिता कौन थे। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में धन-प्राप्ति को काव्य का एक प्रयोजन माना है—'श्रीहर्षादेः धावकादीनामिव धनम्'। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ यह लगाया है कि धावक नामक किसी कवि ने रत्नावली आदि की रचना हर्ष के नाम से करके प्रचुर संपत्ति प्राप्त की। किन्तु इस किंवदन्ती के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इत्सिंग (६७१-६९५ ई०) ने अपने यात्रावर्णन में महाराज हर्ष को नागानन्द नाटक का रचयिता बतलाया है। दामोदरगुप्त (८०० ई) ने अपने 'कुट्टनीमत' में किसी राजा द्वारा रचित रत्नावली नामक नाटिका का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त हर्ष स्वयं एक अच्छे कवि थे। बाण

ने उनकी काव्य-चातुरी की प्रशंसा अपने 'हर्षचरित'[1] में की है। जयदेव ने उन्हें 'कविताकामिनी का हर्ष' कहा है। सोड्ढल ने हर्ष को 'गीर्हर्ष'[2] की उपाधि से विभूषित किया है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन तीनों नाटकों की रचना हर्ष की लेखनी से ही हुई।

रत्नावली—चार अंकों की 'नाटिका' है। इसमें वत्सराज उदयन तथा उनकी रानी वासवदत्ता की परिचारिका सागरिका की रोचक प्रेमकहानी वर्णित है। नायिका वास्तव में सिंहल देश की राजकन्या रत्नावली है, जो दुर्घटनावश दासी का कार्य कर रही है। अंत में इस रहस्य का उद्घाटन होने पर नायक-नायिका का विवाह हो जाता है। रत्नावली में प्रधान रस शृंगार है। नायक 'धीरललित' है। कथानक कौतूहल से परिपूर्ण है। घटनाएं नाटकीय ढंग से घटित होती हैं। रत्नावली अभिनय की दृष्टि से भी सफल कृति है। नाट्यशास्त्र के नियमों का इसमें पूर्णतया पालन हुआ है। धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में रत्नावली के अनेक पद्य उदाहरण रूप से उपस्थित किये हैं।

रत्नावली की शैली सरस एवं प्रसादपूर्ण है। दुरूह शब्दों और कठिन समासों का प्रायः अभाव है। यद्यपि इस नाटिका में विलास-मय प्रणय का रंगीन चित्रण किया गया है, किन्तु भारतीय मर्यादा की रक्षा भी की गई है। इसके कुछ पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे पाठक स्थालीपुलाकन्याय से हर्ष की शैली का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य अपनी प्रियतमा कमलिनी से विदा मांग रहे हैं—

यातोऽस्मि पद्मवदने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥३।६

१—'काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तम्', 'विमलकपोलप्रतिबिम्बितां चामरग्राहिणीं विग्रहिणीमिव मुखवासिनीं सरस्वतीमादधानम्', 'अपि चास्य...प्रज्ञाया. शास्त्राणि-कवित्वस्य वाचः...न पर्याप्तो विषयः'। (नि० सा० संस्करण पृष्ठ ७१,७४,७८)

२—श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः ॥

'कमलिनी के झुके हुए मस्तक पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हुए (अथवा, अस्ताचल के शिखर पर अपनी किरणें डालते हुए) सूर्य उसे सांत्वना-युक्त विश्वास दिला रहे हैं कि हे कमलमुखी, अब मैं जा रहा हूँ, मेरे जाने का समय हो गया है। किन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कल प्रातः-काल जब तुम सोती ही रहोगी मैं आकर तुम्हें जगाऊंगा।' अनुपम सुन्दरी रत्नावली की सृष्टि कर स्वयं ब्रह्मा को कितना आश्चर्य हुआ इसका वर्णन देखिए—

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विषः
चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ॥-२।१४

'जब ब्रह्माजी ने इस त्रैलोक्यसुन्दरी (रत्नावली) की सृष्टि की तब वे स्वयं अपनी विलक्षण कृति पर चकित हो उठे। वे अपने आसन के कमलों की पंखड़ियों की भी कान्ति को मात करने वाले अपने नेत्रों को फाड़ फाड़ कर इस अपूर्व कृति को देखने लगे। उनके चारों मुखों से एक साथ ही वाह! वाह!! की ध्वनि निकल पड़ी। विस्मय से उनके मस्तक हिलने लगे।' उद्यानलता को देख कर वत्सराज कह रहे हैं—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥ २।४

'अहा! देखो, इस उद्यानलता की कलियां कैसी चटक रही हैं, इसका वर्ण कैसा शुभ्र है, थोड़ी ही देर में यह खिलने वाली है, हवा के लगातार झोंकों से यह कैसी मतवाली होकर थिरक रही है! किन्तु इस उद्यानलता की ओर देखकर मैं आज अवश्य ही महारानी के मुखमंडल को ईर्ष्याजन्य क्रोध से रक्तवर्ण करने का अपराधी समझा

जाऊंगा, क्यों कि यह लता उस प्रेमातुर प्रमदा की भांति है, जो अपने प्रिय से मिलने के लिये अत्यधिक उत्कण्ठित हो रही है, जिसका वर्ण विरह के कारण पीला पड़ गया है, जो विरहजन्य जागरण के कारण बार बार जंभाई ले रही है और जो निरन्तर दीर्घ निःश्वासों के कारण अत्यधिक विकल हो रही है।'

प्रियदर्शिका भी चार अंकों की नाटिका है। इसका कथानक भी रत्नावली के समान है। राजा दृढवर्मा युद्ध में हार जाते हैं। उनकी कन्या प्रियदर्शिका दुर्घटना के कारण राजा वत्स के अंतःपुर में पहुँच जाती है। वहां वह 'आरण्यका' नाम से रानी की दासी बनकर रहती है। वत्स उस पर मुग्ध हो जाते है। अन्तःपुर के रंगमंच पर वत्स और वासवदत्ता के विवाह का अभिनय होता है, जिसमें 'आरण्यका' वासवदत्ता बनती है और वत्स स्वयं वत्स। प्रेम का अभिनय अभिनय न रह कर वास्तविक हो जाता है! रानी की ईर्ष्या के कारण 'आरण्यका' राजा की दृष्टि से दूर हटा कर बन्दीगृह में डाल दी जाती है। अंत में उसके राजकुलोत्पन्न होने का रहस्य प्रकट हो जाता है और राजा तथा प्रियदर्शिका के विवाह की अनुमति रानी स्वयं देती है। रत्नावली की भांति प्रियदर्शिका की रचना उतनी प्रौढ नहीं है।

नागानन्द उपर्युक्त दोनों नाटिकाओं से सर्वथा भिन्न है। इसमें पांच अंक हैं। जीमूतवाहन नामक राजकुमार के आत्मत्याग का बौद्ध आख्यान इसमें वर्णित है। जीमूतवाहन एक विद्याधर राजकुमार है। राजा मित्रावसु की भगिनी मलयवती से उसका विवाह होता है। एक दिन मित्रावसु के साथ टहलते समय जीमूतवाहन हड्डियों का ढेर देखता है। उसे ज्ञात होता है कि दिव्य पक्षी गरुड को प्रतिदिन सांपों की भेंट चढ़ाई जाती है। यह उन्हीं मरे हुए सांपों की हड्डियों का ढेर है। वह निश्चय करता है कि मैं प्राणों का बलिदान करके भी इस हत्याकांड को रोकूंगा। शंखचूड सर्प के बदले वह अपना

बलिदान करता है। गौरी अपने प्रभाव से उसे पुनः जीवित करती है। अमृत की वर्षा से गरुड़ द्वारा मारे गये सारे सर्प भी जीवित हो उठते हैं। अंत में गरुड़ भविष्य में उन्हें न मारने का वचन देता है।

नागानन्द पर बौद्धधर्म की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। नायक का मलयवती से प्रेम मुख्य कथा से असंबद्ध है। नाटकीय दृष्टि से नागानन्द सफल नहीं कहा जा सकता। प्राणियों के प्रति दया तथा आत्मोत्सर्ग की भावना का इस नाटक में सुन्दर निदर्शन हुआ है। भाषा तथा शैली हर्ष की अन्य कृतियों की भांति प्रसादपूर्ण एवं मनोहर है। जीमूतवाहन की मृत्यु पर उसके पिता शोक करते हैं :—

निराधारं धैर्यं, कमिव शरणं यातु विनयः ?
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह ? विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं, व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते ॥ ५।३१

'हे पुत्र, तुम्हारे स्वर्गवासी होने पर धैर्य बिना आधार का हो गया। विनय अब किसकी शरण में जाय ? क्षमा को अब कौन धारण करेगा ? दानशीलता अब उठ गई। सत्य सचमुच नष्ट हो गया। निस्सहाय करुणा अब कहाँ जाय ? तुम्हारे बिना यह संसार सूना हो गया।'

भवभूति—संस्कृत के महान् नाटककारों में भवभूति का नाम कालिदास के बाद ही लिया जाता है। उनके स्थितिकाल के संबंध में बहुत कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध है। मम्मट (११०० ई०), धनंजय (९९५ ई०) और सोमदेव (९५९ ई०) ने अपनी रचनाओं में भवभूति के ग्रंथों से उद्धरण दिये हैं। राजशेखर (९०० ई०) अपने को भवभूति का अवतार बताते हैं :—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥ बा० रा० १।१६

वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में भवभूति-कृत उत्तररामचरित के 'इयं गेहे लक्ष्मीः' (१।३८) इस पद्य को उद्धृत किया है। अतः भवभूति के स्थितिकाल की नीचे की सीमा ७५० ई० के लगभग सिद्ध होती है। दूसरी ओर बाण ने 'हर्षचरित' में भास, कालिदास जैसे प्रसिद्ध कवियों के साथ भवभूति का उल्लेख नहीं किया है। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था। अतः यह भवभूति के समय की ऊपरी सीमा है और वे ६५० से ७५० ई० के बीच में हुए होंगे।

कल्हण-कृत 'राजतरंगिणी' (११४८ ई०) से विदित होता है कि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे —

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम्॥ ४।१४४

इसके पहले (४।१३४) कल्हण ने बतलाया है कि काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने इन्हीं यशोवर्मा को परास्त किया था। डॉ० स्टीन[1] का मत है कि यह घटना ७३६ ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। 'राजतरंगिणी' के उक्त पद्य (४।१४४) में भवभूति के साथ वाक्पतिराज का भी नाम आया है। वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत काव्य 'गौडवहो' में यशोवर्मा का यशोगान किया है। इस काव्य के अधूरे होने से प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने अपने काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में प्रारंभ की थी, किन्तु काश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा की पराजय होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। इसलिये 'गौडवहो' की रचना ७३६ ई० के बाद की नहीं हो सकती। 'गौडवहो' में वाक्पतिराज ने भवभूति की इस प्रकार प्रशंसा की है —

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥ ७९९

1—Stein's translation of राजतरंगिणी, P. 89 and his notes on 4 134.

इस पद्य के 'अद्यापि' शब्द से प्रतीत होता है कि भवभूति वाक्पतिराज के पहले हुए थे और यशोवर्मा के राज्यकाल के पूर्वार्ध में उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भवभूति ७०० ई० के आसपास हुए थे।

भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपना कुछ परिचय दिया है। वे विदर्भ (बरार) देश के पद्मपुर नामक नगर के निवासी थे। उनका जन्म एक उदुम्बरवंशी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इस वंश के ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा को माननेवाले, वेद-वेदांगों के ज्ञाता तथा सोमयज्ञ के करने वाले थे[1]। भवभूति के पांचवें पूर्वज का नाम महाकवि था, जो वाजपेय यज्ञ के करने वाले विद्वान् ब्राह्मण थे। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नीलकण्ठ और माता का जातुकर्णी था। उनका प्रारंभिक नाम श्रीकण्ठ था उनका भवभूति नाम क्यों पड़ा, इस विषय में कुछ लोग कहते हैं कि उन्होंने दो श्लोक लिखे थे जिनमें साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' अथवा 'गिरिजायाः कुचौ वन्दे, भवभूतिसितानन्नौ' यह पंक्ति थी। भवभूति-कृत मालतीमाधव की एक ४०० वर्ष प्राचीन हस्तलिखित प्रति में भवभूति को प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल (७०० ई०) का शिष्य बताया गया है और छठे अंक की पुष्पिका में उस शिष्य का नाम उम्बेकाचार्य बताया गया है। भवभूति के गुरु का नाम ज्ञाननिधि था, जो वास्तव में ज्ञान के भण्डार ही थे।

भवभूति के तीन नाटक उपलब्ध हैं—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। 'शार्ङ्गधरपद्धति' और 'रसिकजीवन' जैसे प्राचीन सूक्ति-संग्रहों में उनके नाम से कुछ ऐसे पद्य पाये जाते हैं, जो उनकी उपलब्ध कृतियों में नहीं मिलते। भवभूति के तीनों नाटकों का अभिनय, जैसा कि उनकी प्रस्तावना से मालूम पड़ता है, भगवान् कालप्रियनाथ के उत्सव पर हुआ था। विद्वानों की सम्मति

१–Keith: Bhavabhuti and the Veda JRAS, July, 1944

में उज्जयिनी के महाकाल महादेव का ही दूसरा नाम काल प्रियनाथ है। महावीरचरित तथा मालतीमाधव की प्रस्तावना से पता चलता है कि भवभूति की नटों से घनिष्ठ मित्रता थी अतः यह स्पष्ट है कि भवभूति के नाटक अभिनय के ही लिये लिखे गये थे।

महावीरचरित भवभूति का प्रथम नाटक है। इसमें सात अंकों में रामायण के पूर्वार्ध—राम-विवाह, राम-वनवास, सीता-हरण और रामराज्याभिषेक—की कथा वर्णित है। आरंभ से अंत तक रावण राम के विनाश के लिये भांति भांति के कुचक्र करता है। सीता के स्वयंवर में रावण सीता की याचना के लिये दूत भेजता है, किन्तु राम शिवधनुष को तोड़ कर सीता का वरण कर लेते हैं। इस पराजय का बदला लेने के लिये रावण और उसका मंत्री माल्यवान्, परशुराम को राम के विरुद्ध उसकाते हैं। परशुराम राम से युद्ध करते हैं, पर मुंह की खाते हैं। तब माल्यवान् शूर्पणखा को मंथरा के रूप में भेजता है। उस समय राम जनक के यहां मिथिला में थे। मंथरा-रूपधारी शूर्पणखा कैकेयी का एक पत्र राम को देती है, जिसमें उन्हें चौदह वर्ष का वनवास दिया जाता है। माल्यवान् ही बाली को भी राम से लड़ने के लिये प्रेरित करता है। रावण और मेघनाद के वध के पश्चात् लंका और अलकापुरी की अधिष्ठात्री देवियां परस्पर समवेदना प्रकट करती हैं।

महावीरचरित में कवि ने रामायण की कथा को रोचक नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर इस कृति में भवभूति की नाट्यकला का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है। लंबे लंबे संवादों या वर्णनात्मक प्रसंगों के कारण इस नाटक में कई स्थलों पर घटनाओं की गति में अवरोध उत्पन्न हो गया है। पात्रों के चरित्र का उत्तरोत्तर विकास नहीं देख पड़ता। साथ ही इसमें मानव-हृदय का वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं और भाव-भाषा की वह उदात्तता नहीं जो उनके बाद के दो नाटकों में पायी जाती है। इसी कारण भंडारकार महोदय ने

उसे अरोचक और अपरूप कहा है। मालतीमाधव की प्रस्तावना में (१।८) भवभूति ने अपने आलोचकों के प्रति जो कठोर शब्द कहे हैं, उनसे जान पड़ता है कि महावीरचरित का उनके हाथों स्वागत नहीं हुआ था। फिर भी उसमें वीर रस का सुन्दर परिपोष हुआ है। शिव-धनुष भंग होने पर लक्ष्मण की कैसी दर्पपूर्ण उक्ति है—

> दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
> टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिंडिमः।
> द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
> भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥

'आर्य राम ने अपनी बलिष्ठ भुजाओं से शिव के धनुष का भंग कर दिया है। इससे जो भीषण टंकार-शब्द निकला है वह डंके की चोट से सारे संसार में मेरे ज्येष्ठ भ्राता के पराक्रम की घोषणा कर रहा है। उसकी भयावह ध्वनि से ब्रह्माण्ड के जो भाग ध्वस्त हो गये हैं, उनके खंडहरों में गूंजती हुई उस भयानक टंकार की प्रतिध्वनि अब तक शान्त नहीं हो रही है।'

मालतीमाधव दस अंकों का एक 'प्रकरण' है। इसमें मालती और माधव के प्रेम और विवाह की कल्पना-प्रसूत कथा चित्रित है। पद्मावती-नरेश के मंत्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह अपने बचपन के मित्र देवरात के पुत्र माधव के साथ करना चाहते हैं। इधर राजा का साला और सखा (नर्मसुहृद्) नन्दन मालती से विवाह करना चाहता है। इसमें राजा, नन्दन का समर्थक है। माधव का साथी मकरन्द है और मालती की सखी मदयन्तिका (नन्दन की बहन) है। मालती और माधव दोनों एक शिव-मन्दिर में मिलते हैं। वहां मकरन्द मदयन्तिका की एक बाघ से रक्षा करता है और ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। इधर राजा, नन्दन और मालती का विवाह कराने पर तुले हुए हैं। माधव अपनी प्रेम-सिद्धि के लिये श्मशान में जाकर तंत्र की साधना करता है। वहां अघोरघण्ट और उसकी

शिष्या कपालकुण्डला मालती को चामुण्डादेवी की बलि चढ़ाने वाले ही थे कि संयोगवश माधव वहां पहुँच जाता है और अघोरघण्ट को मार कर मालती को बचा लेता है। राजा की आज्ञा से मालती का विवाह नन्दन से होने जा रहा है। पर मकरन्द मालती का स्थान ले लेता है। उधर माधव और मालती भाग जाते हैं। वधूरूप में मकरन्द नन्दन को दुत्कार देता है। इस पर मदयन्तिका अपनी भाभी को उलाहना देने आती है, पर उसे अपना प्रेमी मकरन्द पाकर वह स्वयं उसके साथ भाग जाती है। इस भगदड़ में मालती को कपालकुण्डला चुरा ले जाती है। माधव अपनी प्रियतमा की खोज करता है। सौदामिनी की सहायता से उसे मालती मिल जाती है और राजा की अनुमति से दोनों का विवाह हो जाता है।

महावीरचरित की अपेक्षा मालतीमाधव में कवि की प्रतिभा का अधिक विकास देख पड़ता है। रोचक कथानक, यथार्थ एवं विशद चरित्र-चित्रण तथा सुन्दर भाषा के कारण वह आलोचकों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। पांचवें अंक का श्मशान-वर्णन तथा नवें अंक का वन-वर्णन भवभूति के प्रकृति-चित्रण-नैपुण्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भाषा तथा शैली में भी यथावसर सरलता एवं सजीवता का समावेश दर्शनीय है। पति-पत्नी के आदर्श संबंध का सुन्दर वर्णन देखिए—

> प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
> स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥ ६।१८

'वत्स, तुम्हें यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि स्त्री के लिये उसका पति और पति के लिये उसकी विवाहिता पत्नी, दोनों एक दूसरे के लिये परमप्रिय मित्र हैं। यही सबसे बड़ा संबंध है, सारी इच्छाओं की पूर्णता है, सबसे बड़ी निधि है, अधिक क्या, स्वयं जीवन ही है।' प्रेम का प्रभाव माधव के लिये वर्णनातीत है—

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥ ११३०

'एक ऐसा मनोविकार, जिसकी व्याख्या असंभव है, जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, जिसे मैंने इस जन्म में पहले कभी अनुभव नहीं किया, जिसने मेरे विवेक को हर लिया है तथा जिसने मुझे महामोहान्धकार से ढक लिया है, मेरे अन्तःकरण को जड़ीभूत कर रहा है और संतप्त भी कर रहा है।'

उत्तररामचरित भवभूति का अंतिम और सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें कुल सात अंक हैं। इसके कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—प्रथम अंक में रामराज्याभिषेक के अनंतर जनक के चले जाने पर सीता उदास हो जाती हैं। राम उन्हें सांत्वना देते हैं। सीता के मनोविनोदार्थ राम, सीता और लक्ष्मण के साथ उन चित्रों को देखते हैं, जिनमें उनके पूर्व-चरित्र अंकित हैं। सीता एक बार पुनः भगवती भागीरथी में अवगाहन करने की अभिलाषा प्रकट करती हैं। चित्र-दर्शन के श्रम से सीता थक कर सो जाती हैं। दुर्मुख नामक गुप्तचर सीता के चरित्र के संबंध से प्रचलित लोकापवाद की सूचना राम के कान में देता है। इस दुःसंवाद से राम को मर्मान्तक पीड़ा होती है, किन्तु कर्त्तव्य-पालन के लिये वे सीता का परित्याग करने को तैयार हो जाते हैं। भागीरथी-दर्शन की इच्छा सीता की थी ही। इसी इच्छा की पूर्ति के बहाने वह निर्वासित कर दी जाती है। बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर दूसरे अंक का आरंभ होता है। इसमें आत्रेयी नामक तपस्विनी तथा वासन्ती नामक वनदेवता के संवाद से विदित होता है कि राम ने अश्वमेध यज्ञ आरंभ कर दिया है। महर्षि वाल्मीकि एक देवी द्वारा सौंपे गये दो कुशाग्रबुद्धि सुन्दर बालकों का लालन-पालन कर रहे हैं। राम दण्डकारण्य में प्रवेश

कर शूद्र-तपस्वी शंबूक का वध करते हैं। तीसरे अंक में तमसा और मुरला नदियां परस्पर संभाषण में बताती हैं कि सीता अपने जीवन का अंत करने के लिये गंगा में कूद पड़ी थीं। वहीं जल में लव-कुश का जन्म हुआ। गंगा ने सीता की रक्षा की तथा उनके दोनों पुत्रों को वाल्मीकि के संरक्षण में सौंप दिया है। इसके बाद सीता छाया के रूप में प्रकट होती हैं। राम भी आते हैं, पर सीता को देख नहीं पाते। अपने पुराने क्रीडास्थलों को देख जब राम मूर्छित हो जाते हैं तब सीता अपने स्पर्श से उन्हें चेतन करती हैं। सीता के शोक में राम प्रमुक्तकण्ठ हो करुण विलाप करते हैं। चौथे अंक में कौशल्या और जनक परस्पर सांत्वना प्रदान करते हैं। इसी समय वाल्मीकि-आश्रम के कुछ बालक खेलते-कूदते उनके पास आते हैं। इनमें एक (लव) विशेष कान्तिमान् है। वह राम के अश्वमेध के घोड़े को पकड़ लेता है। पांचवें अंक में यज्ञीय अश्व के रक्षक चन्द्रकेतु और लव में दर्पयुक्त कथोपकथन होता है, पर साथ ही दोनों में परस्पर अनुराग भी होता है। छठे अंक में दोनों वीरों के युद्ध का वर्णन एक विद्याधर और उसकी स्त्री के संवाद के रूप में किया गया है। राम के आगमन से युद्ध रुक जाता है। उनके हृदय में लव और कुश के प्रति स्नेह की भावना उमड़ पड़ती है, पर उन्हें यह नहीं ज्ञात कि वे उन्हीं की संतान हैं। सातवें अंक में एक दिव्य नाटक का अभिनय होता है। परित्यक्ता सीता गंगा में कूद पड़ती हैं। किन्तु एक एक शिशु को गोद में लेकर भागीरथी और पृथ्वी सीता को जल से बाहर ले प्रकट होती हैं। पृथ्वी राम की कठोरता की निन्दा करती हैं, गंगा उसका कारण बताती हैं। दोनों सीता को आदेश देती हैं कि तुम इन शिशुओं का तब तक पालन करो जब तक कि वे वाल्मीकि मुनि के संरक्षण में रखने योग्य बड़े न हो जायं। इस दृश्य को वास्तविक समझ राम शोकावेग से मूर्छित हो जाते हैं। सहसा अरुन्धती सीता को लेकर प्रकट होती हैं। सीता स्वामी की परिचर्या

कर उन्हें स्वस्थ करती हैं। वाल्मीकि भी लव-कुश को समर्पित करते हैं। इस प्रकार नाटक का सुखद पर्यवसान होता है।

उत्तररामचरित का मूल आधार रामायण का उत्तरकाण्ड है। पर भवभूति ने नाटकीय रूप देने के लिये मूल कथा में मौलिक परिवर्तन किये हैं। रामायण की कथा का अन्त शोकपर्यवसायी है। उसमें अंत में सीता पृथ्वी के गर्भ में समा जाती हैं। पर भारतीय नाट्यकला के आदर्शानुसार नाटक का दुःखान्त होना वर्जित है। अतः भवभूति अंत में राम-सीता का मिलन कराकर नाटक को सुखान्त रूप देते हैं। रामायण के अनुसार राम का लव-कुश से युद्ध होता है, जिसमें राम पराजित होते हैं। पर भवभूति अपने नायक का पराभव नहीं दिखाते। उन्होंने चन्द्रकेतु और लव में ही युद्ध कराया है। चित्रदर्शन-दृश्य, राम का वनदेवता वासन्ती से मिलन, दण्डकारण्य में छाया-सीता की उपस्थिति, वाल्मीकि-आश्रम में जनक, कौशल्या, वसिष्ठ, अरुन्धती आदि का आगमन तथा सातवें अंक का गर्भाङ्क नाटक, ये सभी कवि की मौलिक कल्पनाएं हैं।

रामायण के अतिरिक्त पद्मपुराण के पातालखण्ड में तथा उत्तररामचरित के चौथे, पाँचवें और छठे अंकों की घटनाओं में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। इस आधार पर डॉ० बेलवेलकर का कथन है कि उत्तररामचरित की कथा का मूल स्रोत पद्मपुराण है। किन्तु पुराणों में समय समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पद्मपुराण के उक्त पातालखण्ड की रचना भवभूति के पूर्व हो चुकी थी या नहीं।

उत्तररामचरित की नाटकीय विशेषताएं—उत्तररामचरित सर्वसम्मति से भवभूति की कला का चूडान्त निदर्शन है—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'। उनकी उत्कृष्ट नाट्यकला को हृदयंगम करने के लिये उत्तररामचरित की किंचित् विस्तृत आलोचना करना आवश्यक है:—

प्रथम अंक की प्रस्तावना में ही कवि ने नट के मुख से 'सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति' यह कहला कर नाटक के सुखान्त होने की ओर संकेत किया है। इसी प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि प्रजाजनों में सीता के चरित्र के विषय में संदेह फैल रहा है। किन्तु इसके पहले कि राम इस प्रवाद को सुनें, कवि प्रेक्षकों को कुछ आवश्यक बातों से परिचित करा देता है—(१) राम स्वयं सीता के सच्चारित्र्य में पूर्ण विश्वास रखते हैं (१।१३)। (२) राम में लोकोत्तर कर्त्तव्य-परायणता की भावना वर्तमान है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ १।१२

(३) राम सद्यः राज्याभिषिक्त हुए हैं और वसिष्ठ का सन्देश (१।११) उन्हें प्रिय से प्रिय वस्तु का उत्सर्ग करने के लिये प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार कवि ने सीता-निर्वासन की घटना उपस्थित करने के पूर्व एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करदी है, जिससे प्रेक्षकों के हृदय में राम के प्रति समवेदना तथा सीता के प्रति करुणा की भावना पूर्णरूप से जाग उठे।

प्रथम अंक का चित्रदर्शन-दृश्य भी कवि के उक्त उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है। पत्नी का त्याग करने के पश्चात् राम किस प्रकार शोकाकुल हो जायंगे, इसका आभास हमें इसी दृश्य में मिलता है (१।३३)। इसके अतिरिक्त चित्रदर्शन के दृश्य में प्रायः उन सभी घटनाओं का बीजांकुर देख पड़ता है, जिनका उत्तरोत्तर विकास आगे के अंकों में हुआ है।

द्वितीय एवं तृतीय अंक में राम पंचवटी जाते हैं। पंचवटी के पूर्व परिचित दृश्यों को देख उनकी वेदना तीव्र एवं प्रगाढ़ हो उठती है। अनेक आलोचकों का कहना है कि तृतीय अंक में नाटकीय क्रियाशीलता स्थगित होगई है; उसमें केवल करुण रस की अतिरंजित व्यंजनामात्र है। किन्तु यह धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कही जा

सकती। कारण यह है कि तृतीय अंक में बाह्य क्रियाशीलता नहीं, आन्तरिक क्रियाशीलता है। भवभूति ने राम के नेत्रों से इतने आंसू व्यर्थ ही नहीं बहवाये हैं। सच पूछा जाय तो इन्हीं आंसुओं से राम और सीता के उस मिलन-वृक्ष की जड़ें सींची गई हैं, जिसकी सुखद छाया में अन्त में दर्शकों को अपूर्व विश्रान्ति मिलती है। इन्हीं आंसुओं से कवि ने सीता के परित्याग-जन्य परिताप का पूर्णतया प्रक्षालन किया है।

परित्याग के बाद सीता के हृदय में राम के प्रति क्षोभ और उदासीनता के भाव हैं। वह उनके लिये 'आर्यपुत्र' का प्रयोग न कर 'राजा' शब्द का प्रयोग करती हैं—'दिष्ट्या अपरिहीनराजधर्मः खलु स राजा'। किन्तु राम की करुण अश्रुधारा में सीता का सारा क्षोभ धुल कर बह जाता है। सीता के हृदय में शनैः शनैः श्रद्धा और आत्मसमर्पण की भावना संचारित होती है। अंत में वह स्वीकार करती हैं कि मेरे हृदय से 'परित्याग-लज्जाशल्य' निकल गया। इस परिसंधान की तीन अवस्थाएं हैं—(१) राम को मूर्छित होते देख सीता उपचार के लिये दौड़ पड़ती हैं, पर शीघ्र ही लौट आती हैं (एतावदेवेदानीं मे बहुतरम्) और अपने को दैवाधीन मानने लगती हैं—'हा दैव! एष मया विनाऽहमप्येतेन विनेति स्वप्नेऽपि केन संभावित-मासीत्'। कवि ने सीता को विश्वास करा दिया कि राम उन्हें भूले नहीं हैं। (२) दूसरी अवस्था में सीता कुछ और आगे बढ़ती हैं। जब वासन्ती राम को पत्नी के प्रति निर्दय होने का उपालंभ देती है (३।२७), तब सीता स्वयं पति का पक्ष ग्रहण करती हैं। (३) अब एक और प्रति-क्रिया होती है। वासन्ती सीता-हरण की चर्चा (३।४३) करती है। सीता तुरन्त त्रस्त होकर 'आर्यपुत्र! परित्रायस्व परित्रायस्व' चिल्ला उठती हैं; पर शीघ्र ही अपनी उद्भ्रान्त अवस्था पर आश्चर्य प्रकट करती हैं। इसके बाद सीता को आश्वासन मिलता है कि राम का उनके प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम है कि वे द्वितीय विवाह भी नहीं

करेंगे। दोनों हृदयों का आन्तरिक अनुसन्धान पूर्ण हो चुका। सीता श्रद्धावमिक्त होकर कहती हैं—'नमो नमोऽपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलभ्याम्।'

करुण रस के दीर्घ प्रवाह के अनन्तर चौथे अंक के अंत तथा पांचवें अंक की घटनाएं विविधता तथा रोचकता से पूर्ण हैं। पांचवें अंक में वीररस का चित्रण भी प्रभावोत्पादक है।

उत्तररामचरित में जहां तृतीय अंक में भावों का चरमोत्कर्ष देख पड़ता है, वहां छठे अंक में घटनाओं की सार्थकता तथा नाटकीय अवस्थाओं (situations) की परिणति देख पड़ती हैं। कवि ने द्वितीय अंक के विष्कंभक से ही छठे अंक की भूमिका प्रारंभ कर दी है। वहीं अश्वमेध यज्ञ का सर्व प्रथम उल्लेख है। इसी प्रकार तीसरे अंक के अंत में राम पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटने का उपक्रम करते है, जिससे यह संभावना होती है कि मार्ग में वे वाल्मीकि-आश्रम में भी जायंगे। इस प्रकार कवि ने छठे अंक में राम की उपस्थिति का कारण स्पष्ट कर दिया है। साथ ही लव का अश्व को देख उसे पकड़ लेना तथा युद्ध का आरंभ होना—सभी घटनाएं स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी प्रतीत होती हैं। प्रत्यभिज्ञान-दृश्य भी कुशलता से अंकित किया गया है। सातवें अंक का गर्भांक नाटक भी नाट्य-कला की दृष्टि से अद्भुत एवं अभूतपूर्व है। नाटक को सुखान्त बनाने में यह अंक विशेष रूप से सहायक है।

प्रथम और द्वितीय अंक के बीच बारह वर्ष का समय व्यतीत हो जाता है। भवभूति ने इस दीर्घ काल का आभास प्रेक्षकों को बड़े कौशल से—गोचररूप से—कराया है। राम देखते है कि पंचवटी में पहले जहां नदियों की धाराएं बहती थीं, वहां अब बड़े बड़े रेतीले मैदान निकल आये हैं (२।२७), जिस मोर के बच्चे को पहले सीता ताली बजा बजा कर नचाया करती थीं, वह अब बड़ा होकर अपनी मयूरी के साथ क्रीड़ा करने लगा है (३।१६,१८) और जो हाथी का

बच्चा अपने छोटे से सूँड़ से सीता के कानों से लवली-पल्लव निकाल लिया करता था, वह अब इतना बड़ा होगया है कि बड़े बड़े हाथियों को भी पछाड़ देता है (३।१५)। प्रकृति में ही नहीं मनुष्यों में भी प्रभूत परिवर्त्तन होगया है। जनक ने राज पाट त्याग कर वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया है। ऋष्यशृङ्ग का द्वादशवार्षिक सत्र भी समाप्त हो चुका है। किन्तु इस परिवर्त्तन के अनवरत प्रवाह में कुछ ऐसी भी वस्तुएं हैं जो स्थिर हैं। पर्वत जैसे के तैसे हैं (२।२७)। हरिण सीता को अब भी याद करते है (३।२०,२१)। वसिष्ठ और अरुन्धती रघुकुल के हितों की रक्षा में पूर्ववत् तत्पर हैं। राम के हृदय में सीता की स्मृति भी ज्यों की त्यों है (३।१४)।

उत्तररामचरित में विष्कम्भकों का प्रयोग भी बड़ी नाटकीय कुशलता से हुआ है। उनमें उन सभी आवश्यक घटनाओं की सूचना दे दी गई है जो कथा-सूत्र के निर्वाह के लिये अनिवार्य हैं। द्वितीय एवं चतुर्थ अंक के विष्कम्भक इस दृष्टि से पूर्ण सफल हैं। भवभूति ने 'नाटकीय सोत्प्रास' (Dramatic Irony) के भी कई सुन्दर उदाहरण उपस्थित किये हैं। जिस समय राम सीता के विषय में कहते हैं— 'किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः' (१।३८), उसी क्षण प्रतिहारी प्रवेश करके कहती है—'देव ! उपस्थितः'। राम भय-चकित होकर पूछते हैं—'अयि कः ?' इस पर वह उत्तर देती है—'आसन्न-परिचारको देवस्य दुर्मुखः'। यहां 'उपस्थितः' शब्द के 'पताकास्थानक' से भावी घटनाओं की ओर कैसा सुन्दर संकेत उपस्थित होगया है। चौथे और पांचवें अंक तथा संपूर्ण प्रत्यभिज्ञान दृश्य में भी सोत्प्रास दर्शनीय है।

इस प्रकार उत्तररामचरित में एक सफल नाटक के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। हां, एक त्रुटि, जिसकी ओर अनेक आलोचकों ने निर्देश किया है, यह है कि इसमें वर्णनात्मक प्रसंगों का आधिक्य और घटनाओं की न्यूनता पायी जाती है। द्वितीय, तृतीय

तथा पंचम अंकों में कथानक का प्रवाह अवरुद्ध सा होगया है। एक आलोचक ने तो यहां तक कह डाला है कि यदि द्वितीय और पंचम अंक निकाल भी दिये जायं तो नाटक की कथावस्तु में कोई हानि नहीं पहुंचेगी। वर्णनात्मक प्रसंगों के प्राचुर्य के कारण ही मेक्डॉनल महोदय उत्तररामचरित को नाटक कहने की अपेक्षा नाट्य-काव्य कहना अधिक संगत समझते हैं। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि उत्तररामचरित में बाह्य घटनाओं का घात-प्रतिघात गौण है और भावों का अन्तर्द्वन्द्व ही प्रधान है। भारतीय आलोचकों ने तो भवभूति को उत्कृष्ट कोटि का नाटककार माना है। धनपाल ने अपनी 'तिलकमंजरी' में भवभूति की नाट्यकला की इस प्रकार प्रशंसा की है—

स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना॥ ३०

भवभूति की शैली—संस्कृत भाषा पर भवभूति का असामान्य अधिकार था। उत्तररामचरित के आरंभ में ही उन्होंने जो गर्वोक्ति की है—'यं ब्राह्मणमियं देवी वाग् वश्येवानुवर्त्तते', वह अक्षरशः सत्य है। वास्तव में, भाषा एक दासी की भांति उनके संकेत पर चलती है। भवभूति की शैली का विशेष गुण उनका समुचित शब्द-विन्यास है। उनका शब्द-शोधन अद्वितीय है। वे अवसर के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा तथा भावों में अनुपम सामंजस्य है। जो भवभूति भयंकर युद्ध-वर्णन के समय अथवा प्रकृति के प्रचण्ड और भैरव दृश्यों के चित्रण के समय लंबे लंबे समासवाले ओजोगुणविशिष्ट क्लिष्ट पद्य[1] लिख सकते हैं, वही भवभूति ललित एवं सुकुमार भावों का वर्णन करते समय समासरहित सरल मधुर पदावली का प्रयोग[2] भी करते हैं। गौड़ी शैली के धुरंधर आचार्य होते हुए भी वे वैदर्भी रीति के प्रयोग में पारंगत हैं। जब कभी वे

१—उ० च० २।६, २।१६, २।२६, ५।६, ५।१४, ६।१

२—उ० च० १।३६, २।४, ३।५, ३।२५, ४।११, ६।५

हमारी अन्तर्भावनाओं को आन्दोलित कर किसी तीव्र मनोराग की व्यंजना करना चाहते है, तब वे सरल-सुभग शैली का ही आश्रय लेते हैं। एक नमूना देखिए। वासन्ती राम को सीता का परित्याग करने के कारण उपालभ दे रही है—

> त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
> त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
> इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
> तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥ ३।२६

'हे देव, पहले तो आपने उस भोलीभाली (सीता) को ऐसे ऐसे सैकड़ों प्रियवाक्यों से फुसलाया कि—तुम प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों की चन्द्रिका हो और तुम्हारा गात्र-स्पर्श मेरे अंगों को अमृत के समान सुखदायक है; और बाद में हाय! उसी को आपने········! अथवा जाने दीजिए, उसे कहने से लाभ ही क्या?' वासन्ती के इस क्षोभपूर्ण उपालंभ में अन्तर्गूढ़व्यथा का कैसा तीव्र दर्शन है! फिर भी पद्यावली कैसी सरल और प्रांजल है! अंतिम पंक्ति में तो कवि ने उसके मुख से कुछ भी न कहलाकर मानो सब कुछ कहला दिया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भवभूति का भाषा पर असामान्य अधिकार था। वे क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा के प्रयोग में समानरूप से कुशल थे। वे जिस सुगमता से 'कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः' जैसी समास-बहुल क्लिष्ट पदावली का प्रयोग कर सकते थे, उसी सुगमता से 'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे' जैसी सर्वथा समासरहित सरल पदावली का भी। कभी कभी तो वे अपने इस भाषा-नैपुण्य का परिचय एक ही पद्य में देते हैं, जिसके पूर्वार्ध में कोमल भाव के प्रकाशन के लिये वैदर्भी रीति की सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है

और उत्तरार्ध में वीरोल्लास की व्यंजना के लिये गौड़ी की गाढबन्धता रखी गई है—

> यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
> तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम्।
> झणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
> र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालोल्बणरसः॥ ५।२६

'जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमण्डल के उदय होने पर कुमुदिनी प्रमुदित हो उठती है, उसी प्रकार मेरे नेत्र इस (चन्द्रकेतु) को देख कर हर्षोत्फुल्ल हो रहे है। फिर भी, यह मेरी भुजा युद्ध करने के लिये आतुर हो रही है, जिस (भुजा) ने भीषण टंकार और गुंजार करती हुई प्रत्यंचा से युक्त इस विशाल धनुष को प्रेमपूर्वक धारण कर रखा है और जो विकट एवं विकराल वीररस से ओतप्रोत हो रही है।'

भवभूति ने अपनी शैली का आदर्श बताते हुए कहा है कि भाषा का प्रौढ़त्व, व्यंजनाप्रणाली का औदार्य तथा अर्थगौरव ही पाण्डित्य और वैदग्ध्य (कलात्मक प्रतिभा) के परिचायक है—

> यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्।
> तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥

भवभूति ने अपनी कृतियों में स्वयं इस आदर्श का पूर्णतया पालन भी किया है। इस कसौटी पर उनकी शैली खरी उतरती है। वास्तव में उनके नाटकों में भाषा की प्रौढ़ता, शब्दविन्यास की प्रांजलता, भावों की गरिमा, ये सभी गुण सर्वत्र समान रूप से परिलक्षित होते हैं। अतः यह निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि भवभूति की शैली में पाण्डित्य और प्रतिभा इन दोनों का अपूर्व मणिकांचन संयोग हुआ है।

भवभूति की रचनाओं में काव्य-कला का भावपक्ष ही प्रधान है और विभावपक्ष गौण। मानवीय मनोभावों के विश्लेषण और मार्मिक चित्रण में भवभूति अद्वितीय हैं। किसी राग या मनोविकार

का चित्रण करते समय वे कालिदास के समान उपमा आदि अलंकारों का आश्रय नहीं लेते, वरन् अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में उसकी गूढ़ से गूढ़ दशा का बड़ा ही सूक्ष्म और ब्यौरेवार वर्णन उपस्थित कर देते हैं। चित्रदर्शन के दृश्य में सीताहरण का चित्र देख कर राम की व्यथा पुनः जागृत हो उठती है; पर वे उसे किस प्रकार प्रयत्न-पूर्वक दबा देते हैं, इसका कवि ने लक्ष्मण द्वारा कैसा हृदयग्राही वर्णन कराया है—

अयं ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः॥ १।२६

'आपका यह अश्रुप्रवाह, मोतियों की टूटी लड़ी की भांति अनेक धाराओं में टप टप गिरता हुआ पृथ्वी पर पहुंच कर बिखर रहा है। बरबस दबाये जाने पर भी आपके हृदय का यह भरा हुआ उद्वेग, आपके फड़कते हुए ओठों तथा नासापुटों द्वारा, दूसरों को सहज ही सूचित हो रहा है।'

भवभूति किसी भावविशेष अथवा अवस्थाविशेष का ऐसा सजीव और क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत कर देते हैं कि एक चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के वर्णनों में काव्यालंकारों का अभाव भले ही हो, फिर भी वे अत्यन्त प्रभावोत्पादक होते हैं। एक नमूना देखिए। राम सीता को वनवास के मधुर दिनों की याद दिला रहे हैं—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥ १।२७

'(इस गोदावरी के तट पर) हम दोनों जब विश्राम करते समय कपोल से कपोल सटा कर तथा परस्पर एक दूसरे की भुजाओं के आलिंगन में बद्ध

होकर धीमे स्वर में इधर-उधर की बातें किया करते थे, तब रात्रि के प्रहर कब बीत जाते थे, इसका हम लोगों को पता ही नहीं चलता था।'

भवभूति भावों की इतनी गहराई तक पहुंचते हैं कि वे कभी कभी अनेक भावों का एक साथ ही पंचामृत उपस्थित कर देते हैं। बारह वर्ष के दीर्घ वियोग के बाद दण्डकारण्य में अपने प्राणवल्लभ राम का साक्षात्कार कर सीता के हृदय में एक साथ ही कितने प्रकार के भावों का संचार हो रहा है, इसका अपूर्व चित्रण देखिए—

तटस्थं नैराश्यदपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥३।१३

तमसा सीता से कह रही हैं—'हे बेटी, इस समय तुम्हारा हृदय पुनः समागम की आशा न रह जाने से उपेक्षामय, अकारण परित्याग से विषादपूर्ण, दीर्घ वियोग में अचानक भेंट हो जाने से नितान्त स्तब्ध, राम के सहज सौजन्य से प्रसन्न, प्रिय के विलापों के कारण अत्यंत शोकाकुल तथा निरतिशय प्रेम के कारण सर्वथा द्रवीभूत सा हो रहा है।' यहां पर कवि ने किस कौशल से एक के बाद दूसरे भाव का क्रमशः उदय और लय दिखलाया है।

भवभूति की विशद वर्णनाशक्ति अद्भुत है। वे प्रवाहयुक्त शोभा[1] के साथ वर्णन कर सकते हैं और मार्मिक वेग[2] के साथ भी। वे बाल्यावस्था की मुग्धकारिणी सरलता (१।२०; ४।४), किशोरावस्था की सहज चपलता (४।२६), यौवन की उद्दाम किन्तु मर्यादित शृंगार-भावना (४।३५) तथा प्रौढ़त्व एवं वार्धक्य की स्नेहपूर्ण वात्सल्य-वृत्ति (४।१९; ६।२२) का बड़ा ही सरस एवं हृदयग्राही वर्णन करते हैं। अनेक रसों के वर्णन में भवभूति सिद्धहस्त है। महावीरचरित में वीररस का और मालतीमाधव में शृंगार-रस का सजीव चित्रण

१—उ० ६।२५, २—उ० ५।२३,

हुआ है। करुणारस की मार्मिक अभिव्यक्ति उत्तररामचरित में की गई है। अनेक रसों का सुन्दर समन्वय एक ही पद्य में कर देना भवभूति की विशेषता है, जैसे भयानक और बीभत्स का (२।१६), अद्भुत और वीर का (५।६) तथा शृंगार और करुण का (१।२४)। पुरुष-सौन्दर्य का वर्णन भवभूति ने अनेक स्थलों[1] पर किया है। कुश के पौरुषातिरेक का वर्णन देखिए—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा धीरोद्धता नमयतीव गतिं धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानः वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥६।१९

'इसकी दृष्टि तीनों लोकों की सारभूत शक्ति को तृणवत् समझ रही है। इसकी धीर और उद्धत चाल मानो पृथ्वी को चँपा रही है। बालक होने पर भी इसमें पर्वत की सी गरिमा है। यह मूर्तिमान् वीररस चला आ रहा है अथवा साक्षात् दर्प ही?'

भवभूति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे परम्परायुक्त प्रणाली का अनुसरण न कर नई नई मौलिक कल्पनाओं की उद्भावना करते हैं। गज-विहार का एक रोचक चित्र देखिए—

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादितः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तयः।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुनः
यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥३।१६

'देखो, इस हाथी ने पहले तो सहज ही अपने सूँड़ से कमलनालों को उखाड़ उखाड़ कर और उनके छोटे छोटे टुकड़ों के कौर बना कर इस (हथिनी) को खिलाये। फिर खिले हुए कमलपुष्पों से सुवासित इस तालाब के स्वच्छ जल को अपने सूंड़ में भर भर कर उसके मुंह में डाला। उसके बाद सूंड़ से जलकणों के फौवारे निकाल कर उसके शरीर पर भरपूर छिड़काव किया। अन्त में अत्यन्त प्रेमपूर्वक अपनी प्रियतमा के मस्तक के ऊपर एक सीधी नाल वाले कमल के चौड़े से पत्ते का छाता भी तान दिया।' इस प्रकार भवभूति ने पशु-जगत् में

१—उ० च० ३।२९; ५।२, ११, ३६, ६।२०

भी शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम की कैसी सुन्दर झांकी दिखाई है। भवभूति ने पशुओं के भी कई सुन्दर चित्र[1] प्रदान किये हैं और उन्हें मानव भावनाओं से युक्त[2] दिखलाया है।

भवभूति अपने पद्यों में अर्थ के अनुकूल ध्वनि पैदा करने में विशेष कुशल हैं। उनके शब्दों में वर्ण्यवस्तु की झंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है। तूफान का भयावह दृश्य उपस्थित करते समय[3], रणक्षेत्र के भीषण दृश्यों का चित्रण करते समय[4], अथवा श्मशान का बीभत्स दृश्य प्रस्तुत करते समय[5], उनकी पदावली अपनी नादात्मक प्रतिध्वनि से ही उन दृश्यों के स्वरूप का आभास दे देती है। पर्वत की पाषाणमयी कन्दराओं से प्रवाहित होती हुई गोदावरी-धारा का ध्वनि-चित्र देखिए—'एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयः।' (२।३०)

भवभूति छन्दों के प्रयोग में भी बड़ी प्रवीणता दिखलाते हैं। वे कभी तो मसृण अथवा विकट वर्णों के विन्यास-कौशल से और कभी छन्द की नादात्मक गति से ही भाव की व्यंजना कर देते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य को पढ़िए, जिसमें राम के मनस्ताप की उत्तरोत्तर वृद्धि का चित्रण कैसे छन्दःकौशल द्वारा किया गया है—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥३।३८

'हा देवि! तुम्हारे विरह में मेरा हृदय फटा जाता है। शरीर टुकड़े टुकड़े हो रहा है। संसार मेरे लिये शून्य सा हो रहा है। मैं भीतर ही भीतर विरह-ज्वाला में जला जा रहा हूँ। मेरा विकल अन्तस्तल गाढ़ान्धकार में धँसा जा रहा है। चारों ओर से मुझे मूर्छाजनक मोह घेर रहा है। हाय! मैं मन्दभागी अब क्या करूं?' छन्दों में 'शिखरिणी'

१—उ० ३।१५, १६ २—उ० ३।१६, १८, २०, २१ ३—मा० मा० ६।१७
४—उ० ५।६, ६।१ ५—'उत्कृत्योत्कृत्य०' —मा० मा० अंक ५

के प्रयोग में भवभूति विशेष निपुण हैं। क्षेमेन्द्र ने भवभूति की शिखरिणी की बड़ी प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥ सुवृत्ततिलक ॥ ३।३३

भवभूति अपने पात्रों के मुख से तदनुरूप भाषा का ही प्रयोग कराते हैं। वाल्मीकि-शिष्य लव की भाषा (५।३१) उसकी धार्मिक शिक्षा तथा आश्रम-वास का परिचय देती है। जनक और तपस्विगण अपने शब्दों द्वारा अपने दार्शनिक ज्ञान का आभास देते हैं। तमसा आदि नदियाँ अपनी बातचीत में ऐसी ही उपमाएं देती हैं जिनका संबंध जल से है (३।४७)

भवभूति ने अलंकारों का प्रयोग एक कलाकार की भांति किया है। उन्होंने मौलिक उपमाओं का आविर्भाव किया है। हृदय-कुसुम को सुखाने वाला दीर्घ शोक, जानकी के, डाल से तोड़े गये कोमल किसलय के समान, पीले शरीर को उसी भांति सुखा रहा है जैसे शरत्काल की कड़ी धूप केवड़े के अंदर की कोमल पंखुड़ियों को (३।५)। रावण द्वारा अपहरण की जाने वाली सीता मेघ के बीच छटपटाती हुई विद्युत् के समान है (३।४३)। कुश की मधुर मांसल कंठध्वनि से राम का शरीर उसी प्रकार पुलकित हो उठता है जैसे नये नीले बादलों के गंभीर गर्जन से कदम्ब का पुष्प खिल जाता है (६।१७)। उपमा-प्रयोग में भवभूति की यह विशेषता है कि वे द्रव्य की उपमा किसी गुण से देते हैं अथवा मूर्त वस्तु की उपमा किसी अमूर्त भाव से। विरह-विधुरा जानकी करुणरस की साक्षात मूर्ति हैं अथवा मूर्तिमती विरह-व्यथा ही (३।४)।

भवभूति की गद्य-शैली का एक उदाहरण देखिए। सीता राम के चित्र का वर्णन कर रही है—'अहो दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्ध-मसृणमांसलेन देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसौम्यसुन्दर-श्रीरनादरखण्डितशंकरशरासनः शिखण्डमुग्धमुखमण्डल आर्यपुत्र

आलिखितः ।'—'अहा प्रस्फुटित नूतन नील कमल के समान श्यामल, स्निग्ध, मसृण (चिकने), शोभायुक्त और मांसल (गठीले) शरीर से युक्त यह कैसा अवर्णनीय सौन्दर्य है! आकार सौम्य एवं सुन्दर है, मुखमण्डल भोलेपन से भरा और काकपक्ष की भांति कटे हुए केशों से कमनीय है। आर्यपुत्र की ओर पिता जी (जनक) विस्मयपूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। आर्यपुत्र ने अनायास ही शंकर के धनुष को तोड़ डाला है। अहा! आर्यपुत्र की कैसी मनोरम मूर्ति इस चित्र में अंकित है।'

भवभूति कहीं कहीं व्यंग का बड़ा मार्मिक प्रयोग करते हैं। प्रथम अंक में राम को 'नूतन राजा' कहा गया है, जो कोई भी (सीता-निर्वासन का भी) आदेश दे सकते हैं, जिसके पालन में 'ननु-नच' की आवश्यकता नहीं। तृतीय अंक में राम का विशेषण 'रघुनन्दन' है, जिससे यह संकेत है कि वे अपने वंश की ही चिन्ता करते हैं। चौथे अंक में हमें 'प्रजापालकस्य' मिलता है, न कि 'प्रियापालकस्य'। यहां पर राम द्वारा अपनी निर्दोष लक्ष्मीसम भार्या के त्याग की ओर व्यंगात्मक संकेत है। लव की राम के प्रति क्या ही अनूठी व्यंगोक्ति है —

> वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते
>
> सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
>
> यानि त्रीण्यपराङ्मुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
>
> यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥ ५।३५

'श्रीरामचन्द्र जी वयोवृद्ध हैं। अतः उनके चरित्र की आलोचना उचित नहीं। उनके विषय में क्या कहा जाय? सुन्द की अबला स्त्री (ताड़का) को मार कर भी उनके धवल यश में बट्टा नहीं लगा और वे संसार में अब भी महापुरुष माने जाते हैं; खर राक्षस से युद्ध करते समय वे जो तीन डग पीछे हटे थे तथा इन्द्र के पुत्र (बाली) को

मारने में उन्होंने जिस कौशल का आश्रय लिया था, उनसे तो सारा संसार भली भांति परिचित है ही।'

भवभूति की गंभीर शैली में हास्य के लिये विशेष अवकाश नहीं था। फिर भी अपने नाटकों में उन्होंने जहां कहीं हास्य की अवतारणा की है, वहां उनका हास्य बड़ा ही संयत, शिष्ट एवं परिष्कृत रुचि का परिचायक हुआ है। उनका गंभीर हास्य स्मित की सीमा का उल्लंघन नहीं करता—हृदय में एक कोमल गुदगुदी सी पैदा करके अपने वैदग्ध्य मात्र से मुग्ध कर देता है। उनका हास्य 'विकृताङ्गवचोवेशः' प्रणाली से उत्पन्न न होकर बौद्धिक विनोद पर अवलंबित रहता है। उनके शिष्ट हास्य के कुछ उदाहरण देखिए। सीता चित्र में उर्मिला की ओर संकेत करके लक्ष्मण से विनोद करती है—'वत्स इयमपरा का ?', किन्तु यह परिहास भी सीता की मातृत्व-भावना के सर्वथा अनुकूल है। चौथे अंक के विष्कंभक में दाण्डायन और सौधातकि की बातचीत भी विनोदपूर्ण हुई है। वाल्मीकि के आश्रम में रहने वाले बालकों ने पहले पहल घोड़े को देख कर जो उसका परिचयात्मक वर्णन किया है वह भी कम हास्यजनक नहीं (४।२७)।

भवभूति व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि शास्त्रों के प्रकांड पंडित थे (पदवाक्यप्रमाणज्ञः)। उन्होंने उत्तररामचरित में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अमरकोश तक में नहीं मिलते, जैसे 'आकूत' (५।३५), 'उत्पीड' (।६), 'कन्दल' (३।११), 'कुम्भीनस' (२।२९)', प्रचलाकिन्' (२।२९), 'प्रतिसूर्यक' (२।१६) आदि। उनके नाटकों में अनेक स्थलों पर उनके वैदिक ज्ञान का भी परिचय मिलता है। भवभूति ने कुछ वाक्यों की वैदिक शैली में रचना भी की है, जैसे— 'परं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। अयं त्वा पुनातु देवः परोरजा य एष तपति।' (उ० च० अंक ४)

भवभूति शब्दों, पदों और समग्र श्लोकों को अपनी कृतियों में प्रायः दोहराते हैं। उत्तररामचरित में कम से कम १७ श्लोक हैं जो

महावीरचरित या मालतीमाधव में प्रयुक्त हो चुके हैं। भवभूति चुने हुए शब्दों में भाव-प्रकाशन के स्थान पर विस्तार से भावों का प्रदर्शन करते हैं। उनमें वाच्य अर्थ की प्रधानता है। वे पर्याप्त कहने पर भी रुक नहीं सकते। वे हृदय की व्यथा को अत्यधिक व्यक्त करके उसे किंचित् अतिरंजित कर देते हैं। विलाप-वर्णन में तथा युद्ध-वर्णन में उनका विपुल वाग्विलास कुछ लोगों को खटकता है। फिर भी भवभूति की काव्यधारा एक अवर्णनीय रसानन्द का संचार करती है—'तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूति र्वितनुते।'

<u>भवभूति का प्रकृति-वर्णन</u>—भवभूति की शैली में उनके संश्लिष्ट एवं चित्रोपम प्रकृति-वर्णन का भी प्रमुख स्थान है। प्रकृति के प्रति उनका अनन्य अनुराग था। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उन्होंने आलम्बन के रूप में ही किया है, उद्दीपन के रूप में नहीं। उनका जन्म विदर्भ प्रान्त में हुआ था, अतः वहां के कान्तारमय भीषण प्राकृतिक दृश्यों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि प्रकृति-वर्णन करते समय भवभूति की दृष्टि प्रकृति के सामान्य, चिर-परिचित, सीधे-सादे, प्रशान्त एवं मधुर दृश्यों की ओर न रह कर उसके असाधारण, प्रचण्ड और घोर दृश्यों की ओर ही अधिकतर रहती है। अपने तीनों नाटकों[1] में उन्होंने प्रकृति के प्रभावोत्पादक दृश्यों का स्थान-स्थान पर विशद वर्णन किया है। दण्डकारण्य की भीषणता देखिए—

> निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
> स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
> सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
> तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥२।१६

'इस भीषण वन में कहीं बिलकुल सन्नाटा छाया हुआ है और कहीं हिंस्र पशुओं की प्रचण्ड गर्जना सुन पड़ती है, कहीं स्वेच्छापूर्वक

१—मा० मा० ९।१६; म० च० ५।१०

मोये हुए, गंभीर फूत्कार करने वाले सर्पों के निःश्वासों से प्रज्वलित होकर आग लग गई है, कहीं गड्ढों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है और कहीं प्यास के मारे विह्वल कृकलास (गिरगिट) अजगर के शरीर का पसीना पी रहे हैं।' भवभूति के प्रकृति-वर्णन जितने विशद होते हैं उतने ही सूक्ष्म एवं यथार्थ भी। दोपहर की भीषण गर्मी के समय गोदावरी के किनारे का दृश्य देखिए—

> कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभिः
> घर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
> छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
> कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ॥२१६

'गोदावरी के तट पर स्थित वृक्षों के तनों से जब बड़े बड़े हाथी अपनी खुजली मिटाने के लिये अपने कपोलस्थलों को रगड़ते है तब ये वृक्ष हिल पड़ते हैं, जिससे धूप से कुम्हलाये हुए उनके शिथिल-वृन्त पुष्प गोदावरी के जल में चू पड़ते हैं, मानो ये वृक्ष इस प्रकार भगवती गोदावरी की पूजा कर रहे हों। इन वृक्षों के घोंसलों में बैठे हुए, दोपहरी की भीषण उष्णता से त्रस्त और विकल पक्षी कूज रहे हैं। कहीं कहीं इन वृक्षों की शाखाओं पर छाया में बैठे हुए कुछ जंगली पक्षी अपनी चोंचों से छालों को कुरेद कुरेद कर कीड़ों को निकाल कर खा रहे हैं।'

भवभूति ने प्रकृति के घोर और भयावह दृश्यों का ही चित्रण नहीं किया है, कभी कभी वे प्रकृति के रम्य रूपों का भी उद्घाटन करते हैं। हां, यह अवश्य है कि वे इन रम्य रूपों पर अपनी कल्पना का पुट चढ़ा कर उन्हें रंगीन नहीं बनाते, अपितु उनकी नैसर्गिक नग्न सुषमा का ही यथावत् चित्रण करते हैं। बहते हुए पहाड़ी झरनों का एक सुन्दर दृश्य देखिए—

> इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
> फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥२१२०

'देखो, ये झरने बह रहे है। इनके किनारे बेंत की कुंजों में बैठे मधुर-कण्ठ वाले पक्षी कलरव कर रहे हैं। इन कुंजों की छाया झरनों के प्रवाह पर पड़ रही है। कुंजों के फूल गिर गिर कर झरनों के जल को सुगन्धित बना रहे हैं। जब ये झरने पके हुए काले फलों के गुच्छों से लदी जामुन की सघन शाखाओं से टकरा कर प्रवाहित होते हैं तब अनेक धाराओं में फूट पड़ते हैं।' कैसा स्वाभाविक और बिम्बग्राही चित्रण है! ऐसे संश्लिष्ट रूपयोजनात्मक चित्रण संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि और कालिदास के अतिरिक्त अन्य कवियों की कृतियों में बहुत कम मिलते हैं। सच पूछा जाय तो भवभूति प्रकृति-देवी के अनन्य उपासक थे। उन्होंने प्रकृति से आत्मीयता का संबंध स्थापित किया था। तभी तो उनकी वन-देवी (वासन्ती) और नदियाँ भी मूर्तिमती हो साक्षात् सजीव प्राणियों का सा आचरण करती हैं (३।२)। भवभूति की दृष्टि में वन के पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी हमारे सखा और स्नेही स्वजन हैं—'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे' (३।६) अतः उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण सर्वथा मौलिक और प्रभावोत्पादक है।

करुण रस के आचार्य भवभूति—करुण-रस के क्षेत्र में महाकवि भवभूति की समानता करने वाला अन्य कोई कवि नहीं है—'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'। भवभूति के करुण-रस की प्रशंसा करते हुए श्री गोवर्धनाचार्य अपनी 'आर्यासप्तशती' में कहते हैं—

> भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
>
> एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥ आ० स० ३।३६

'भवभूति (कवि भवभूति अथवा शिव) के संबंध से सरस्वती भी शैलाधिराजतनया पार्वती के समान शोभित हो रही है। क्योंकि जब यह (भवभूति की वाणी अथवा पार्वती) करुणभाव की व्यंजना (अथवा विलाप) करने लगती है तब औरों की तो बात ही क्या, पत्थर भी रो पड़ते हैं।' गोवर्धनाचार्य की इस प्रशंसात्मक सूक्ति में उत्तर-

रामचरित की इस लोकप्रसिद्ध पंक्ति—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' (१।२८) की ओर कैसा सुन्दर संकेत हुआ है !

उत्तररामचरित भवभूति का करुणरस-प्रधान नाटक है। इसमें करुण-रस की अपूर्व व्यंजना हुई है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के नियमानुसार किसी भी संस्कृत नाटक का प्रधानभूत रस शृंगार या वीर ही होना चाहिये और इसी रूढ़ि के अनुसार कुछ विद्वान् उत्तररामचरित को विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत घसीटने का व्यर्थ प्रयास भी करते हैं, तथापि वास्तविक बात यह है कि भवभूति ने इस पुरानी पड़ी रूढ़ि की उपेक्षा कर एक अभिनव आदर्श की सृष्टि की। उन्होंने उत्तर-चरित में 'करुण' को ही प्रधानता दी। करुण-रस के व्यापक और स्थायी प्रभाव को भवभूति भली भांति जानते थे। वे तो यहां तक कहते हैं कि और सब रस करुण-रस के ही रूपान्तर हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान् अंभो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्॥ ३।४७

'करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस है। जिस प्रकार एक ही (समुद्र का) जल कभी भंवर के रूप को, कभी बुद्बुद (बबूले) के रूप को और कभी तरंगों के रूप को धारण कर लेता है, किन्तु वास्तव में है सब जल ही, उसी प्रकार निमित्तभेद से अर्थात् रस-सामग्री (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भाव) के वैलक्षण्य मात्र से एक ही करुण रस और रसों के रूप को धारण कर लेता है।'

यह श्लोक समस्त उत्तररामचरित नाटक का मानो बीजमंत्र है। वास्तव में देखा जाय तो उत्तररामचरित के सारे अंक स्पष्ट रूप से या प्रकारान्तर से प्रेक्षकों के हृदय में कारुण्य का ही संचार करते हैं। नाटक के प्रारंभ में ही हम देखते हैं कि राम, जनक के चले जाने पर खिन्नचित्त सीता को सान्त्वना दे रहे हैं[1]। चित्र-दर्शन के समय भी राम और सीता अपने अतीत के दुःखों का स्मरण कर जिस परितोष का

---

[1] १।७,८।

अनुभव करते हैं[1] वह हृदयस्पर्शी करुणरस से पूर्णतया सिक्त है। पंचवटी का चित्र देख कर राम और सीता दोनों अपने वियोग का अनायास स्मरण कर विकल हो उठते हैं[2]। इस चित्र-दर्शन वाले दृश्य में हम पति-पत्नी के उस प्रगाढ़ अनुराग का भी दर्शन करते हैं[3], जो निकट भविष्य में आने वाले शोक की गरिमा को और भी असह्य बना देता है! आघात उसी समय होता है जब राम प्रणय के निर्भर भाव में तल्लीन हो जाते हैं और क्लान्त, कातर, पतिप्राणा सीता पति की अभय-दान करने वाली भुजा पर ही सो जाती हैं। आनन्द-मधु का प्याला राम के ओठों तक आया ही था[4] कि निष्ठुर विधि ने उसे छीन कर फेंक दिया[5]।

दूसरे अंक में राम अपने चिर-परिचित दण्डकारण्य एवं पंचवटी प्रदेश में प्रवेश करते हैं। इन्हीं वनों में सीता के साथ अनुभूत अपने अतीत सौख्यों को स्मरण कर राम की व्यथा उभड़ आती है—

> चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
> कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
> व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
> घनीभूतः शोको विकलयति मां मूर्छयति च ॥ २।२६

'मेरा यह घनीभूत शोक विष के समान बहुत दिनों के बाद आज अचानक उभड़ कर सारे शरीर में व्याप्त हो रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि हृदय में गड़े हुए शल्य को किसी ने जोर से धक्का देकर हिला दिया है। मेरे हृदय के मर्मस्थल का जो घाव भर रहा था वह मानो आज फिर से दरक कर फूट पड़ा है। यह दारुण शोक मुझे विकल कर रहा है, मैं मूर्छित हुआ जा रहा हूँ।'

तृतीय अंक तो करुण रस का मानो अगाध सागर ही है। करुण रस की जैसी तीव्र, गंभीर एवं मर्मस्पर्शिनी व्यंजना इसमें हुई है

१—१।२४-२७; २—१।२८-३०, ३३; ३—१।१८, २०, २८, ३६, ३७; ४—१।३८, ३९; ५—१।४०

वैसी शायद ही कहीं और हुई हो। इस अंक में भवभूति की वाणी वास्तव में 'करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी' ही हो उठी है।

चौथे अंक में जनक और कौशल्या एक ओर भूतकाल की सुखद स्मृतियों को याद करते हैं[1] दूसरी ओर सीता को मृत मान कर विलाप करते हैं[2]। ब्रह्मज्ञानी जनक और राम-जननी कौशल्या को इस प्रकार प्राकृत मनुष्यों की भांति शोकाभिभूत देख कर प्रेक्षकों के हृदय में स्वभावतः उनके प्रति हार्दिक समवेदना जागृत हो उठती है। लव को देख कर जनक अपनी पुत्री सीता के अंगलावण्य का स्मरण कर दुःखी ही होते हैं[3]।

पांचवें अंक में चन्द्रकेतु और उनके सारथी सुमंत्र लव को देख कर रघुकुल के किसी अज्ञातवंशज की कल्पना करते हैं[4], पर सीता का स्मरण कर इस आशा को दुराशा मान शोक का अनुभव करते हैं[5]। लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु तथा रामतनय लव एक दूसरे को न जानते हुए परस्पर युद्ध करते हैं, यह घटना ही क्या कम करुणोत्पादक है?

छठे अंक में राम लव-कुश से मिल कर अपूर्व वात्सल्य का अनुभव करते हैं[6], पर उनकी आकृति में सीता के सौन्दर्य की झांकी कर[7] तथा निर्वासन के समय सीता की गर्भभरालसा अवस्था का स्मरण कर वे शोकाभिभूत हो जाते हैं[8]। राम की यह करुणोक्ति कितनी हृदयस्पर्शी है—

> चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
>
> प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
>
> जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
>
> कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥६।३८

१—४।११,१४,१७ २—४।१,२६ ३—४।२१,२२ ४—५।३,४
५—५।२०,२५ ६—६।१७,२१,२२ ७—६।२६,२७ ८—६।२८

'प्रिय का अनवरत ध्यान करते करते प्रिय की मूर्ति मानो आंखों के सामने स्थापित हो जाती है, इस प्रकार वियोग में भी वह आश्वासन प्रदान करता ही है। किन्तु ज्योंही उसकी कल्पित मूर्ति ध्यान से हट जाती है, त्योंही यह सारा संसार एक सुनसान जंगल के समान लगने लगता है और हृदय मानो धधकते हुए अंगारों पर रख दिया जाता है।'

सातवें अंक में सीता और राम का पुनर्मिलन होता है, किन्तु इस मिलन के मूल में भी 'सीता-निर्वासन' का वह करुण अभिनय है जिसे देख कर राम 'क्षुभितवाष्पोत्पीडनिर्भर' होकर अनेक बार मूर्छित हो जाते हैं। सच पूछा जाय तो यह सातवां अंक तीसरे अंक का ही नैसर्गिक चरमोत्कर्ष है। उसमें एक अपूर्व भावगांभीर्य है और करुणा की ही सुखद मधुर परिणति है।

भवभूति का करुण-रस अत्यंत गंभीर और मर्मस्पर्शी है। वह उस 'पुटपाक' के समान है जिसके अन्दर तीव्र अन्तर्वेदना प्रज्वलित हो रही है। यह वेदना हृदय के मर्मस्थल में अनी की तरह चुभकर दारुण यन्त्रणा तो उत्पन्न करती है, किन्तु कभी अमर्यादित उद्वेग या अनर्गल प्रलाप का रूप नहीं धारण करती[1]। यही इसका गांभीर्य है—

> अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
> पुटपाकप्रतीकाशः रामस्य करुणो रसः॥ ३।१

हां, यह अवश्य है कि इस अन्तर्गूढ़ व्यथा की तीव्रता या आधिक्य का आभास कराने के लिये कवि विलाप अथवा मूर्छादशा का बार बार चित्रण करता है। वह जानता है कि शोकातिरेक की दशा में जी भर कर रो लेने से ही हृदय हलका होता है—तालाब के लबालब भर जाने पर नालियों द्वारा बाढ़ के जल को बहा देने में ही कुशल है—

'पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।' (३।२९)

१—उ०च० ३।३५

करुणभाव की व्यंजना में भवभूति की भावुकता मुखरित हो उठी है। वे इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि गहरे शोक के प्रकाशन के लिए अल्प शब्दों की ही आवश्यकता होती है। वे विस्तार-पूर्वक हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म और कोमल से कोमल अन्तर्दशा का मार्मिक उद्घाटन करते हैं। पूर्वानुभूत पवित्र दाम्पत्य-प्रेम का एक कोमल चित्र देखिए, जिसकी स्मृति राम के शोक में और अधिक दंशन उत्पन्न कर देती है:—

> अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
>
> सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते।
>
> आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
>
> कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥ ३।३७

वासन्ती राम को स्मरण दिलाती हुई कहती है—'हे देव! देखिए यह वही लतागृह है जिसके द्वार पर खड़े खड़े आप सीता की बाट जोह रहे थे और सीता गोदावरी के तट पर देर तक हंसों के साथ क्रीड़ा करती हुई मनोविनोद कर रही थीं। थोड़ी देर बाद जब लौट कर सीता ने आपको कुछ उदास देखा तो अत्यन्त कातरभाव से उन्होंने कमल की कलियों के समान अपनी उंगलियों को जोड़ कर (विलम्ब के लिए क्षमा-याचना करते हुए) आपको प्रणाम किया था!' इस सुकुमार प्रसंग की स्मृति से राम और सीता दोनों का शोक और अधिक उद्दीप्त हो उठता है। सीता वासन्ती को मन ही मन कोसती हुई कहती हैं—'दारुणाऽसि वासन्ति, दारुणाऽसि, या एतैर्हृदयमर्मगूढशल्यसंघट्टनैः पुनः पुनरपि मां मन्दभागिनीमार्यपुत्रं च संतापयसि।'

जिस पंचवटी के प्रकृति-रमणीय प्रदेश में राम ने सीता के साथ जीवन के चौदह वर्ष व्यतीत किये थे, उस प्रदेश में पहुंच कर यदि उनकी अन्तर्गूढ़ व्यथा एक बारगी भड़क उठे तो इसमें आश्चर्य ही क्या? वहां के वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, मृग आदि सभी तो जानकी

के साहचर्य से संबद्ध और स्मृति से संयुक्त थे। फिर ऐसे स्थल पर राम का शोक-सन्तप्त हृदय क्यों न पिघल उठे ?—

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पैस्तरुशकुनिकुरङ्गान् मैथिली यानपुष्यत्।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्यः॥३।२६

ऐसी परिस्थिति में यदि पंचवटी की प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक दृश्य में राम को सीता की स्पष्ट छाया देख पड़े¹ अथवा उनके पुलककारी स्पर्श की अनुभूति हो तो क्या यह मनोविज्ञान के साहचर्य-सिद्धान्त (Law of Association) के सर्वथा अनुकूल नहीं? सच पूछिये तो इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर भवभूति ने छाया-सीता की कल्पना की तथा तृतीय अंक का नाम छाया-अंक रखा। भले ही कुछ कट्टर यथार्थवादी भवभूति की इस कल्पना को अतिमानुषिक या अलौकिक मानें, किन्तु जो लोग मनोविज्ञान के रहस्य को भली भाँति समझते हैं वे भवभूति की प्रतिभा की प्रशंसा ही करेंगे।

अतः भवभूति ने उत्तरचरित में जो करुणरस की मन्दाकिनी प्रवाहित की है वह वास्तव में संस्कृत साहित्य की एक अभूतपूर्व एवं अमूल्य निधि है। इस मन्दाकिनी की अविरल धारा में सीता का परित्याग-जन्य मालिन्य सदा के लिये धुल जाता है और दो हृदयों का सच्चा अनुसंधान हो जाता है। भवभूति के करुणरस का ही यह प्रभाव है कि जड़ भी चेतन और चेतन भी जड़ हो जाते हैं—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्याः हसतः स्म स्तनावपि॥

आदर्श प्रेम के मर्मज्ञ भवभूति—प्रेम के सम्बन्ध में भवभूति का आदर्श अत्युच्च और महान् है। उन्होंने अपने नाटकों में विशुद्ध प्रेम का ही चित्रण किया है। प्रेम के वर्णन में भवभूति कभी कामुकता के स्तर पर नहीं उतरते। वे यौवन की रोमांचकारी अवस्थाओं का

१—रामः—अयि कठिहृदये जानकि! इतस्ततो दृश्यसे नानुकम्पसे! (उ० च० अंक ३)

चित्रण तो करते है[1], किन्तु कभी कामलिप्सा की ओर संकेत नहीं करते। वे सर्वत्र अपना उदात्त गांभीर्य स्थिर रखते है।

प्रेम की व्याख्या करते हुए भवभूति कहते है कि प्रेम सौन्दर्य आदि बाह्य कारणों पर अवलम्बित नहीं—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुंडरीकं द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥६।१२

'कोई आन्तरिक अनिर्वाच्य कारण ही पदार्थों या प्राणियों में प्रीति-संयोग स्थापित करता है। प्रेम कभी बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं होता। देखो न, सूर्य के उदय होने पर ही कमल खिलता है और चन्द्रमा के उदय होने पर ही चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होती है।' कोई बता सकता है कि ऐसा क्यों होता है? भवभूति कहते हैं 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्षश्च इति विप्रतिषिद्धमेतत्'—प्रेम हो और फिर वह किसी कारण पर आश्रित हो ये दोनों बातें एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध है। प्रेम तो अकारण, स्वतःप्रेरित और अनिर्वाच्य होता है। प्रेम का रहस्य तो केवल हृदय ही जानता है—

हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्। (६।३२)

भवभूति के अनुसार प्रेम की ज्योति सुख के समीर में तथा दुःख की आंधियों में समान रूप से जला करती है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः।

'शुद्ध प्रेम जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में एकरस रहता है। हृदय को उसमें एक अनिर्वचनीय सुख और शान्ति की अनुभूति होती है। अवस्था का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वार्धक्य के कारण उसकी सरसता में कोई कमी नहीं आती। कुछ दिनों के बाद जब संकोच या दुराव का भाव दूर हो जाता है, तब वह और भी अधिक परिपक्व एवं प्रगाढ़ हो जाता है। ऐसे कल्याणकारी पवित्र दाम्पत्य-प्रेम की प्राप्ति बड़े भाग्य से ही किसी को होती है।'

१—उ० च० १।३५

कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥ १।४०

अपने इसी उदात्त एवं निःस्वार्थ प्रेमभाव की व्याख्या करते हुए भवभूति कहते हैं कि प्रिय चाहे प्रेमी के लिए कुछ भी न करे किन्तु प्रेमी के लिए वह एक अमूल्य निधि है। प्रिय के सान्निध्य मात्र से प्रेमी का सारा दुःख दूर हो जाता है—

अकिंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ ६।१८

भवभूति ने जिस दाम्पत्य-प्रणय का चित्रण किया है वह दुग्ध के समान धवल और गंगाजल के समान पवित्र है—

'स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः।'

इस कथन द्वारा उन्होंने दाम्पत्य-प्रणय की इसी धवलता और पवित्रता की ओर संकेत किया है। क्या मालती-माधव और क्या उत्तर-चरित दोनों में दाम्पत्य-प्रेम का उन्होंने उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है। दाम्पत्य-प्रणय की परिणति सन्तान की प्राप्ति में है इस बात को प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं—

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥ ३।१७

'सन्तान ही पति और पत्नी के स्नेहसिक्त हृदयों को एक सूत्र में बांधने वाली आनन्दमयी ग्रन्थि है।'

प्रेम-सम्बन्धी अपने उच्च आदर्श के कारण ही भवभूति ने अपने नाटकों में विदूषक की अवतारणा नहीं की है। उनका प्रेम किसी विलासी नृपति की प्रणय-लीला या कामुक की कामक्रीडा नहीं है, जिसमें विदूषक की सहायता की आवश्यकता हो। विदूषक का उद्देश्य तो प्रायः नायक को परकीया की प्राप्ति में सहायता पहुँचाना होता है। फिर भला भवभूति की उदात्त एवं पावन प्रणय-कल्पना में विदूषक को कैसे स्थान मिल सकता था?

भवभूति और कालिदास—संस्कृत नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में यदि कविकुलगुरु कालिदास के समकक्ष गिने जाने का गौरव किसी को प्राप्त है तो महाकवि भवभूति को ही। कुछ विद्वानों की तो यहां तक धारणा है कि उत्तररामचरित में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गये हैं—'उत्तरे रामचरिते भवभूति र्विशिष्यते।' कालिदास और भवभूति इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है इस प्रश्न को लेकर हमारे प्राचीन पंडित-समाज में एक रोचक विवाद उठ खड़ा हुआ था, जैसा कि इस प्रचलित पद्य से पता चलता है:—

> कवयः कालिदासाद्या भवभूति र्महाकविः।
> तरवः पारिजाताद्याः स्नुहीवृक्षो महातरुः॥

भवभूति के समर्थक कहते थे —'कालिदास आदि तो केवल कवि हैं, किन्तु हमारे भवभूति महाकवि हैं।' इस पर कालिदास के प्रशंसक यह मुँहतोड़ उत्तर देते कि 'ठीक है, स्वर्ग के पारिजात आदि भी तो केवल वृक्ष ही हैं; हां, स्नुहीवृक्ष (सेंहुड़) अवश्य 'महावृक्ष' है।' (आयुर्वेद में सेंहुड़ नामक कटीले वृक्ष को महातरु कहते हैं)।

भवभूति और कालिदास की कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि भवभूति पर कालिदास का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। भवभूति ने कहीं कहीं कालिदास के भावों से प्रेरणा भी प्राप्त की है। उत्तररामचरित के प्रथम अंक के चित्रदर्शन दृश्य की कल्पना रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक से ली गई जान पड़ती है—

> तयो र्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
> प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥ १४।२२

'संसार के समस्त अभीष्ट सुखों का उपभोग करने वाले राम और सीता जब अपनी चित्रशाला में बैठ कर अपने अतीत जीवन के उन चित्रों का अवलोकन करते थे जिनमें दण्डकारण्य की दुःखद घटनाओं का चित्रण किया गया था, तब चिन्तन के क्षेत्र में आ

आने के कारण वे पूर्वानुभूत दुःख भी एक अपूर्व सुख की सृष्टि करते थे।' इसी प्रकार उत्तरचरित के छठे अंक में राम और लव-कुश के अज्ञात मिलन की कल्पना शाकुन्तल के सातवें अंक में दुष्यन्त और भरत के अज्ञात मिलन से बहुत कुछ मिलती जुलती है। सीता की छायारूप में कल्पना करने का संकेत संभवतः शाकुन्तल के छठे अंक से मिला होगा, जहां सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप से ही दुष्यन्त की विरहदशा का अवलोकन करती है। मालतीमाधव के नवें अंक तथा विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक में भी पर्याप्त साम्य है। इसी प्रकार विरही माधव अपनी प्रेमिका मालती के पास मेघ द्वारा जो सन्देश भेजता है उसमें भी भाव, भाषा, छन्द—सभी दृष्टियों से मेघदूत का प्रत्यक्ष प्रभाव देख पड़ता है।

कालिदास और भवभूति दोनों ही संस्कृत के शीर्षस्थानीय नाटककार हैं। दोनों महाकवि अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। दोनों की कलात्मक विशेषताओं में अन्तर है। कालिदास की कविता में व्यंजनावृत्ति की प्रधानता है, तो भवभूति की वाणी में वाच्यार्थ की प्रगल्भता। कालिदास थोड़े से चुने हुए शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं तो भवभूति विपुल वाग्विस्तार द्वारा किसी भाव का विशद वर्णन करते हैं। कालिदास बहुत कुछ अपने पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं तो भवभूति सब कुछ स्वयं ही कह देते हैं। एक उदाहरण लीजिए। दुष्यन्त शकुन्तला को देख कर कहते हैं—'अये लब्धं नेत्र-निर्वाणम्।'–'अहा, मेरे नेत्रों को निर्वाण (मोक्ष अर्थात परमानन्द) मिल गया।' उधर भवभूति का माधव मालती को देख कर तथा उसकी स्नेहस्निग्धस्निग्ध धवल दृष्टि में स्नान कर कहता है—

> अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण नद्धः स्नपित इव च दुग्धस्रोतसा निर्भरेण।
> कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन प्रसभममृतवर्षेणेव सान्द्रेण सिक्तः।

'श्वेत कमलों की माला ने मानो मुझे सिर से पैर तक ढक लिया है।

दूध की अविरल धारा से मानो मुझे स्नान कराया जा रहा है। कानों तक फैले हुए मालती के विशाल सतृष्ण नेत्र मानो मुझे पी रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मुझ पर अमृत की सघन वर्षा हो रही है।'

अतः जहां कालिदास संकेत मात्र करते हैं वहां भवभूति विस्तृत वर्णन करते हैं। कालिदास की रचना-प्रणाली सरल और आडम्बरशून्य है, पर भवभूति की वचनभंगी प्रायः प्रौढ़ और दीर्घ-समास-संकुल है। कालिदास की भाषा मसृण और कोमल है, भवभूति की प्रायः प्रगल्भ और उदात्त। दोनों कवियों की उपमा-प्रयोग-प्रणाली भी भिन्न है। कालिदास अधिकतर मूर्त्त की उपमा मूर्त्त से देते हैं, भवभूति बहुधा मूर्त्त की अमूर्त्त से। कालिदास वल्कलधारिणी शकुन्तला की उपमा सिवार में लिपटे कमल पुष्प से देते हैं तो भवभूति सीता की तुलना मूर्तिमती करुणा या विरहव्यथा से करते हैं।

कालिदास ने प्रायः प्रकृति के ललित एवं कोमल पहलू पर ही दृष्टि डाली है। भवभूति ने प्रकृति के प्रचंड एवं घोर पक्ष को अपनाया है। कालिदास शृंगार-रस के क्षेत्र में अद्वितीय हैं तो भवभूति करुण-रस के क्षेत्र में अप्रतिम हैं। कालिदास ने नारी के बाह्य-सौन्दर्य का रमणीय वर्णन किया है तो भवभूति ने उसके अन्तःसौन्दर्य का उद्घाटन किया है। कालिदास की दृष्टि में यदि नारी 'श्रोणीभारादलस-गमना' और 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' है तो भवभूति की कल्पना में वह 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्ति र्नयनयोः' है। कालिदास की कला में नैसर्गिकता है तो भवभूति की कला में आदर्श। कालिदास में सजीवता है तो भवभूति में गांभीर्य।

भारतीय नाट्य-साहित्य के इन दोनों अमर कलाकारों की कृतियों का तुलना करते हुए स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय महोदय लिखते हैं— । 'विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंगक्रीड़ा में, भाषा के गांभीर्य में और हृदय के माहात्म्य में उत्तर-

रामचरित श्रेष्ठ है और घटनाओं की तिग्मता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानव-चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में अभिज्ञानशाकुन्तल श्रेष्ठ है। संस्कृत साहित्य में ये दोनों नाटक अद्वितीय हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तल शरदऋतु की पूर्ण चांदनी है, उत्तररामचरित नक्षत्रखचित नील आकाश है। एक स्वर्ण है, दूसरा हविष्यान्न है। एक वसन्त है, दूसरा वर्षा है। एक हास्य है, दूसरा अश्रु है। एक उपभोग है, दूसरा पूजन है।[1]

विशाखदत्त—संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' के कर्ता विशाखदत्त अथवा विशाखदेव का समय निर्धारित करने के लिये बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त होती है। वे सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज पृथु के पुत्र थे[1]। किन्तु इन व्यक्तियों के संबंध में और कुछ पता नहीं चलता। मुद्राराक्षस के अन्तिम श्लोक में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः', 'पार्थिवो दन्तिवर्मा', 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' इत्यादि पाठ मिलते हैं। पहले पाठ के आधार पर प्रो० शारदारंजन राय[2] का कहना है कि मुद्राराक्षस में विशाखदत्त ने गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) की ओर संकेत किया है। वे अपने नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल का चित्रण कर प्रकारान्तर से अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रशंसा करते हैं। मुद्राराक्षस का घटनास्थल पाटलीपुत्र है, जो उस समय एक समृद्ध नगर रहा होगा। फाहियान ने पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बतलाया है। ह्वेनसांग ने उसे भग्नावशेष पाया[3]। इसके अतिरिक्त मुद्राराक्षस में जो बौद्धधर्म की ओर संकेत (७।५) है उससे प्रतीत होता है कि उस समय बौद्ध-

---

१—Keith: *Sanskrit Drama* p 204

२—S. Ray's Introduction to his edition of मुद्राराक्षस pp 9—14

३—Elphinstone's *History of India* p. 292

धर्म का अभ्युदय-काल था। यह दशा फाहियान के भारत आने के समय थी। इन प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वान मुद्राराक्षस को पांचवीं शताब्दी के आरंभ की रचना मानते हैं।

दूसरे ('पार्थिवो दन्तिवर्मा') पाठ के आधार पर मुद्राराक्षस की रचना पल्लवराजा दन्तिवर्मा (७७९—८३० ई०) के समय में मानी जा सकती है[1]। किन्तु दक्षिण में हूणों (जिनका मु० रा० में स्पष्ट उल्लेख है) का आतंक नहीं फैला था। अतः यह मत मान्य नहीं हो सकता।

तेलंग[2] महोदय तीसरे पाठ (पार्थिवोऽवन्तिवर्मा) को प्रामाणिक मानते हैं। उनके मतानुसार ये अवन्तिवर्मा, राजाहर्ष (६०६—६४८ ई०) के बहनोई, ग्रहवर्मा के पिता मौखरि राजा अवन्तिवर्मा थे। इस मत के अनुसार मुद्राराक्षस की रचना सातवीं शताब्दी में हुई। मेकडॉनल[3] तथा रैप्सन[4] इसी मत को स्वीकार करते हैं।

याकोबी[5] (Jacobi) की सम्मति में अवन्तिवर्मा से अभिप्राय इसी नाम के काश्मीर के राजा से है, जिनका राज्यकाल ८५५-८८३ ई० था। याकोबी के मतानुसार मुद्राराक्षस में जिस चन्द्रग्रहण का उल्लेख हुआ है (१।३) वह २ दिसंबर, ८६० ई० को पड़ा था। उनकी धारणा है कि अवन्तिवर्मा के मंत्री 'शूर' ने इसी अवसर पर मुद्राराक्षस का अभिनय कराया था। किन्तु इस विचित्र धारणा के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। कीथ के मतानुसार मुद्राराक्षस पर रत्नाकर (८५० ई०) के हरविजय का भी कुछ प्रभाव देख पड़ता है। अतः

१—M. Krishnamachariar: Hist. of Cl. Skt Lit. p. 605, foot note 3.

२—Teleng's introduction to his edition of मुद्राराक्षस।

३—Macdonell: Skt. Lit. p. 365.

४—JRAS, 1900 p. 535.

५—Vienna Oriental Jouranal ii. pp. 212 ff.

याकोबी और कीथ के अनुसार मुद्राराक्षस की रचना नवीं शताब्दी में हुई। किन्तु मुद्राराक्षस पर हरविजय का प्रभाव पड़ा अथवा हरविजय महाकाव्य का मुद्राराक्षस पर, यह प्रश्न विवादास्पद है। दो रचनाओं में दिखाई पड़ने वाली समानता के आधार पर एक को पूर्ववर्ती और दूसरी को परवर्ती निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। मुद्राराक्षस और शिशुपालवध के पारस्परिक साम्य के आधार पर जहां कीथ[1] मुद्राराक्षस को परवर्ती बतलाते हैं वहां प्रो० के० एच० ध्रुव[2] उसी आधार पर उसे पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं।

मुद्राराक्षस का कथानक ऐतिहासिक है। अतः उसका रचनाकाल निर्धारित करने के लिये तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं की भी समीक्षा करनी चाहिए। इस समीक्षा के आधार पर ध्रुव महोदय[3] 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' पाठ अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनके मतानुसार ये अवन्तिवर्मा कन्नौज के मौखरि राजा थे, जिनकी सहायता से स्थाण्वीश्वर के महाराज प्रभाकरवर्धन ने हूणों को परास्त किया था। यह घटना ५८२ ई० के आस पास की है। म्लेच्छों की इस महान् पराजय के उपलक्ष्य में विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की, और इस पराजय का संकेत उन्होंने अपनी कृति (७।१८) में किया भी है। अतएव मुद्राराक्षस की रचना छठी शताब्दी के अन्त में मानी जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। ४०० ई० से ६०० ई० के

१—*Sanskrit Drama*, p. 204, note 3

२—Prof. K. H. Dhruva's introduction to his edn. of मुद्राराक्षस p. xi.

३—His edn. of मु० रा० pp. viii-x.

बीच उसका रचनाकाल दोलायमान है। इस विषय में अभी और अनुसन्धान की आवश्यकता है।

सुभाषित-ग्रंथों में दिये गये उद्धरणों से पता चलता है कि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के अतिरिक्त देवीचन्द्रगुप्त और राघवानन्द नामक दो और नाटकों की रचना की थी, पर ये कृतियां अब उपलब्ध नहीं हैं[1]। अभी हाल में देवीचन्द्रगुप्त के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं[2]।

मुद्राराक्षस समग्र संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का एक ही नाटक है। यद्यपि इसकी रचना नाट्यशास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल नहीं हुई है, फिर भी यह एक अनूठा और बेजोड़ नाटक है। संस्कृत के अन्य नाटकों की भांति रस-प्रधान न होकर, यह एक शुद्ध घटना-प्रधान नाटक है। राजनीति की कुटिल चालों और कूटनीति के दांवपेंचों का इसमें बड़ा ही सजीव और सफल चित्रण हुआ है। इसके कथानक का केन्द्रबिन्दु नन्दवंश का महामात्य 'राक्षस' है, जिसकी योग्यता और स्वामिभक्ति से प्रभावित होकर चाणक्य चाहता है कि यह किसी प्रकार चन्द्रगुप्त का मंत्री होना स्वीकार कर ले। चाणक्य यह भलीभांति जानता है कि यदि राक्षस जैसा राजनीति-धुरन्धर एवं स्वामिभक्त व्यक्ति चन्द्रगुप्त का प्रधान मंत्री बनना स्वीकार कर ले, तो चन्द्रगुप्त का राज्य अटल हो जायगा। बस, इसी लक्ष्य को लेकर चाणक्य और राक्षस के बीच जो राजनीतिक चालों की चोटें चली हैं, उन्हीं का इस नाटक के घटना-चक्र में रोचक चित्रण हुआ है।

मृच्छकटिक की भांति मुद्राराक्षस में भी घटनाओं का वास्तविक एवं सजीव चित्रण हुआ है। उसमें घटनाओं की एकाग्रता दर्शनीय है। यह सत्य है कि मुद्राराक्षस में भवभूति की प्रगाढ़

१—K. H. Dhruva in the *Poona Orientalist* Oct. 1936, p. 42.

२—G. C. Jhala : ***Kalidasa- A Study***, p. 20

करुणा अथवा कालिदास की रमणीय सुकुमारता के दर्शन नहीं होते, किन्तु इसमें जिस पौरुष, उत्साह एवं ऊर्जस्विता का चित्रण हुआ है, वह इस घटना-प्रधान नाटक के सर्वथा अनुरूप है। अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में विशाखदत्त ने विशेष कौशल दिखाया है। वे नाटक के पात्रों को इस तुलनात्मक ढंग से चित्रित करते हैं कि उनकी विशेषताएं बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। चाणक्य और राक्षस का तुलनात्मक चित्रण पूर्ण सफल हुआ है। चाणक्य यदि स्थिरचित्त, प्रतिक्षण जागरूक, कठोर, 'शाठ्यनीति'-निपुण और कभी न झुकनेवाला है, तो राक्षस अस्थिरचित्त, विस्मरणशील, उदारहृदय, सज्जन और अन्त में झुक जाने वाला है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, भागुरायण और सिद्धार्थक, निपुणक और विराधगुप्त, वैहीनरि और जाजलि आदि पात्रों का सुन्दर तुलनात्मक चित्रण किया गया है।

संस्कृत नाट्य-कला की दृष्टि से मुद्राराक्षस में कई मौलिक नवीनताएं भी देख पड़ती हैं। भास और कालिदास के नाटकों में अंक का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है। उनमें मुख्य पात्र अंक के आरंभ से लेकर अंत तक रंगमंच पर रहते हैं। पर मुद्राराक्षस में अंक का दृश्यों में विभाजन स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, तृतीय अंक में अनेक दृश्य-परिवर्तनों का स्पष्ट आभास मिलता है। मुद्राराक्षस में स्त्री-पात्रों का एक प्रकार से सर्वथा अभाव है। केवल एक स्थल पर (अंक ७) चन्दनदास की पत्नी वध्यस्थल के दृश्य में रंगमंच पर आती है। विषकन्या का भी केवल उल्लेख ही हुआ है। मुद्राराक्षस में शृंगार रस का भी नितान्त अभाव है। हां, एकाध स्थल पर राजनीतिक विषयों का शृंगारिक चित्रण अवश्य उपलब्ध होता है[१]। कुछ विद्वानों के मतानुसार मुद्राराक्षस वीररस-प्रधान नाटक है। किन्तु यह सब मुद्राराक्षस पर नाट्यशास्त्र के नियमों को

१—२।१९

घटाने का एक असफल प्रयास मात्र जान पड़ता है। वस्तुतः, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुद्राराक्षस रसप्रधान न होकर एक शुद्ध घटना-प्रधान नाटक है। इसी प्रकार इस नाटक का नायक चाणक्य है अथवा चन्द्रगुप्त, इस प्रश्न पर विद्वानों में काफी मतभेद है। नाटयशास्त्र के नियमों की रूढि का अनुसरण करने वाले विद्वान् चन्द्रगुप्त को भले ही नायक मानें, किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर चाणक्य ही इस घटना-प्रधान नाटक का नायक प्रतीत होता है, क्योंकि आरंभ से अन्त तक वही इसकी समग्र घटनाओं का सूत्र-संचालन करता है।

मुद्राराक्षस की शैली प्रवाह, प्रासादिकता और ओज लिये हुए है। इसके वाक्य छोटे छोटे और मुहावरेदार हैं। दीर्घसमास-बहुल पदावली का प्रयोग कम हुआ है। अलंकारों का उपयोग सीमित मात्रा में ही किया गया है। विशाखदत्त ने पद्यों के बाहुल्य से अपनी नाटकीय शैली को कृत्रिम नहीं बनाया है। उनका शब्द-विन्यास बड़ा ही सशक्त और प्रभावशाली है। पद्य की अपेक्षा उनका गद्य अधिक ओजःपूर्ण है। उनमें भावुकता के स्थान पर प्रभविष्णुता अधिक है। कहीं कहीं व्यंगपूर्ण हास्य का भी पुट दिया गया है। संलापों में स्वाभाविकता है। नपे-तुले शब्दों में जोरदार भाषा प्रयुक्त हुई है। कुछ उदाहरण देखिए—'अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः', 'न प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते', 'तन्मयास्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते', 'सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि', 'ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदंगुलीप्रणयी संवृत्त इति', 'कीदृशः पुनः तृणानामग्निना सह विरोधः', 'चाणक्योऽपि जितकाशितया तैस्तैराज्ञाभंगैश्चन्द्रगुप्तस्य चेतः पीडामुपचिनोति', 'ननूपायैरेवासौ हृदयेशयः शङ्कुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः' इत्यादि।

मुद्राराक्षस में नाटककार ने श्लेष का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है। यह श्लेष अधिकतर व्यंग्यार्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

'पताकास्थानक' का भी श्लेषगर्भित प्रयोग (१।६) किया गया है। मुद्राराक्षस में 'भङ्ग्यन्तरकथन' का भी आश्रय अनेक स्थलों पर लिया गया है। "कवि किसी एक ही बात को गद्य में कह कर उसे पुनः पद्य में दोहराता है[1]। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मुद्राराक्षस में लगभग २४ ऐसे गद्यांश हैं, जो अपने मूल रूप में पद्य में रहे होंगे[2]। उदाहरण के लिये चौथे अंक का यह वाक्य लीजिए—'किमिदानीं चन्द्रगुप्तः स्वराज्यकार्यधुरामन्यत्र मन्त्रिण्यात्मनि वा समासज्य प्रतिविधातुमसमर्थः।' ध्रुव महोदय के अनुसार इस गद्यांश का इस प्रकार आर्या छन्द में रूपान्तर किया जा सकता है—

आत्मनि च चन्द्रगुप्तो मंत्रिणि चान्यत्र राज्यकार्यधुराम्।
किं नु समासज्य प्रतिविधातुमसमर्थ इदानीम्॥

यद्यपि विशाखदत्त के गद्य में ओज है, फिर भी उनके पद्यों में स्थल स्थल पर लालित्यमय प्रवाह है। निम्नलिखित पद्यों से उनकी शैली का परिचय मिलेगा।

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥ १।२३

'ऐसा कौन है जो मृगराज सिंह का अपमान कर जंभाई लेते समय उसके खुले मुंह से उसकी उस दाढ़ को उखाड़ लेने की हिम्मत करे, जो हाथी के रक्त से लाल है तथा संध्याकाल के अरुणवर्ण चन्द्रमा की कला के समान चमक रही है।' चाणक्य की राजनीति का वैचित्र्य देखिए—

१—२।३ और उसके पहले का गद्यांश।
२—K. H. Dhruva : 'Verses mistaken for prose in मुद्रा॰', *Poona Orientalist* Oct. 1936 and Jan. 1937.

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्नश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥ ५।३

'भाग्य-चक्र की भांति राजनीतिज्ञ की नीति कैसी विचित्र होती है! कार्यवश कभी वह अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर देती है, कभी उसे बड़ा गहन बना देती है, कभी वह पूर्णतया विकसित हो जाती है, कभी बिलकुल अदृष्ट हो जाती है, कभी उसका कारण नष्ट होता दिखाई देता है और कभी वह प्रभूत इष्ट फल को प्रदान करती है।' मुद्राराक्षस में सरल पद्यों में शिक्षाप्रद बातें भी मिलती हैं—

शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम्।
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति॥ ४।१७

भट्टनारायण—वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण पहले कन्नौज के निवासी थे, किन्तु बाद में परिस्थितिवश बंगाल में जाकर बस गये। वे एक गौड़ ब्राह्मण-परिवार के प्रवर्त्तक हुए, पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे वर्तमान प्रसिद्ध टागौर वंश के ही पूर्वज थे। 'भट्ट' और 'मृगराज' इनकी दो उपाधियां थीं। इन उपाधियों से उनकी जाति के विषय में ठीक ठीक पता नहीं चलता, क्योंकि जहां 'भट्ट' शब्द ब्राह्मणत्व का सूचक है वहां 'मृगराज' क्षत्रिय जाति का द्योतक है। बंगाल में जिस राजा के आश्रय में भट्टनारायण रहते थे, वे आठवीं शताब्दी के पालवंशी राजाओं के पहले हुए थे। अतः भट्टनारायण तथा उनके आश्रयदाता का स्थितिकाल आठवीं शताब्दी के प्रथमार्ध के बाद का नहीं हो सकता। इस निष्कर्ष की पुष्टि बहिरंग प्रमाणों से भी होती है। मम्मट (११००ई०), धनंजय (१०००ई०), आनन्दवर्धन (८५०ई०) और वामन (८००ई०) सभी ने अपने अपने ग्रंथों में वेणीसंहार से

उद्धरण दिये हैं। इसलिये लगभग ७२५ ई० का समय भट्टनारायण के लिये युक्तिसंगत है। संभवतः वे भवभूति के समकालीन भी रहे हों।

भट्टनारायण का वेणीसंहार नामक नाटक ही एकमात्र ग्रंथ उपलब्ध होता है। वेणीसंहार की आख्यायिका महाभारत से ली गयी है, पर नाटकीय सौन्दर्य की दृष्टि से कवि ने उसमें यथेष्ट परिवर्तन भी किया है। पहले अंक में (कौरव राजसभा में दुःशासन द्वारा द्रौपदी के केश खींचे जाने पर) भीम प्रतिज्ञा करते हैं कि दुःशासन का रक्त पान कर तथा दुर्योधन को मार कर उसके रक्त से रंजित हाथों से मैं द्रौपदी की वेणी बांधूंगा। युद्ध आरंभ हो जाता है। दूसरे अंक में दुर्योधन और उसकी स्त्री भानुमती का शृंगारिक कथोपकथन है। तीसरे अंक में द्रोणवध के अनन्तर अश्वत्थामा और कर्ण में वाक्कलह होता है। चौथे अंक में दुःशासन तथा कर्ण के पुत्र वृषसेन की मृत्यु होती है। पांचवें अंक में गान्धारी और धृतराष्ट्र दुर्योधन को संधि कर लेने के लिये समझाते हैं, पर वह नहीं मानता। छठे अंक में चार्वाक नामक राक्षस युधिष्ठिर को यह मिथ्या संवाद सुनाता है कि दुर्योधन के साथ गदा-युद्ध में भीम और अर्जुन मारे गये। इस पर युधिष्ठिर और द्रौपदी अपने प्राण दे देने का संकल्प करते हैं। इतने में ही भीम दुर्योधन का वध करके लौटते हैं और अपने रक्तरंजित हाथों से द्रौपदी की विकीर्ण वेणी बांधते हैं।

वेणीसंहार वीररस-प्रधान नाटक है। करुण, भयानक और रौद्र रस का भी गौण रूप से समावेश किया गया है। इसकी रचना नाट्यशास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल हुई है। यही कारण है कि धनंजय ने अपने दशरूपक में इसके अनेक पद्य उदाहरण रूप में उद्धृत किये हैं। इसकी भाषा प्रभावपूर्ण एवं ओजोगुणविशिष्ट है।

इसमें वीररस की एक से एक अनूठी उक्तियां भरी पड़ी हैं। भीम की दर्पोक्ति देखिए—

> मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
> संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥ १।१५

'राजा युधिष्ठिर केवल पांच गांव पाने के लिये संधि का प्रयास भले ही करते रहें, पर क्या मैं क्रोधवश सारे कौरवों को रणभूमि में कुचल न डालूंगा? दुःशासन के वक्षःस्थल का रुधिर पान न करूंगा? और दुर्योधन की जांघों को अपनी गदा से चूर चूर न कर दूंगा?' अश्वत्थामा के प्रति कर्ण की चुभती हुई उक्ति देखिए—

> सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
> दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥ ३।३७

'मैं चाहे सूत हूं, या सूतपुत्र हूं अथवा कोई भी क्यों न हूं, इससे क्या? ऊंचे कुल में जन्म पाना तो दैवाधीन है, पर पौरुष मेरे अधीन है।'

वेणीसंहार के कथानक में घटनाओं का बाहुल्य है, पर उन्हें नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने में कवि को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। कहीं कहीं पद्यों के बाहुल्य तथा वर्णनात्मक प्रसंगों की प्रचुरता के कारण इसकी नाटकीय गति में व्याघात पहुंचा है। कवि ने इस छोटे से नाटक में अनेक विषयों का समावेश करने की चेष्टा की है, इस कारण कथानक कुछ जटिल हो गया है। चतुर्थ अंक में सुन्दरक द्वारा जो युद्धभूमि का वर्णन हुआ है वह कवित्वपूर्ण होते हुए भी आवश्यकता से अधिक लंबा होने के कारण नाटकीय दृष्टि से प्रभावपूर्ण नहीं कहा जा सकता। भिन्न भिन्न दृश्य मुख्य कथा से पूर्णतया संबद्ध नहीं प्रतीत होते। सभी मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं हुआ है। युधिष्ठिर और द्रौपदी का चरित्र-चित्रण पर्याप्त रूप से नहीं किया गया है। द्वितीय अंक में दुर्योधन

और भानुमती के संभोग शृंगार का वर्णन अनुचित प्रतीत होता है; दुर्योधन को समर-व्यापार से पराङ्मुख कर प्रणयपाश में आबद्ध दिखलाना उसके दौर्बल्य का परिचायक होते हुए भी कुछ अस्वाभाविक है। छठे अंक में चार्वाक राक्षस के अनर्गल सन्देश द्वारा धीरोदात्त युधिष्ठिर का एक प्रकार से परिहास किया गया है। इसलिये वहां पर जिस करुणरस का चित्रण है वह अस्वाभाविक और प्रभावहीन है। शैली ओजस्विनी होते हुए भी परिष्कृत नहीं है। करुण, वीर, रौद्र और भयानक रसों का कहीं कहीं मात्रातीत चित्रण होगया है। करुण असह्य हो जाता है और भयानक बीभत्स। प्राकृत और संस्कृत में प्रयुक्त दीर्घकाय समास तथा जटिल वाक्य-विन्यास नाटक के घटना-प्रधान कथानक के उपयुक्त नहीं हैं।

इन त्रुटियों के होते हुए भी वेणीसंहार संस्कृत के वीररसप्रधान नाटकों में विशेष लोकप्रिय है। इसके कथोपकथन नाटकीय दृष्टि से प्रभावोत्पादक हैं। तृतीय अंक कवि के नाटकीय कौशल एवं कवित्व-शक्ति का परिचायक है। पात्रों का व्यक्तित्व इस नाटक की विशेषता है। भीम की भीषणता, कर्ण का अहंकार, अश्वत्थामा का रोष एवं दयामय स्वभाव, दुर्योधन की स्वार्थपरायणता एवं विलासप्रियता विशद रूप से अंकित हैं। पात्रों का तुलनात्मक चित्रण भी इस नाटक का विशिष्ट गुण है। एक ओर भीम द्वारा द्रौपदी के अपमानदग्ध हृदय को वीरोचित ढंग से सांत्वना दिया जाना और दूसरी ओर विलासी दुर्योधन द्वारा भानुमती के प्रति शृंगारिक चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाना, अश्वत्थामा की भावुकता और ब्राह्मणोचित तेज तथा कर्ण की कटूक्तियां और व्यंग—इनका तुलनात्मक विवेचन यथातथ्य हुआ है।

वेणीसंहार की शैली के कुछ उदाहरण देखिए। अश्वत्थामा अपने निःशस्त्र पिता का वध करने वाले धृष्टद्युम्न पर जलभुन रहा है-

तातं शस्त्रग्रहणविमुखं निश्चयेनोपलभ्य
त्यक्त्वा शंकां खलु विदधतः पाणिमस्योत्तमांगे ।
अश्वत्थामा करधृतधनुः पाण्डुपाञ्चालसेना-
तूलोत्क्षेपप्रलयपवनः किं न यातः स्मृतिं ते ॥ ३।२३

'तुझे यह भलीभांति मालूम था कि मेरे पिता शस्त्र-ग्रहण नहीं करेंगे, फिर भी तूने निःशंक होकर उनके सिर पर अपना कठोर हाथ चला दिया। क्या ऐसा करते समय तुझे, पाण्डवों और पाञ्चालों की सेना को रुई की भाँति उड़ा देने वाले प्रलयकालीन पवन के समान मैं याद नहीं आया?' भीष्म और द्रोण के निधन के पश्चात् धृतराष्ट्र दुर्योधन को युद्ध समाप्त करने के लिये करुणस्वर में समझा रहे हैं—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्मद्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
मानं वैरिषु मुञ्च तात पितरावन्धाविमौ पालय ॥ ५।१

'जिनके पराक्रम का भरोसा कर हमने पट्टीदारों की कोई परवाह नहीं की, वे भीष्म और द्रोण मारे गये। कर्ण के देखते देखते अर्जुन ने उसके पुत्र को मार डाला। सारा संसार उससे भयभीत हो रहा है। मेरे अन्य पुत्रों का भी वध हो चुका है। तुम्हारे जीवित रहने के कारण ही शत्रु की प्रतिज्ञा अभी तक पूरी नहीं हुई है। अतएव, पुत्र, शत्रुओं के प्रति अभिमान को छोड़ो और अपने इन अन्धे माता-पिता का पालन करो।' शान्तरस का एक चित्र देखिए—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥ १।२३

'अपनी अन्तरात्मा में ही रमण करने वाले, निर्विकल्पक समाधि में ही प्रीति लगाने वाले, ज्ञान के प्राचुर्य द्वारा अज्ञान को समूल दूर करने वाले तथा सत्वगुण में स्थित रहने वाले मुनिगण, जिसे अन्धकार और प्रकाश से परे कोई अनिर्वचनीय तत्व समझते हैं, उस पुरातन परमात्मा (कृष्ण) को यह मूढ़ दुर्योधन भला क्या पहचाने ?'

मुरारि—अनर्घराघव नाटक के प्रणेता मुरारि मौद्गल्य-गोत्र के श्रीवर्धमानक के पुत्र थे। उनकी माता का नाम तन्तुमती देवी था। उन्होंने उत्तररामचरित के दो श्लोकों (६।३०,३१) को अपनी कृति में (१।६,७) में उद्धृत किया है। अतः वे निश्चय ही भवभूति (७०० ई०) के पश्चात् हुए थे। रत्नाकर (८५० ई०) ने अपने हरविजय (३८।६८) में मुरारि की ओर स्पष्ट संकेत किया है। मंख-कृत श्रीकण्ठचरित (११३५ ई०) में मुरारि राजशेखर (९०० ई०) के पूर्ववर्ती माने गये हैं। इन प्रमाणों के आधार पर मुरारि का स्थितिकाल ८०० ई० के लगभग माना जा सकता है। मुरारि संभवतः माहिष्मती (आधुनिक नर्मदा नदी पर स्थित मान्धाता नगरी) के निवासी थे।

अनर्घराघव सात अङ्कों का नाटक है। इस पर भवभूति के महावीरचरित की स्पष्ट छाप पड़ी है। कथानक भी प्रायः उसी के समान है। ताडका-वध से लेकर रामराज्याभिषेक तक की घटनाएं उसमें वर्णित हैं। कवि ने रामायण की कथा में कुछ रोचक परिवर्तन भी किये हैं। जब परशुराम से लड़ने के लिये उद्यत राम के धनुष की टङ्कार सीता के कानों तक पहुँचती है तब सीता को भय होता है कि कहीं राम किसी दूसरी स्त्री को पाने के लिये पुनः धनुर्भंग तो नहीं कर रहे हैं। बालि-वध के हेतु में भी नवीन कल्पना की गयी है। केवट गुह पर कबन्ध राक्षस आक्रमण करता है। लक्ष्मण कबन्ध को मार कर गुह की रक्षा करते हैं; किन्तु ऐसा करने में वे उस वृक्ष को गिरा देते हैं, जिस पर दुंदुभि का कंकाल

लटक रहा था। वालि इस बात से उत्तेजित हो राम को युद्ध के लिये ललकारता है। अतएव राम को विवश होकर उसे युद्ध में मार डालना पड़ता है। सातवें अंक में रामचन्द्रजी की विमान-यात्रा का वर्णन भी अद्भुत एवं रुचिर है। सुमेरु पर्वत, चन्द्रलोक आदि दिव्य लोकों का भ्रमण कर वे मलय और प्रस्रवण पर्वतों के ऊपर होते हुए कांची, महाराष्ट्र देश में स्थित कुण्डनीपुर, उज्जयिनी, माहिष्मती, यमुना, गङ्गा, वाराणसी, मिथिला, चम्पा, प्रयाग आदि तीर्थों का दर्शन कर अंत में अयोध्या पहुँचते हैं।

अनर्घराघव की प्रस्तावना में मुरारि ने घोषणा की है कि भयानक और बीभत्स जैसे उग्र रसों के निरन्तर आस्वादन से ऊबे हुए प्रेक्षकों को मैंने अद्भुत एवं वीर रस से युक्त एक उदात्त रचना प्रदान की है। उनका कहना है कि श्रीरामचन्द्रजी के सर्व-प्रसिद्ध कथानक का उपयोग न करना भूल है, क्योंकि राम के चरित्र-चित्रण से कवि की रचना में उदात्तता एवं सौष्ठव का स्वतः संचार होता है (१।६)। परन्तु अनर्घराघव की समीक्षा करने पर मुरारि की उक्तियां चरितार्थ नहीं होतीं। कथानक का अनावश्यक विस्तार करना कवि को विशेष प्रिय प्रतीत होता है। भावों के प्रदर्शन में अत्युक्तियों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। पात्रों का प्राचीन रूप प्रायः वैसा ही रखा गया है। हां, अपना पौराणिक ज्ञान कवि ने स्थान स्थान पर अवश्य प्रकट किया है। मुरारि की शब्दराशि विशाल है। उनकी पदशय्या प्रौढ़ एवं गम्भीर है। उनकी उपमाएं प्रायः मौलिक हैं। उनकी इसी विलक्षण मौलिकता को देख कर किसी ने कहा है—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।' उनकी भावप्रकाशनक्षमता उच्चकोटि की है। परवर्ती कवियों ने मुरारि की 'गम्भीरता' की बड़ी प्रशंसा की है। उनके पद्यों का नाद-सौन्दर्य दर्शनीय है। कवित्व की प्रौढ़ि और व्याकरण-विषयक पाण्डित्य की दृष्टि से अनर्घराघव आदर्श कृति है। सच पूछिए तो अनर्घराघव

में नाटकीय कला की अपेक्षा पाण्डित्य का ही प्राधान्य है। भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अनर्घराघव से अनेक उदाहरण दिये हैं। मुरारि की शैली के कुछ उदाहरण देखिए—

> दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूतांकुर-
>
> प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः ।
>
> याः कृच्छ्रादभिलंघ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
>
> र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवी निःशंकमेणीकुलम् ॥ ५।

'अहा, ये गोदावरी की मनोरम तटभूमियां दिखाई दे रही हैं। मतवाली कोयलों ने आम्र-मंजरियों को झकझोर कर इन तटों पर इतनी पराग-राशियां बिखेर दी हैं कि उनके छोटे छोटे टीले बन गये हैं। व्याधों के भय से भागती हरिणियां यद्यपि इन टीलों को कठिनाई से पार कर पाती हैं, किन्तु जब इन्हीं टीलों की परागधूलि उड़ उड़ कर उनके पदचिह्नों को तिरोहित कर देती है तो वे सुख की सांस लेने लगती हैं।' मुरारि की अतिशयोक्तियां बड़ी चमत्कारिणी होती हैं—

> अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य ।
>
> ऊनस्य नूनं प्रतिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः ॥ १।८७

राम सीता से कह रहे हैं कि 'हे सुन्दरी, जब तुम्हारे मुख और चन्द्रमा इन दोनों को तौला गया, तो सौन्दर्य में तुम्हारा मुख ही अधिक सारवान् सिद्ध हुआ। वजन की इसी कमी को पूरा करने के लिये मानो चन्द्रमा के साथ इन चमकते तारों को भी रखना आवश्यक हुआ।' इसी भाव को कवि ने अन्य स्थल पर और तरह से व्यक्त किया है—'ब्रह्मा ने सीता की सृष्टि करके चन्द्रमा और सीता को तुला पर रखा। सौन्दर्य में सीता का मुख अधिक भारी होने के कारण पृथ्वी पर आगया और चन्द्रमा हलका होने से आकाश में चला गया।'

मुरारि ने अपने आप को 'बाल-वाल्मीकि' कहा है। भारतीय आलोचकों ने उनकी इस प्रकार प्रशंसा की है—

मुरारिपदचिन्ताचेत्तदा माघे रतिं कुरु ।
मुरारिपदचिन्ताचेत्तदा माऽघे रतिं कुरु ॥

कुछ आलोचक मुरारि को भवभूति से भी बढ़कर मानते हैं—

मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा ।
भवभूतिं परित्यज मुरारिमुररी कुरु ॥

शार्ङ्गधरपद्धति में भी मुरारि को भवभूति से ऊंचा स्थान दिया गया है—

भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया ।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥

मुरारि की निम्नलिखित गर्वोक्ति भी परम प्रसिद्ध है—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः ।
अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ॥

'सरस्वती की उपासना तो अनेक कवि करते हैं, किन्तु विद्या का असली सार मुरारि कवि ही जानते हैं, क्योंकि उन्होंने गुरु के घर रहकर विद्योपार्जन में घोर परिश्रम किया है। बन्दरों ने महा-सागर को पार भले ही किया हो, किन्तु उसकी असली गहराई या थाह का पता तो पाताल तक डूबने वाले विपुलकाय मंदराचल को ही है।'

शक्तिभद्र—सन् १९२६ में मद्रास से शक्तिभद्र-रचित आश्चर्य-चूड़ामणि नामक नाटक प्रकाशित हुआ है। कीथ[1] ने भ्रमवश इसका नाम आश्चर्यमंजरी लिखा है, जो वास्तव में कुलशेखरवर्मा द्वारा रचित एक कथा है[2]। मालाबार की जनश्रुति के अनुसार

१—*Sanskrit Drama*, p. 371, foot note 2.
२—S. Kuppusvami Shastri's introduction to आ॰ चू॰ p. 11

शक्तिभद्र श्रीशङ्कराचार्य (७८८-८२० ई०) के शिष्य थे। अतः उनका समय नवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री ने आश्चर्यचूड़ामणि को उत्तररामचरित के बाद सर्वोत्कृष्ट राम-नाटक माना है। भास के नाटकों की भाँति इसमें भी मङ्गलाचरण श्लोक के पहले ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। संभव है दक्षिण में रचित नाटकों की यही विशेषता रही हो। आश्चर्य-चूड़ामणि में शूर्पणखा-प्रसंग से लेकर लंकाविजय और सीता की अग्निपरीक्षा तक की कथा वर्णित है। सीताहरण की घटना में परिवर्तन भी किया गया है। पहले मारीच राम और लक्ष्मण को पर्णकुटी में सीता को अकेली छोड़ने पर बाध्य करता है। फिर रावण राम का रूप धारण कर पर्णकुटी पर पहुँचता है। उसका सारथि लक्ष्मण के रूप में आकर कहता है कि तपस्वियों से मैंने सुना है कि अयोध्या में भरत शत्रुओं के कुचक्र में फंस गये हैं, अतः वहाँ सीता सहित आपका जाना आवश्यक है। इस प्रकार रावण सरलतापूर्वक सीता का अपहरण करता है। उधर शूर्पणखा सीता का रूप धारण कर पर्णकुटी में जा बैठती है। अन्त में उसकी कपट-माया प्रकट हो जाती है। राम उसे क्षमा कर देते हैं और उसके द्वारा रावण के पास यह संदेश भेजते हैं—

त्वरितगतिना सद्यः सीता त्वया न तु वञ्चिता।
नियतविधवाचारा दाराश्चिरं तव वञ्चिताः॥ ३।४०

आश्चर्यचूड़ामणि में प्रधान रस 'अद्भुत' है। 'अंकावतार' के यथास्थान उपयोग तथा विष्कंभक के परिमित प्रयोग के कारण इसमें उत्तररामचरित की अपेक्षा अधिक क्रियाशीलता दिखाई पड़ती है। इसकी भाषा सरल, आडम्बरशून्य तथा अर्थगर्भित है। कुछ उदाहरण देखिए—'न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञः', 'आर्य किं स्नेहस्तुलयति गुणदोषान्', 'कथमौष्ण्यमग्नेरङ्गानते' आदि। शक्तिभद्र ने

वैदर्भी रीति को अपनाया है। उनके पद्यों में प्रसाद और माधुर्य का सुन्दर संनिवेश है। दुर्गम वन में सुन्दरी-वेश में शूर्पणखा को देख लक्ष्मण कहते हैं—

क्वेदं वनं वनचरैरपि दुर्विगाहं
क्वेयं वपुः कुवलयच्छविचोरनेत्रा।
हेमारविन्दमकरन्दरसोपयोगां
कः श्रद्धीत जलधौ कलहंसकन्याम् ॥ ११।११

'कहाँ यह वनवासियों के लिए भी दुर्गम घोर वन और कहाँ यह कमलों की भी शोभा चुराने वाले नेत्रों से युक्त रमणी? भला यह कौन विश्वास करेगा कि स्वर्णकमलों के मकरन्दरस का पान करने वाली कलहंसी कभी खारे समुद्र में निवास करेगी!'

राजशेखर—राजशेखर महाराष्ट्र की यायावर नामक क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम दुर्दुक और माता का शीलवती था। उनके पिता 'महाराष्ट्रचूड़ामणि' अकालजलद थे। उनके वंश में सुरानन्द, तरल, और कविराज जैसे यशस्वी कवि हुए थे। उनका विवाह चाहमान (चौहान) जाति की अवन्तिसुन्दरी नामक एक सुशिक्षित महिला के साथ हुआ था। धन और यश कमाने के लिये वे कन्नौज चले गये। उन्हें अपनी विद्वत्ता का बड़ा अभिमान था। बालरामायण (१।१६) में उन्होंने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति का अवतार बताया है। कर्पूर-मंजरी में उनकी दो उपाधियों—'बालकवि' और 'कविराज'—का उल्लेख हुआ है।

अपने नाटकों में राजशेखर ने लिखा है कि वे महेन्द्रपाल या निर्भयराज नामक राजा के गुरु थे। ऑफ्रेक्ट ने इन दोनों को एक ही व्यक्ति सिद्ध किया है। ये महेन्द्रपाल, महोदय अथवा कान्यकुब्ज के प्रतिहारवंशी राजा थे। सियदोनी (Siyadoni) के शिलालेख[1]

1—Keilhorn: *Epigraphica Indica*, i. 171.

में महेन्द्रपाल की ९०३-४ ई० और ९०७-८ ई० ये तिथियाँ निर्दिष्ट हैं। अतः राजशेखर का स्थितिकाल ९०० ई० के लगभग था। एक ओर राजशेखर ने उद्भट (८०० ई०) तथा आनन्दवर्धन (८५० ई०) का उल्लेख किया है, दूसरी ओर 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०) 'तिलकमंजरी' (१००० ई०) और 'व्यक्तिविवेक' (११५० ई०) में राजशेखर का उल्लेख है। इस प्रकार उनका समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ ही निश्चित होता है।

राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की—कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण और बालभारत या प्रचण्डपाण्डव। बालरामायण में राजशेखर ने अपने को छः कृतियों का रचयिता बतलाया है। इनमें से चार उक्त नाटक हैं। पांचवां काव्यमीमांसा नामक अलंकार-ग्रन्थ है। छठा, हेमचन्द्र के अनुसार, हरविलास नामक महाकाव्य है। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने अपने भुवनकोश नामक एक भौगोलिक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। सूक्ति-संग्रहों में भी राजशेखर के नाम से कई पद्य मिलते हैं।

कर्पूरमंजरी प्राकृत में चार अंकों का एक 'सट्टक' है। इसका कथानक रत्नावली के समान है। इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तलराजकुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणय-कथा वर्णित है। यद्यपि इसका कथानक लघु है और चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं है, फिर भी कई दृष्टियों से यह एक महत्वपूर्ण नाटक है—(१) भारतीय साहित्य में आद्योपान्त प्राकृत में रचित यही एकमात्र नाटक उपलब्ध है। (२) जहाँ अन्य नाटकों में नान्दी के बाद सूत्रधार आकर नटी या किसी अन्य पात्र के साथ वार्तालाप करता है, वहाँ कर्पूरमंजरी में नान्दी के पश्चात् स्थापक आकर श्लोक कहता है। (३) इस नाटक की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि उस समय स्त्री-पात्रों का अभिनय स्त्रियाँ ही करती थीं। (४) कर्पूरमंजरी में प्रवेशक और विष्कम्भक का प्रयोग नहीं हुआ है। (५) इसके प्रत्येक अंक का नाम 'जवनिकान्तर' है और 'जवनिका'

शब्द का प्रयोग रंगमंच के पर्दे के अर्थ में पहले पहल यहीं हुआ है। (६) कर्पूरमंजरी में 'चर्चरी' नामक नृत्य का भी प्रयोग किया गया है, जिसमें हाव-भाव का प्रधान स्थान होता है। (७) भाषा-विज्ञान, पुरातत्व[1] तथा ग्रामगीतों[2] के लिये भी इस नाटक में पर्याप्त सामग्री है।

कर्पूरमंजरी का पदलालित्य दर्शनीय है। इसका कारण प्राकृत की स्वाभाविक मधुरिमा है। राजशेखर ने तो यहां तक कह दिया है कि सुकुमारता की दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत में उतना ही भेद है जितना स्त्री और पुरुष में (१।७)। प्राकृत छन्दों के प्रयोग में भी राजशेखर कुशल हैं। प्राकृत के गीति-सौन्दर्य, अनुप्रास-माधुर्य और पदलालित्य का एक नमूना देखिए—

रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं
कणक्कणिअकिङ्किणीमुहलमेहलाडम्बरम् ।
विलोलवलआवलीजणिअमञ्जुसिञ्जारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणम् ॥ २।३२

झूले पर झूलती हुई सुन्दरी का रमणीय शब्दचित्र है। 'उसके मणि-नूपुरों से कैसी मीठी झंकार निकल रही है, उसका कण्ठहार किस प्रकार चमक-दमक रहा है, उसकी करधनी छोटे छोटे बजने वाले घुंघुरुओं से कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है, उसके हिलते हुए कड़ों से कैसी प्रिय ध्वनि निकल रही है—ऐसी चन्द्रमुखी रमणी को झूलते देख भला किसका हृदय मुग्ध नहीं हो उठता?'

कर्पूरमंजरी में हास्य रस का भी बड़ा अनूठा चित्रण हुआ है। तृतीय अंक में विदूषक का स्वप्न-वर्णन बड़ा ही सरस और विनोदपूर्ण है। राजा की स्मरपीडा तथा विदूषक की विनोदप्रियता का एक साथ

१—१।२६; ४।१८-१६

२—अङ्क २,३

चित्रण किया गया है, जो रोचक और परिहासपूर्ण है। विदूषक की अनूठी उक्तियां नाटक के संवादों को सजीव बना देती हैं।

कर्पूरमंजरी के पद्यों में महाराष्ट्री और गद्य में शौरसेनी प्राकृत प्रयुक्त हुई है। उसकी प्राकृत में कई प्रान्तीय तथा देशज शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग बाद में हिन्दी में भी चल पड़ा, जैसे 'चट्टि' (चाटना), 'खड़क्किआ' (खिड़की), 'कहिं पि' (कहीं भी), 'ढिल्ल' (ढीला)। कर्पूरमंजरी में लोकोक्तियों का प्रयोग भी सुन्दर हुआ है—'दक्खारसो ण महुरिज्जइ सक्कराए' (द्राक्षारसो न मधुरायते शर्कराभिः), 'एदं तं सीसे सप्पो देसन्तरे वेज्जो' (इदं तत् शीर्षे सर्पो देशान्तरे वैद्यः), 'तडं गदाए वि णावाए ण वीससीअदि' (तटं गतायामपि नावि न विश्वस्यते)।

विद्धशालभंजिका राजशेखर की दूसरी कृति है। यह चार अंकों की एक नाटिका है। इसका भी कथानक कर्पूरमंजरी के समान ही अत्यन्त रोचक है। पहले अंक में लाट का राजा चन्द्रवर्मा अपनी कन्या मृगांकावली को अपना मृगांकवर्मन् नामक पुत्र घोषित कर उसे बालक के वेष में सम्राट् विद्याधरमल्ल की रानी के पास भेजता है। विद्याधर विदूषक से कहता है कि मैंने स्वप्न में एक सुन्दरी बाला को देख कर उसे पकड़ना चाहा, किन्तु वह अपनी मोतियों की माला छोड़कर भाग गई। राजा के मन्त्री भागुरायण को यह पता था कि मृगांकवर्मन वास्तव में स्त्री है और जिससे उसका विवाह होगा वह सार्वभौम राजा होगा। अतः दोनों में प्रणय उत्पन्न करने के लिये उसने मृगांकवर्मन् को राजा के पास भेजा। तभी से राजा निरन्तर उसी का चिन्तन करता है। संयोगवश वह अपनी चित्रशाला में अपनी प्रेयसी की खुदी हुई मूर्ति (विद्धशालभंजिका) देखता है। वह उसके गले में मोतियों की माला डाल देता है। दूसरे अंक में रानी, कुन्तलराजकुमारी कुवलयमाला का विवाह मृगांकवर्मन् से करना चाहती है। इधर राजा

विदूषक के साथ अपने स्वप्न की सुन्दरी मृगांकावली को उद्यान में खेलते हुए तथा एक प्रणय-लेख पढ़ते हुए देखता है। इस प्रकार दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। तीसरे अंक में राजा और विदूषक नायिका से मिलते हैं। चौथे अंक में रानी, ईर्ष्यावश, मृगांकवर्मन् को वस्तुतः बालक जान उसे स्त्री-वेप पहनाकर उसका विवाह राजा से करा देती है। पर वह स्वयं धोखा खा जाती है। उधर चन्द्रवर्मा के पुत्र उत्पन्न होता है और वह अपनी पुत्रवेपधारी कन्या मृगांकावली का विवाह राजा के साथ कर देना चाहता है। विवश होकर रानी मृगांकावली का विवाह तो राजा से कर ही देती है, कुवलयमाला का भी विवाह उनसे कर देती है।

बालरामायण दश अंकों का 'महानाटक'[1] है। सीता-स्वयंवर में रावण स्वयं उपस्थित होता है, पर शिव-धनुष चढ़ाने का साहस न कर केवल सीता के भावी पति को आपत्तियों का डर दिखाता हुआ चला जाता है। राम के विरुद्ध परशुराम को भड़काकर उसे लेने के देने पड़ जाते हैं और परशुराम से युद्ध होते होते बचता है। रावण को सीता की मूर्ति भेंट की जाती है। रावण उसे वास्तविक समझ धोखा खा जाता है। फिर खिन्न होकर पुरूरवा की भाँति वह अपनी प्रिया (सीता) के लिये प्रकृति—ऋतुओं, सरिताओं, पक्षियों—से याचना करता है। इसी समय नाक-कान से हीन शूर्पणखा को देख निराश प्रेमी रावण के हृदय में पुरुषोचित आवेश का संचार होता है। लंका की ओर बढ़ती चली आ रही राम की सेना के संमुख सीता का कटा मस्तक फेंक कर रावण असफल छल भी करता है। अन्त में रामचन्द्र उसका वध कर आकाश-मार्ग द्वारा अयोध्या लौट आते हैं।

१—सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
समग्रं सत्प्रतिनिधिः महानाटकमुच्यते ॥ भावप्रकाश

बालरामायण में कथा का अनावश्यक विस्तार किया गया है। प्रस्तावना ही पूरे अंक के समान लंबी होगई है। प्रत्येक अंक प्रायः एक नाटिका के बराबर है। सारे नाटक में शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे विशालकाय छन्दों में विरचित ७४१ पद्य हैं।

बालभारत के केवल दो अंक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें द्रौपदी-स्वयंवर, द्यूतक्रीड़ा तथा द्रौपदी-वस्त्रहरण की घटनाएं वर्णित हैं।

राजशेखर के नाटकों में प्रवाह की शिथिलता, हास्यरस की न्यूनता तथा नाट्यकलाकौशल का अभाव स्पष्ट देख पड़ता है। भवभूति की भांति ये भी अपने नाटकों में पद्यों को दोहराते हैं। फिर भी उनका छन्दःकौशल अनुपम है। स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित[1] जैसे दीर्घकाय छन्दों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त हैं। प्राकृत में इन छन्दों का वे बड़ी कुशलता से प्रयोग करते हैं। उनके पद्यों का रमणीय गीतिसौन्दर्य, चारु शब्दविन्यास और ध्वन्यर्थक अनुप्रास दर्शनीय हैं। उनके नाटकों में अनेक सुन्दर लोकोक्तियां भी पाई जाती हैं। उनका भाषाकौशल अद्भुत है। 'सर्वभाषाविचक्षण,' 'सव्वभासाचदुर' ये विशेषण उनके उपयुक्त ही हैं। किसी प्राचीन कवि ने उनके विषय में ठीक ही कहा है—

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीवितरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥

क्षेमीश्वर—नैषधानन्द और चण्डकौशिक के रचयिता क्षेमीश्वर राजशेखर (९०० ई०) के समकालीन थे, क्योंकि इन दोनों के आश्रयदाता कन्नौज के राजा महीपाल थे। नैषधानन्द सात अंकों का नाटक है, जिसमें नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा वर्णित है। चण्डकौशिक

1—शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरैः॥ क्षेमेन्द्र

में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान उपनिबद्ध है। भाषा सरल होने पर भी इस नाटक के कथानक तथा वस्तु-विश्लेषण में कोई विशेषता नहीं है।

दामोदर मिश्र—हनुमन्नाटक नामक महानाटक के दो संस्करण उपलब्ध हैं। पहले और संभवतः प्राचीनतर संस्करण के रचयिता दामोदर मिश्र (१००० ई०) है। इसमें १४ अंक हैं। इसका कथानक रामायण से लिया गया है। इसके आरम्भ में प्रस्तावना नहीं है। सम्पूर्ण नाटक में प्राकृत का बिलकुल प्रयोग नहीं हुआ है। पद्यों की प्रचुरता, गद्य की न्यूनता, पात्रों की बहुसंख्यकता तथा विदूषक का अभाव इसकी उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। हनुमन्नाटक का दूसरा संस्करण मधुसूदनदास विरचित है। इसमें केवल ९ अंक हैं।

कृष्णमिश्र—प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के रचयिता कृष्णमिश्र जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में हुए थे। इस राजा का १०९८ ई० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय ११०० ई० के लगभग था।

संस्कृत नाटकों में प्रबोधचन्द्रोदय शान्तरसप्रधान नाटक है। यह एक रूपकात्मक (allegorical) नाटक है, जिसमें वेदान्त के अद्वैतवाद का रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इसमें कवि ने विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त भावों को पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप में कल्पित कर अध्यात्मविद्या का सुन्दर उपदेश दिया है। दार्शनिक दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त महत्त्वमय है। इसमें भक्ति और ज्ञान का अपूर्व समन्वय किया गया है। इसके दार्शनिक पद्य बड़े प्रभावोत्पादक हैं। इसके पद्यों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावली-
निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ्मग्नोऽपि नाचामति।
निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब-
त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति॥ ४।६

'इस ब्रह्मरूपी प्रशान्त महासागर में कहीं विकार रूपी तरंगें नहीं उठतीं, सर्वत्र अनन्त महिमा व्याप्त हो रही है, सांसारिक विषय-वासनाओं से शून्य निमल ज्ञानरूपी आनन्द प्रसार पा रहा है। ऐसे अमृतमय जल में निरन्तर निमग्न रहने पर भी यह मूढ़ मानव उसका ज़रा भी आस्वादन नहीं करता। किन्तु दूसरी ओर बार बार निराश होने पर भी संसार के मृगतृष्णा-तुल्य निस्सार जल का वारम्बार पान करता है, आस्वादन करता है, उसमें डुबकी लगाता है, रमण करता है तथा डूबता-उतराता है।' शोकरूपी वृक्ष किस प्रकार पल्लवित होता है, इसका रूपकात्मक वर्णन देखिए—

उप्यन्ते विषवल्लिबीजविषमाः क्लेशाः प्रियाख्या नरै-
स्तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति नचिराद्वज्राग्निगर्भाङ्कुराः।
येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतभुग्दाहं दहन्तः शनै-
र्देहं दीर्घशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः॥ ५।१६

'विषलता के बीजों के समान अनर्थकारी पुत्र-कलत्ररूपी क्लेश बीजों को मनुष्य इस संसार में बोते हैं। इन बीजों से शीघ्र ही वज्राग्नि के समान संतापकारक स्नेहासक्ति-रूप अङ्कुर फूट निकलते हैं। इन्हीं अङ्कुरों से शोकरूपी वृक्षों का प्रादुर्भाव होता है, जो हज़ारों दुःखरूपी ज्वालाओं से युक्त हो तुषाग्नि (भूसी की आग) की तरह मनुष्यों की देह को भीतर ही भीतर जलाया करते हैं।' अतएव इस अज्ञानरूपी जड़ वाले संसार-वृक्ष का समूल नाश करने का एकमात्र उपाय यही है कि जगदीश्वर परमात्मा के आराधन-बीज से प्रादुर्भूत तात्त्विक ज्ञान का ही आश्रय लिया जाय—

अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय ।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः ॥ ४।७

प्रबोधचन्द्रोदय का ही अनुकरण कर तेरहवीं शताब्दी में यशःपाल ने मोहपराजय, चौदहवीं शताब्दी में वेङ्कटनाथ ने संकल्पसूर्योदय तथा सोलहवीं शताब्दी में कवि कर्णपूर ने चैतन्यचन्द्रोदय नामक रूपकात्मक नाटकों की रचना की।

जयदेव—प्रसन्नराघव के कर्त्ता जयदेव (१२०० ई०) विदर्भदेश के कुंडिननगर के निवासी थे। उनके पिता का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रा था। उन्होंने 'चन्द्रालोक' नामक प्रसिद्ध अलंकार-ग्रंथ की रचना की है। ये 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं। कवि होने के साथ ही वे उच्चकोटि के तार्किक भी थे। प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में वे स्वयं कहते हैं—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥ १।१६

'जिसकी वाणी काव्य की कोमलकान्तपदावली की रचना करने में सहज ही समर्थ हो, यदि वह तर्कशास्त्र के कर्कश और वक्र वाक्यों का भी गुम्फन कर सके तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात! क्या जो लोग आनन्दपूर्वक अपनी प्रिया के कुचमंडल का स्पर्श अपनी उंगलियों से करते हैं, वे ही बड़े बड़े मतवाले हाथियों के मस्तकों पर उन्हीं उंगलियों से बाणसंधान नहीं करते ?'

प्रसन्नराघव सात अंकों का नाटक है। इसमें रामायण की कथा अनेक रोचक परिवर्तनों के साथ चित्रित है। पहले अंक में बाणासुर और रावण दोनों सीता की याचना कर उपहासास्पद बनते हैं। दूसरे अंक में राम जनकपुर के उद्यान में सीता को अपनी

सखी के साथ भ्रमण करते देखते हैं। राम और सीता दोनों वासन्ती-लता तथा सहकार-वृक्ष के संयोग का वर्णन कर अपने भावी मिलन की ओर उत्कण्ठापूर्ण संकेत करते हैं। दोनों में साक्षात्कार होता है और वे परस्पर आकृष्ट होते हैं। तीसरे अंक में सीता-स्वयंवर तथा चौथे में राम का परशुराम से युद्ध होता है। पांचवें अंक में घटनाओं के वर्णन में कवि की अनूठी सूझ देख पड़ती है। नदियों के संवाद द्वारा राम-वनवास से लेकर सीता-हरण तक की घटनाओं से पाठकों को परिचित करा दिया जाता है। छठे अंक में विरही राम को दो विद्याधर माया द्वारा लंका की घटनाएं दिखाते हैं। सीता रावण के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती है। रावण क्रोधवश उन्हें मार डालने के लिये आगे बढ़ता है, इतने में ही उसके हाथ में उसके पुत्र अक्ष का कटा सिर आ जाता है। सातवें अंक में रावण-वध कर राम आकाश-मार्ग से अयोध्या लौट आते हैं।

भवभूति के समान जयदेव का संस्कृत भाषा पर असामान्य अधिकार था। उनकी भाषा में अद्भुत विलास एवं लालित्य है। पदशय्या इतनी मसृण एवं उदार है कि भाषा में अपूर्व रमणीयता आ गई है। उन्होंने अपने विषय में जो गर्वोक्ति की है—'विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः'—वह बहुत कुछ उपयुक्त है। उनकी शैली बड़ी ही प्रांजल, प्रासादिक, परिष्कृत एवं मधुर है। उनकी उपाधि 'पीयूषवर्ष' सर्वथा उचित है। सच पूछा जाय तो प्रसन्नराघव में जितना नाटकीय सौन्दर्य नहीं है उससे कहीं अधिक सूक्ति-सौन्दर्य है। उनके सूक्ति-सौन्दर्य पर ही मुग्ध होकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने उनके कई पद्यों को अपने रामचरितमानस में अनुवाद करके स्वीकार कर लिया है[1]। उनकी शैली के कुछ नमूने देखिए—

1—तुलसी-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृष्ठ १६३-१७४

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः ।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ॥ १।१९

'इस संसार में भला ऐसे सज्जन कितने हैं जो स्वरचित रचनाओं से आनन्दित होते हुए भी दूसरों की काव्य-कृतियों पर पूर्ण परितोष प्रकट करते हैं ? क्या आम्र का वह वृक्ष, जिसका थाला अपने सघन मकरन्द रस से ही भर रहा हो, घड़ों के जल से सींचे जाने की कामना नहीं करता ?'

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि ॥ ६।१

सीता के वियोग से व्यथित राम पूर्व दिशा में पूर्णचन्द्रमंडल को उदित होते देख लक्ष्मण से कहते हैं— 'हे लक्ष्मण, चलो किसी पेड़ के नीचे चलें, क्योंकि देखो यह प्रचण्ड सूर्य उदित हो रहा है ।'

लक्ष्मण— 'हे राघव, रात में सूर्य कहां से आयेगा ? यह तो चन्द्रमा उदित हो रहा है ।'

राम— 'हे वत्स, यह बात तुम्हें कैसे मालूम हुई ?'

लक्ष्मण—'क्योंकि यह मृग के चिह्न को धारण कर रहा है ।'

लक्ष्मण के मुख से मृग का नाम सुनते ही मृगनेत्री सीता का स्मरण कर राम कह उठते हैं— 'हा प्रियतमे, मृगनयनी, चन्द्रमुखी जानकी ! तुम कहां हो ?' प्रसन्नराघव के कमनीय शब्द-विन्यास के कुछ नमूने देखिए— 'युवतिलोकललामवल्ली', 'कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः', 'सततसुखसंवासवसतिः', 'केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ।'

वत्सराज—ये कालंजरनरेश परमर्दिदेव (११६३-१२०३ ई०) के मन्त्री थे । इन्होंने छः नाटकों की रचना की—(१) किराता-

र्जुनीय व्यायोग भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य के आधार पर रचा गया एकांकी 'व्यायोग' है। (२) कर्पूरचरित एक अंक का 'भाण' है, जिसमें द्यूतकर कर्पूर अपने रोचक अनुभवों का वर्णन करता है। (३) हास्यचूडामणि एकांकी 'प्रहसन' है। (४) रुक्मिणीहरण चार अंकों का 'ईहामृग' है। (५) त्रिपुरदाह चार अंकों का 'डिम' है, जिसमें शिव द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंस का वर्णन है। (६) समुद्र-मंथन तीन अंकों का 'समवकार' है। इसमें देवताओं और राक्षसों द्वारा समुद्र-मंथन, समुद्र से चौदह रत्नों की उत्पत्ति, विष्णु और लक्ष्मी का प्रणय तथा विवाह इत्यादि घटनाएं वर्णित हैं।

भास के अनन्तर वत्सराज ही ऐसे नाटककार हुए हैं जिन्होंने इतने विविध प्रकार के रूपकों की रचना की है। उनकी शैली सरल, सशक्त और ललित है। उसमें दीर्घ समासों तथा दुरूह वाक्य-विन्यास का प्रयोग नहीं किया गया है। उनके छोटे छोटे नाटकों में नाटकीय क्रियाशीलता, रोचकता तथा घटनाओं की प्रधानता देख पड़ती है। उनकी शैली का नमूना देखिए—

सिध्यन्ति कामाः बलिनां व्रजन लोकस्थितिः किन्नु न लंघनीया।
दृष्टैव सैहर्त्तुमलं गिरीशः शत्रुच्छिदे सज्जयति त्रिशूलम्॥ रु० ह० २।१२

बारहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटकों का प्रचार क्रमशः कम होता गया। इसका एक कारण यह था कि कविगण अपनी रचनाएं सुशिक्षित शिष्टवर्ग के लिये करते थे, अतः जनसाधारण के लिये दुर्बोध होने के कारण उनकी कृतियों का प्रचार व्यापक न हो सका। दूसरे, देश में विधर्मियों का शासन स्थापित हो जाने के बाद संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन और सृजन को राजकीय प्रोत्साहन मिलना बन्द होगया। तीसरे, संस्कृत का प्रयोग दैनिक व्यवहार में कम होता गया और उसका स्थान धीरे धीरे प्रान्तीय भाषाओं ने ले लिया। फिर भी संस्कृत कई शताब्दियों तक नाटकों

की भाषा बनी रही। उदाहरणार्थ, विद्यापति ठाकुर के नाटकों में पात्र संस्कृत और प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं, केवल पद्य मैथिली में हैं।

ऊपर संस्कृत के प्रमुख एवं प्रसिद्ध नाटककारों तथा उनकी रचनाओं का विवेचन किया गया है। बारहवीं शताब्दी के बाद रचे गये संस्कृत नाटकों का प्रचार जनता में कम हुआ। उनमें से कुछ प्रसिद्ध कृतियों तथा उनके कर्ताओं का उल्लेखमात्र कर यह अध्याय समाप्त किया जाता है—जयसिंहसूरि-कृत हम्मीरमदमर्दन (१२३० ई०); जगदीश्वर-कृत हास्यार्णव (१६०० ई०); रामभद्रदीक्षित-कृत जानकीपरिणय (१७०० ई०); शेक्सपियरके 'मिड्समर नाइट्स ड्रीम' के आधार पर आर० कृष्णमाचारी-कृत वासन्तिकस्वप्न (१८९२ ई०); लक्ष्मणसूरि-कृत दिल्ली-साम्राज्य (१९१२ ई०) तथा मूलशंकर याज्ञिक बी० ए० कृत छत्रपतिसाम्राज्य, प्रतापविजय और संयोगिता-स्वयंवर।

संस्कृत नाटकों की विशेषताएं—संस्कृत के नाटक रस-प्रधान होते हैं। उनमें घटनाओं की वास्तविकता अथवा कथा-वस्तु की यथार्थता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में किसी रसविशेष का संचार करने की ओर। कवि की विदग्धता केवल रसाभिव्यक्ति की पूर्णता में ही मानी जाती थी। रस ही नाट्यकला का प्रधान लक्ष्य माना गया। प्रधान रस शृंगार अथवा वीर इन्हीं दो में से कोई होता था। पाश्चात्य नाटकों की तरह चरित्र-चित्रण नाटक का मुख्य अंग नहीं समझा गया। अतः नाटकों में प्रायः ऐसी ही कथा का आश्रय लिया गया जो प्रसिद्ध होने के कारण प्रेक्षकों के मनोनुकूल हो। इस प्रकार संस्कृत नाटक रसप्रधान तथा कवित्वमय हुए और उनमें आदर्शवाद की सृष्टि हुई। इसका आशय यह नहीं कि संस्कृत

नाटक में वास्तविकता का अस्तित्व ही नहीं। सच पूछा जाय तो संस्कृत नाटकों का ही नहीं अपितु समग्र संस्कृत काव्य-साहित्य का उद्देश्य यथार्थ और आदर्श दोनों का समुचित समन्वय उपस्थित करना था।

संस्कृत नाटकों में पात्रों की संख्या नियत नहीं रहती। पात्र लौकिक, दिव्य अथवा अर्धदिव्य होते हैं। कवियों ने व्यक्तिमूलक (individual) पात्रों की अवतारणा की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना समुदायगत (typical) चरित्रों की सृष्टि की ओर। कालिदास, शूद्रक प्रभृति कुछ महान् कलाकारों की कृतियों में भले ही पात्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हों, किन्तु साधारणतया संस्कृत नाटककारों ने परम्पराभुक्त चरित्रों का ही निर्माण किया है। स्वप्नवासवदत्त, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी आदि के नायक-नायिकाओं के व्यक्तित्व में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। पात्र अपनी अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। संस्कृत का प्रयोग केवल नायक अथवा उच्च वर्ग के पात्रों द्वारा होता है। निम्नश्रेणी के लोग और स्त्री-पात्र प्राकृत में ही बोलते हैं।

संस्कृत नाटकों में एरिस्टोटल द्वारा निर्दिष्ट समय और स्थान की अन्विति (unities of time and place) भी नहीं पायी जातीं। पाश्चात्य नाटकों की भांति संस्कृत नाटक के अंकों का विभाजन विभिन्न दृश्यों में नहीं होता। भाषा गद्यपद्यमय होती है। नाटक के अन्तर्गत नाटक, पत्रलेख, अभिज्ञान (पहिचान की निशानी), विदूषक आदि के उपयोग में संस्कृत तथा पाश्चात्य नाटकों में समानता है।

नाटक का कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक या कविकल्पित होता है। उसमें रंगमंच पर वध, युद्ध, विवाह, भोजन, यात्रा, मृत्यु आदि अशुभ या व्रीडाजनक व्यापारों का अभिनय निषिद्ध माना गया है।

सभी संस्कृत नाटक सुखान्त होते हैं। केवल भासकृत 'ऊरुभंग' एक अपवाद है। प्रत्येक संस्कृत नाटक का आरंभ 'प्रस्तावना' से होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार, नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्वक के साथ बातचीत करता हुआ नाटक की कथा-वस्तु और कवि का संक्षिप्त परिचय देकर नाटक का आरंभ कराता है। अंक की समाप्ति तक रंगमंच कभी खाली नहीं रहता। प्रथम अंक के आरंभ में अथवा दो अंकों के बीच में 'विष्कम्भक' का प्रयोग होता है, जिसमें संवाद या स्वगत-भाषण द्वारा प्रेक्षकों को ऐसी घटनाओं की सूचना दी जाती है जिनका रंगमंच पर दिखलाया जाना आवश्यक नहीं, किन्तु कथासूत्र के निर्वाह के लिये जिनका जानना अनिवार्य है। नाटक की समाप्ति 'भरतवाक्य' से होती है, जिसमें प्रधानपात्र, देश या समाज की उन्नति की शुभकामना की जाती है। संस्कृत नाटक में कम से कम पांच और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध देख पड़ता है। प्रकृति की रमणीयता नाटक की चारुता में अभिवृद्धि करती है। उपवन के वृक्ष, लताएं, नदियां, पशु, पक्षी आदि सभी नाटक के सजीव अंग हैं। संस्कृत नाटकों में अन्तःप्रकृति के साथ ही बाह्य-प्रकृति का भी सुन्दर एवं विशद चित्रण पाया जाता है। अन्तःप्रकृति की सूक्ष्म एवं सुकुमार भावनाओं के चित्रण के लिये बाह्य-प्रकृति चित्रफलक का कार्य करती है।

इस अध्याय के १७ प्रमुख नाटककारों की नामावली इस प्रकार है—

अश्वघोषस्तथा भासः शूद्रकश्चापि भूपतिः ।
कालिदासश्च दिङ्नागो नृपतिर्हर्षवर्धनः ॥
भवभूतिर्विशाखश्च भट्टनारायणस्तथा ।
मुरारिः शक्तिभद्रश्च पुनः श्रीराजशेखरः ॥
क्षेमीश्वरश्च मिश्रौ च कृष्णदामोदरावुभौ ।
जयदेवश्च वत्सश्च ख्याता नाटककारकाः ॥

५

गद्य-साहित्य

उत्पत्ति तथा विकास—संस्कृत में गद्य का प्रयोग वैदिक काल से होता आया है। कृष्णयजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् अधिकांश गद्य में ही है। तत्पश्चात् गद्य का प्रयोग महाभारत में देख पड़ता है। यास्क (७०० ई० पू०) का 'निरुक्त' गद्य में विरचित है। पतंजलि (१५० ई० पू०) ने अपना महाभाष्य गद्य में लिखा है। पद्य की अपेक्षा गद्य की श्रेष्ठता दिखलाने के लिये ही प्राचीन काल से यह उक्ति प्रचलित है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—'गद्य ही कवियों की कसौटी है।' संस्कृत साहित्य में गद्य का उपयोग प्रधानतया टीकाओं में, व्याकरण-ग्रंथों में तथा ज्योतिष आदि वैज्ञानिक ग्रंथों में हुआ है। काव्य-माध्यम की दृष्टि से गद्य का स्थान पद्य की अपेक्षा गौण है और उसका प्रयोग कथाओं में, आख्यायिकाओं में तथा आंशिक रूप में नाटकों में हुआ है।

संस्कृत गद्य-काव्य की उत्पत्ति के संबंध में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इसका उद्भव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। गद्य-काव्य का सर्वप्रथम दर्शन दण्डी, सुबन्धु और बाण की कृतियों में होता है, वह भी पूर्ण विकसित रूप में। उनके पूर्व के लेखकों तथा रचनाओं का इतिहास निविड़ अँन्धकार में छिपा है। हां, इतना तो निश्चित है कि गद्य-काव्य भी संस्कृत साहित्य की एक परम प्राचीन शाखा है। कात्यायन (३०० ई० पू०) अपने वार्तिक में 'आख्यायिका' का उल्लेख करते हैं[1]। पतंजलि अपने महाभाष्य में तीन आख्यायिकाओं से परिचित हैं—

१—'लुबाख्यायिकेभ्यो बहुलम्', 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च'—वार्तिक

'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी'[1]। बृहत्कथा, पंचतंत्र की कथाएं तथा तंत्राख्यायिका में 'कथा' और 'आख्यायिका' (जो गद्य-काव्य के ही दो भेद हैं) का जो उल्लेख है, उनका गद्य-काव्य से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं। पर यह निर्विवाद है कि गद्य-काव्य की सृष्टि पद्य-काव्य से जनकथाओं के माध्यम द्वारा ही हुई है। बाण 'हर्षचरित' में भट्टार हरिचन्द्र[2] नामक एक उच्चकोटि के गद्य-लेखक का उल्लेख करते हैं, किन्तु उनका कोई गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। कुछ उपलब्ध शिलालेखों से गद्य-काव्य का प्रचार एवं प्रसार स्पष्ट लक्षित होता है। रुद्रदामन् के शिलालेख (१५० ई०) में अलंकृत गद्य-शैली का प्रयोग हुआ है। गुप्तकालीन एक शिला-लेख (४०० ई०) ऐसी शैली में रचित उपलब्ध हुआ है, जिसकी तुलना बाण की गद्य-शैली से हो सकती है। इन प्रमाणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि गद्य-काव्य की कला का प्रचार दण्डी, सुबन्धु और बाण से कई शताब्दी पूर्व से ही रहा होगा, किन्तु इन कलाकारों ने अपने अनुपम तथा उत्कृष्ट गद्य-काव्यों के प्रभाव से अपने पूर्ववर्ती लेखकों को ऐसा आच्छादित कर दिया कि उनमें से बहुतों के नाम भी उपलब्ध नहीं होते। दण्डी, सुबन्धु और बाण गद्य-काव्य के विकास-काल की चरमोन्नति के प्रतिनिधि लेखक हैं। इनसे पूर्व दीर्घकाल तक साहित्य के इस अंग का अभ्यास होता रहा होगा, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। वररुचिकृत 'चारुमती', रोमिल-सोमिलकृत 'शूद्रक-कथा'[3], तथा

१—'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' बहुलं लुग्वक्तव्यः। वासवदत्ता सुमनोत्तरा। न च भवति। भैमरथी। महाभाष्य ४।३।८७

२—पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥ हर्षचरित

३—तौ शूद्रककथाकारौ वन्द्यौ रामिलसौमिलौ।
ययोर्द्वयोः काव्यमासीदर्धनारीश्वरोपमम्॥ जल्हण

श्रीपालितकृत 'तरङ्गवती'[1] इस कथन की पुष्टि करते हैं। यद्यपि ये लेखक और ये ग्रन्थ हमारे लिये केवल नाममात्र ही हैं, तथापि वे गद्यकाव्य की उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास के परिचायक हैं।

कथा और आख्यायिका—संस्कृत गद्य-साहित्य के प्रधान रूप से दो विभाग किये गये हैं—'कथा' और 'आख्यायिका'। दण्डी[2] के अनुसार इनमें निम्नलिखित भेद होते हैं—(१) कथा कविकल्पित होती है, आख्यायिका ऐतिहासिक इतिवृत्त पर अवलम्बित[3]। (२) कथा में वक्ता स्वयं नायक अथवा अन्य कोई रहता है; आख्यायिका में नायक स्वयं वक्ता होता है। आख्यायिका को हम एक प्रकार से आत्म-कथा कह सकते हैं। (३) आख्यायिका का विभाग अध्यायों में किया जाता है, जिन्हें उच्छ्‌वास कहते हैं, तथा उसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र छंद के पद्यों का समावेश रहता है, पर कथा में नहीं। (४) कथा में कन्याहरण, संग्राम, विप्रलंभ, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि विषयों का वर्णन रहता है, पर आख्यायिका में नहीं। (५) कथा में लेखक किसी अभिप्राय से कुछ ऐसे विशेष शब्दों (catchwords) का प्रयोग करता है जो कथा और आख्यायिका में भेद स्थापित करते हैं।

उपर्युक्त नियमों का एकांततः पालन संस्कृत गद्य-लेखकों ने नहीं किया है। दण्डी स्वयं कहते हैं कि कथा-आख्यायिका में कोई महत्व का भेद नहीं। इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि ये गद्य-काव्य के दो नाममात्र हैं।

दण्डी[4]—गद्य-काव्य के लेखकों में सबसे प्राचीन कृतियां

१—'पुण्या पुनाति गंगेव गां तरंगवती कथा'—तिलकमंजरी

२—काव्यादर्श १।२३-३०

३—'आख्यायिकोपलब्धार्था', 'प्रबन्धकल्पना कथा'—अमरकोष १।५।५,६

४—M. R. Kale's Introduction to his edition of the दशकुमारचरित।

महाकवि दण्डी की उपलब्ध होती है। 'शार्ङ्गधरपद्धति' में राजशेखर के नाम से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

इस कथन के अनुसार दण्डी ने तीन ग्रंथों की रचना की। इनमें से दो काव्यादर्श और दशकुमारचरित हैं। काव्यादर्श अलंकार-शास्त्र का ग्रन्थ है तथा दशकुमारचरित गद्य-काव्य है। काव्यादर्श में गद्य-काव्य की शैली एवं कथावस्तु के संबंध में जिन नियमों का विधान किया गया है, उनका सर्वथा पालन दशकुमारचरित में नहीं देख पड़ता। अतः कुछ विद्वानों की धारणा है उक्त दोनों कृतियां दो भिन्न भिन्न व्यक्तियों की लेखनी से प्रसूत हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने दशकुमारचरित की रचना अपने साहित्यिक जीवन के प्रभातकाल में की, तथा काव्यादर्श की रचना प्रौढ़ प्रतिभा की प्राप्ति के पश्चात्। दण्डी की तीसरी रचना के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि दण्डी की तृतीय रचना छन्दोविचिति या कलापरिच्छेद है, क्योंकि काव्यादर्श[1] में इन नामों का उल्लेख है। पर उक्त दोनों नाम छन्दःशास्त्र-संबंधी किसी भी ग्रन्थ के हो सकते हैं। पिशेल ने निम्नलिखित दो आधारों पर मृच्छकटिक को दण्डी की तीसरी रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है—(१) 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' वाला प्रसिद्ध पद्य, काव्यादर्श (२।२२६) तथा मृच्छकटिक (१।३४) दोनों में पाया जाता है। (२) मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित का सामाजिक चित्रण एक-सा है। अतः दोनों दण्डी की रचनाएं हैं। परन्तु भास के नाटकों की खोज के उपरान्त पहला तर्क निराधार हो जाता है तथा दूसरे तर्क में भी औचित्य नहीं देख पड़ता। कुछ पण्डितों ने 'मल्लिका-मारुत' नामक नाटक को दण्डी की रचना माना है। किन्तु

१—१।१२, ३।१७१

यह नाटक मालाबार प्रान्त के उद्दण्ड रङ्गनाथ (१५०० ई०) की रचना स्वीकृत हो चुका है[1]। सन् १९२४ में अवन्तिसुन्दरीकथा नामक एक गद्य-काव्य प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक एम० आर० कवि महोदय ने इसे दण्डी की रचना माना है। अवन्तिसुन्दरीकथा दशकुमारचरित के कथानक के समान है। अंतर केवल शैली में है। अवन्तिसुन्दरीकथा की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं, क्योंकि काव्यादर्श की जंघाल-कृत टीका में अवन्तिसुन्दरी नामक आख्यायिका का उल्लेख किया गया है। अतः अवन्तिसुन्दरीकथा को ही विद्वानों ने दण्डी की तीसरी रचना माना है।

दण्डी के आविर्भावकाल के विषय में बहुत मतभेद है। ९ वीं शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का उल्लेख पाया जाता है। डॉ० बार्नेट[2] का कथन है कि सिंहाली भाषा के अलंकार-ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है। इसके रचयिता राजा सेन प्रथम का समय ८४६-८६६ ई० था। ८१४ ई० के कन्नड़ी अलंकार-ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में भी काव्यादर्श की यथेष्ट छाप देख पड़ती है। अतः दण्डी ८०० ई० के पहले ही हुए होंगे।

काव्यादर्श के कुछ पद्यों में कालिदास का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है[3]। अतः दण्डी कालिदास के बाद के हैं। इसके अतिरिक्त काव्यादर्श में पांचवीं शताब्दी के राजा प्रवरसेन-रचित 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख है। अतएव दण्डी का आविर्भाव-काल ५००-८०० ई० के बीच प्रतीत होता है।

दण्डी बाण के पहले हुए थे या बाद में, इस विषय में मतभेद

१—Keith: *Sanskrit Drama*, p. 257.

२—J. R. A. S. 190 Sp. 841

३—'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीति सुभगं वचः' —दण्डी
'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'—कालिदास

है। पीटरसन और याकोबी की सम्मति में काव्यादर्श के एक पद्य[1] में 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश की झलक मिलती है। दण्डी ने बाण और मयूर की प्रशंसा की है[2]। अवन्तिसुन्दरीकथा में कादम्बरी का वर्णन बाण की प्रसिद्ध कथा से मिलता जुलता है। डॉ० बेलवेलकर[3] ने दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है। कुछ विद्वान् अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर दण्डी को भारवि का प्रपौत्र मानकर उनका उक्त समय ही निर्धारित करते हैं।

किन्तु दण्डी की शैली के अध्ययन से वे बाण के पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। दशकुमारचरित की सरल एवं प्रासादिक शैली बाण की शैली से प्रभावित हुई नहीं जान पड़ती। यदि दण्डी बाण के परवर्ती होते तो उनकी शैली बाण की शैली के समान श्लेष और वक्रोक्ति जैसे अलंकारों से अवश्य आक्रान्त होती। इसके अतिरिक्त दशकुमारचरित का भौगोलिक[4] और राजनीतिक चित्रण हर्षवर्धन के पूर्व के भारत की ओर संकेत करता है। इसलिये दण्डी का स्थिति-काल ६०० ई० के लगभग प्रतीत होता है।

काव्यादर्श और दशकुमारचरित के आधार पर मालूम होता है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे और विदर्भ देश के निवासी थे। काव्यादर्श[5] में उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत तथा वैदर्भी शैली की प्रशंसा

१—अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥ काव्यादर्श २।१९७
केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्। —कादम्बरी।

२—भिन्नतीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्यवहारेषु जहौ लीलां न मयूरः······॥

३—Notes on काव्यादर्श pp. 176-77.

४—Collins· *The Geographical Data of the* रघुवंश *and* दशकुमारचरित (1907), p. 46.

५—१।३४,४१,४२।

की है। दशकुमारचरित में कलिंग और आन्ध्र देशों के उल्लेखों से, 'कावेरीतीरपत्तन' जैसे शब्दों के प्रयोग से तथा दक्षिण में प्रचलित सामाजिक एवं पारिवारिक प्रथाओं के वर्णन से भी उनका दाक्षिणात्य होना प्रमाणित होता है। दशकुमारचरित के अवलोकन से पता चलता है कि दण्डी एक संपन्न व्यक्ति थे तथा उन्होंने सभी प्रकार के सांसारिक अनुभव प्राप्त किये थे।

दशकुमारचरित का वर्तमान उपलब्ध स्वरूप तीन भागों में विभाजित है—(१) पूर्वपीठिका, जिसमें ५ उच्छ्वास हैं, (२) दशकुमारचरित जिसमें ८ उच्छ्वास हैं तथा (३) उत्तरपीठिका। इनमें से केवल मध्य भाग अर्थात् दशकुमारचरित ही दण्डी की वास्तविक रचना माना जाता है। इतना तो स्पष्ट है कि आरम्भ में दण्डी ने सम्पूर्ण दशकुमारचरित की रचना स्वयं की होगी, किन्तु किसी कारणवश इस ग्रन्थ के आदि तथा अंत भाग नष्ट हो गए। इस पर दण्डी के किसी भक्त ने, जो मूलग्रंथ की शैली एवं कथावस्तु से अवगत रहा होगा, पूर्व तथा उत्तर पीठिका जोड़कर ग्रन्थ को पूर्ण बना दिया। एम० आर० कवि महोदय ने एक और कारण सुझाया है। उनके अनुसार १२५० ई० के लगभग दण्डी के मूलग्रन्थ का तेलगू में अनुवाद हुआ था। समग्र मूलग्रन्थ के उपलब्ध न होने पर किसी कुशल लेखक ने बाद में नष्ट हुए भागों का तेलगू से संस्कृत में पुनः रूपान्तर कर दिया।

दशकुमारचरित में दस राजकुमार अपने अपने पर्यटनों, विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन करते हैं। इसे 'धूर्तों का रोमांस' कहना अनुचित न होगा। छल-कपट, मार-काट तथा चोरी-जारी से ओतप्रोत यह एक सजीव कृति है। व्यंग और विनोद का पुट देकर उसमें तत्कालीन समाज का बड़ा ही गोचर चित्रण किया गया है। साहस-प्रेमी राजकुमार किस प्रकार उचित-अनुचित का विचार छोड़ अपने कार्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं,

इसका वर्णन एक अनूठी व्यंगात्मक शैली में किया गया है। दंभी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण, धूर्त कुट्टनी, व्यभिचारिणी स्त्रियां तथा हृदय-हीन वेश्याएं—इन सबका खूब भंडाफोड़ किया गया है। दशकुमार-चरित में जहां कथानक विचित्र है वहां उसके अनुरूप वर्णनशैली भी सरस एवं प्रवाहपूर्ण है। 'कहीं विलास का विकास हृदय को उन्मत्त कर रहा है; कहीं सौन्दर्य का सौरभ अन्तरात्मा को बेसुध बना रहा है; कहीं हास की कोमल लहरी मानसतल को अनूठे ढंग से तरंगित कर रही है।' दण्डी का चरित्र-चित्रण विशद है। उनके सभी पात्र सजीव और वास्तविक प्रतीत होते हैं। समाज के उच्च और निम्न-वर्ग का वे जीता जागता चित्र उपस्थित कर देते हैं। दशकुमारचरित से उस समय की प्रचलित अनेक सामाजिक प्रथाओं का भी परिचय मिलता है। दण्डी का रचना-कौशल भी दर्शनीय है। कथा की रोचकता में अभिवृद्धि करने के लिये वे कहीं शिष्ट हास्य, कहीं मधुर व्यंग और कहीं गंभीर वर्णन का आश्रय लेते हैं। कहीं वर्णन विस्तार है तो कहीं लघु कथाएं। कथाओं का क्रम प्रशंसनीय है। वर्णनप्रवाह दीर्घ विषयान्तरों से आक्रान्त नहीं होता। मुख्य कथा के स्रोत में अवान्तर कथाएं अवरोध नहीं उपस्थित करतीं। व्याकरण की दृष्टि से भी दशकुमारचरित निर्दोष है। उसमें लिट् और लुङ् लकार के प्रयोग पाणिनीय नियमों के अनुसार हैं, जैसा सुबन्धु की वासवदत्ता में नहीं देख पड़ता। विशद चरित्र-चित्रण, नैसर्गिक शैली, बुद्धिविलास, शिष्ट परिहास, विषयान्तरों की न्यूनता, रसानु-कूल शब्दविन्यास तथा यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सामंजस्य आदि विशेषताएं दशकुमारचरित को संस्कृत गद्य-साहित्य में विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं।

दण्डी की शैली—दण्डी सुभग एवं मनोरम वैदर्भी गद्य-शैली के आचार्य कहे जा सकते हैं। उनकी वर्णन-प्रणाली सरल और प्रासादिक है। वे अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से चित्र-

विचित्र बनाने का प्रयास नहीं करते। इसी कारण वह नैसर्गिक, प्रवाहपूर्ण, मंजी हुई और मुहावरेदार है। दण्डी के गद्य में अपनी विशेषता है। सुबन्धु के गद्य के समान न तो वह 'प्रत्यक्षरश्लेषमय' है और न बाण के गद्य की भांति 'सरसस्वरवर्णपद' से सुशोभित साहित्यिक गद्य का आदर्श है। वह तो बहुत कुछ प्रतिदिन के कार्य में आने वाला 'व्यावहारिक-गद्य' का नमूना है। वाक्य प्रायः छोटे छोटे हैं। वाक्यविन्यास आयासजनक नहीं, अपितु ओजस्वी, ललित एवं सुव्यक्त है। अर्थ की स्पष्टता, रस की सम्यक् अभिव्यक्ति, शब्दविन्यास की चारुता तथा कल्पना की उर्वरता दण्डी की शैली के विशेष गुण हैं। दण्डी के पद-लालित्य की बड़ी प्रशंसा है—'दण्डिनः पदलालित्यम्'। अनुप्रासमय तथा मनोरम पदविन्यास में वे कुशल हैं, जैसे—'अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति', 'असत्येनास्य नास्यं संमृज्यते' 'अनेकयानेक आतंकश्चिरं चिकित्सकैरसंहार्यैः संहृतः', 'स पुण्यैः कर्मभिः प्राप्य पुरुषायुषं पुनरपुण्येन प्रज्ञानामगण्यतामरेषु' इत्यादि। दण्डी अथवं शब्दशोधन में तथा लौकिक सत्यों को ओजःपूर्ण भाषा में व्यक्त करने में कुशल हैं, जैसे—'स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्य', 'आत्मानमात्मनाऽनवसादयेवोद्धरन्ति सन्तः', 'न खलु मतिनिपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्', 'इह जगति हि न निरीहं देहिनं श्रियः संश्रयन्ते', 'जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाण्यहानि'। यत्र-तत्र दण्डी अवश्य ही भाषा को अलंकृत करना नहीं चूकते। उदाहरणार्थ, सोती हुई अम्बालिका के वर्णन को लीजिए अथवा सत्रहवें उच्छ्वास को, जहां वे ओष्ठ्य वर्णों का प्रयोग ही नहीं करते। किन्तु उनके वाक्यालंकार परिमित मात्रा में ही प्रयुक्त होते हैं और वे सर्वत्र मनोहर एवं उपयुक्त हैं, न कि दुरूह और अनवरत। सुन्दर, सुभग एवं सुबोध संस्कृत गद्य-लेखक के नाते दण्डी हमारी प्रशंसा के पात्र तथा अध्ययन के आदर्श हैं। एक भारतीय आलोचक ने दण्डी को ही एकमात्र कवि बताया है—

'कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः'। एक दूसरे आलोचक ने कहा है कि वाल्मीकि के प्रादुर्भाव के बाद 'कवि' शब्द का एकवचन में प्रयोग हुआ करता था, व्यास के बाद द्विवचन में (कवी) तथा दण्डी के बाद बहुवचन में (कवयः) होने लगा—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

'मधुराविजय' महाकाव्य की रचयित्री गंगादेवी ने दण्डी को उच्चकोटि का कवि स्वीकार किया है—

आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसंपदाम्।
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणम्॥ १।१०

सुबन्धु—वासवदत्ता नामक गद्य-काव्य के रचयिता सुबन्धु का स्थितिकाल अनिश्चित है। कुछ विद्वानों[1] की धारणा है कि सुबन्धु बाण के परवर्ती थे। सुबन्धु कई शब्दों, पदों[2] तथा घटनाओं के लिये बाण के ऋणी हैं। 'वासवदत्ता' में 'इन्द्रायुध' शब्द का प्रयोग[3] चन्द्रापीड के उसी नाम के घोड़े की ओर संकेत करता है। महाश्वेता और कादम्बरी अपने अपने प्रेमियों की मृत्यु पर प्राण दे देने का संकल्प करती हैं, किन्तु आकाशवाणी उन्हें ऐसा करने से रोकती है। 'वासवदत्ता' में भी अपनी प्रेमिका खो जाने पर कन्दर्पकेतु की ऐसी ही स्थिति दिखाई पड़ती है। साथ ही बाण ने हर्षचरित में उस 'वासवदत्ता' का संकेत किया है, जिसका उल्लेख पतंजलि के ग्रन्थ में है। इन आधारों पर कुछ विद्वान् सुबन्धु का स्थितिकाल बाण के बाद मानते हैं।

उक्त मत के समर्थन में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं

१—M. Krishnamachariar: *Cl. Skt. Lit.* p. 469.

२—जैसे, 'किं बहुना', 'देवः प्रमाणम्', 'अचिन्तयच्च', 'आसीच्चास्य मनसि'।

३—कर्दाचिदिन्द्रायुधेन मनोजवनाम्ना तुरंगेण सह नगरान्निर्जगाम।

हैं। म० म० काणे[1] महोदय ने सप्रमाण दिखाया है कि बाण सुबन्धु के परवर्ती थे तथा उन्होंने हर्षचरित में सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' का ही उल्लेख किया है—(१) वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति' में सुबन्धु की 'वासवदत्ता' और बाण की 'कादम्बरी' से उदाहरण दिये हैं। अतः ये दोनों ७५० ई० के पूर्व हुए होंगे। (२) कविराज (१२०० ई०) ने 'राघवपाण्डवीय'[2] में सुबन्धु, बाणभट्ट और स्वयं को वक्रोक्ति में कुशल बताया है। ऐसा जान पड़ता है कि कविराज ने इन तीनों नामों का स्थितिकाल के अनुसार यथाक्रम उल्लेख किया है। (३) वाक्पतिराज के प्राकृत काव्य 'गौडवहो'[3] (७३३ ई०) में सुबन्धु की रचना का उल्लेख हुआ है, पर बाण का नहीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वाक्पतिराज के समय में सुबन्धु की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी, पर बाण अभी तक अप्रसिद्ध ही थे। इस प्रकार सुबन्धु बाण के पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं। मंख के 'श्रीकण्ठचरित'[4] में सुबन्धु और बाण की एक साथ प्रशंसा की गई है। ११६८ ई० के एक कन्नड़ी शिलालेख में सुबन्धु के काव्य-कलाकौशल की प्रशंसा है।

सुबन्धुकृत वासवदत्ता के वर्णन में तथा भवभूतिकृत मालती के वर्णन में पर्याप्त साम्य[5] देख पड़ता है। जैसा कि पीछे

१—Introduction to his edn. of कादम्बरी pp. 17 18

२—सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः ।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥ १।४१

३—भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे ।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो ॥ ८००

४—मेण्ठे स्वद्विरदाधिरोहिणि वशं याते सुबन्धौ विधेः ।
शान्ते हन्त च भारवौ विघटिते बाणे विषादस्पृशः ॥ २।५३

५—हृदयं लिखितमिव उत्कीर्णमिव प्रत्युप्तमिव कीलितमिव···वज्रलेप-घटितमिव···मर्मान्तरस्थितमिव···कन्दर्पकेतुं मन्यमाना ।
—वासवदत्ता (श्रीरंगम् संस्करण पृष्ठ १६१-२)

दिखलाया जा चुका है[1], भवभूति ने कालिदास के ग्रंथों से अनेक शब्द तथा भाव लिये हैं। संभव है कि मालती के वर्णन में वे सुबन्धु से प्रभावित हुए हों। इस अनुमान के आधार पर सुबन्धु भवभूति (७०० ई०) के पहले माने जा सकते हैं।

सुबन्धु ने अपनी कृति में एक रमणी का इस प्रकार वर्णन किया है—'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां, बौद्धसंगतिमिवालंकार-भूषिताम्।' स्वर्गीय कीथ[2] महोदय के मतानुसार सुबन्धु इस स्थल पर श्लेष द्वारा नैयायिक उद्योतकर तथा बौद्ध धर्मकीर्ति के 'बौद्ध-संगत्यलंकार' नामक ग्रन्थ की ओर संकेत करते हैं। इन लेखकों का समय ७ वीं शताब्दी का प्रारम्भ था[3]। अतएव सुबन्धु के समय की ऊपरी सीमा ६०० ई० है। बाण (६५० ई०) हर्षचरित में सुबन्धु की 'वासवदत्ता' का ही स्पष्ट उल्लेख[4] करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। टीकाकार भानुचन्द्र (१६०० ई०) के अनुसार बाण ने अपनी 'कादम्बरी' को 'अतिद्वयी कथा' कह कर 'वासवदत्ता' और 'बृहत्कथा' की ओर संकेत किया है। अतः सुबन्धु ६२५—६५० ई० के लगभग बाण के ही समकालीन रहे होंगे।

वासवदत्ता ही सुबन्धु की एकमात्र उपलब्ध रचना है। सुबन्धु की यह कृति संस्कृत गद्य-काव्य के उस रूप का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें कथानक अति लघु रहता है, वर्णनविस्तार का प्राधान्य होता है तथा पाण्डित्य कल्पना का स्थान ले लेता है।

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव मा
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पंचभिः
(चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया) ॥ मा० मा० ५।१०

१—पृष्ठ १७२-३. २—*Cl. Skt. Lit* p. 77. ३—Keith · J.R.A.S. 1914, pp. 1102 ff. ४—कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥

राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में अपनी भावी प्रियतमा के दर्शन करता है और स्मरपीडित हो उसकी खोज में निकल पड़ता है। अति-संक्षेप में 'वासवदत्ता' का यही कथानक है। किन्तु इस कथा की प्रमुख विशेषता कथानक में नहीं, वरन् नायक-नायिका के रूप-सौंदर्य के सूक्ष्म वर्णन में, उनकी गुणावलि के गान में, उनकी तीव्र विरहातुरता, मिलनाकांक्षा तथा संयोग-दशा के चित्रण में निहित है। सुबन्धु के विषय में श्री आनन्दवर्धन[1] का यह कथन पूर्णतया चरि-तार्थ होता है कि कविगण बहुधा कथावस्तु के प्रवाह तथा रस की अभिव्यक्ति का ध्यान नहीं रखते और अपना शब्द-कौशल दिखाने में ही मग्न रहते हैं। सुबन्धु की कृति में विषयान्तरों का बाहुल्य है। उनके द्वारा वे अपने अलंकार-कौशल एवं पांडित्य का प्रदर्शन करते हैं। १२० पंक्तियों के एक वाक्य में वासवदत्ता के विलास-विभ्रम का अतिरंजित चित्रण किया गया है। सुबन्धु की रचना में जहाँ उनके वर्णन-विस्तार तथा शब्द-भण्डार का परिचय स्थल स्थल पर मिलता है, वहाँ कल्पना तथा चरित्र-चित्रण का अभाव खटकता है।

सुबन्धु की शैली—सुबन्धु की गद्य-शैली अतिशयोक्ति, अनुप्रास तथा समास-प्रधान गौड़ी शैली का उदाहरण है। उनकी यह गर्वोक्ति सत्य है कि मैंने एक ऐसे विलक्षण काव्य की रचना की है, जिसके प्रत्येक अक्षर में श्लेष है[2]। उनकी रचना श्लेष तथा विरोधाभास का ऐसा दुर्गम महाकान्तार है कि उसमें वास्तविक काव्य-सौंदर्य को ढूंढ़ निकालना कठिन हो जाता है। अलंकारों, दीर्घकाय समासों तथा पौराणिक संकेतों के प्रयोग में वे औचित्य की सीमा का अति-क्रमण कर बैठते हैं और इस कारण रस का आस्वादन दुर्लभ हो जाता है। दण्डी में वीरता, विचित्रता तथा शृंगारिकता का स्निग्ध

१—ध्वन्यालोक (नि० सा० १९११), पृ० १४१

२—प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिं प्रबन्धम्।
सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः॥

एवं रमणीय चित्रण है, किन्तु सुबन्धु चित्र-काव्य लिखने के फेर में पड़कर इन रम्य भावों का सफल अंकन नहीं कर सके हैं। स्थान स्थान पर नये रंगों को भर कर उन्होंने प्रत्येक चित्र को अतीव विचित्र बना डाला है। उनमें न तो दण्डी का हास, ओज और वैचित्र्य है और न बाण की सी कल्पना-शक्ति और वर्णन-प्रतिभा ही। उनकी समास-प्रचुर भाषा में सौष्ठव, प्रसाद और माधुर्य कम है, आडम्बर, कृत्रिमता और असंगति अधिक है।

सुबन्धु की चित्रोपम एवं अलंकृत गद्यशैली की आलोचना करते समय यह स्मरण रखना होगा कि उनके कथानक के लिये सरल और अलंकाररहित शैली अनुपयुक्त सिद्ध होती। शृंगारिक वैभव के चित्रण में, तीव्र मनोराग की अभिव्यक्ति में एवं प्रभावोत्पादक वर्णन में पंचतंत्र की सरल शैली सर्वथा अप्रासंगिक होती। यह दूसरी बात है कि सुबन्धु अलकारों का मात्रातीत प्रयोग कर अपनी शैली के लालित्यमय प्रवाह की रक्षा नहीं कर सके हैं। एक ही क्रिया पर आश्रित विपुलकाय वाक्य की रचना करने में सुबन्धु अद्वितीय हैं, साथ ही वे आवश्यकता होने पर छोटे छोटे वाक्यों का भी, विशेषकर संवादों में, प्रयोग कर सके हैं। उनके समासों में एक प्रकार का स्वरमाधुर्य है तथा उनके अनुप्रासों में संगीत है। वामनभट्ट बाण ने सुबन्धु की इस प्रकार प्रशंसा की है—

> अनिर्कविभेदनबाणः कवितातरुगहनविहरणमयूरः।
> सहृदयलोकसुबन्धुर्जयति श्रीभट्टबाणकविराजः॥

बाणभट्ट[1]—संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष

[1]—मिस कैथराइन नामक एक आस्ट्रियन महिला को बाणभट्ट की आत्मकथा पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सोन नदी के किनारे उपलब्ध हुई है ('विशाल भारत' जनवरी १९४३)। बाण के अन्य ग्रन्थों की भांति यह आत्मकथा भी अपूर्ण है। इसका हजारीप्रसाद द्विवेदीकृत हिन्दी अनुवाद 'विशालभारत' में प्रकाशित हो रहा है। मूल संस्कृत आत्मकथा का प्रकाशन संस्कृत-साहित्य की एक अपूर्व वस्तु होगी।

बाणभट्ट की कृतियों में पाया जाता है। बाण ने दो गद्य-काव्य लिखे—हर्षचरित और कादम्बरी। हर्षचरित के पहले तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है। कादम्बरी के प्रारम्भ में भी उन्होंने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। बाण ने अपने कुल[1] की पौराणिक उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वंश के प्रवर्तक दधीच तथा सरस्वती के पुत्र सारस्वत के चचेरे भाई वत्स थे। वत्स के कुल में कुबेर का जन्म हुआ, जिनका समय ४५०-४८० ई० के लगभग प्रतीत होता है। कुबेर उद्भट विद्वान् थे। कादम्बरी[2] में बाणभट्ट कहते हैं कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग सतर्क होकर वेदगायन किया करते थे, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं पिंजड़े में टंगे तोते या मैना पक्षी उन्हें टोक न दें। कुबेर के चार पुत्र हुए—अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत। पाशुपत बाण के प्रपितामह थे। कादम्बरी में बाण ने इनका उल्लेख नहीं

१—बाण का वंशवृक्ष इस प्रकार है—
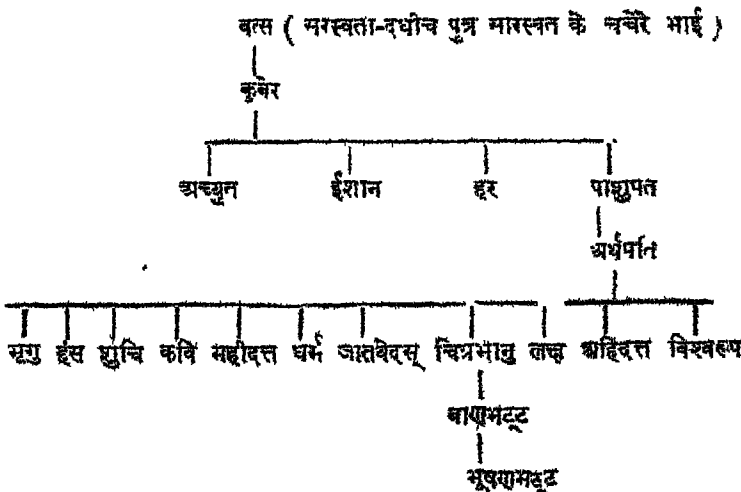
२—जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः ॥१२॥

किया है। इनके पुत्र अर्थपति हुए, जिनके ग्यारह पुत्रों में से एक बाण के पिता चित्रभानु थे। बाण की माता का नाम राज्यदेवी था। बाण के दो पारशव (शूद्र स्त्री से उत्पन्न) भाई—चित्रसेन और मित्रसेन—तथा चार चचेरे भाई—गणपति, अधिपति, तारापति, और श्यामल—थे। बाण की बाल्यावस्था में ही उनकी माता का देहान्त होगया। तब उनके पिता ने उनका माता की भाँति लालन-पालन किया। वत्स के समय से ही बाण के पूर्वजों का निवासस्थान प्रीतिकूट नामक ग्राम था, जो हिरण्यवाह अथवा शोण नद के पश्चिमी तट पर स्थित था। उसी के समीप मल्लकूट और यष्टिगृह नाम के दो ग्राम थे, जिनके उपरान्त हर्ष का साम्राज्य आरम्भ होता था।

बाण के उपनयन के पश्चात् उनके पिता अकाल ही में काल-कवलित होगये। इस समय बाण की आयु १४ वर्ष की थी। किसी सुयोग्य अभिभावक के न रहने के कारण इनका यौवन-काल कुछ अव्यवस्थित रहा। वे अपने अंतरंग मित्रों के साथ पर्यटन के लिये निकल पड़े। अपने प्रवास में उन्होंने प्रचुर अनुभव प्राप्त किया, कई राजदरबारों में वे गये, अनेक गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त की, विद्वानों से वार्तालाप किया तथा अंत में परिपक्व बुद्धि, सांसारिक अनुभव तथा उदार विचारों के साथ घर लौटे।

एक दिन राजा हर्षवर्धन के भाई कृष्ण के दूत ने आकर उन्हें एक पत्र दिया, जिसमें लिखा था कि कुछ लोगों ने महाराज के पास तुम्हारी शिकायत की है। अतः तुम्हें यहां पर शीघ्र आकर अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहिए। जब बाण राजदरबार में पहुँचे, तब सर्वप्रथम तो राजा ने उनकी अवहेलना की तथा अनियंत्रित जीवन व्यतीत करने के लिये व्यंग किया—'महानयं भुजंगः'। बाण ने विनयपूर्वक अपनी कुलीनता तथा उच्च विद्याभ्यास की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट किया तथा अपने पिछले कृत्यों के लिये पश्चात्ताप

प्रकट करते हुए नया जीवन प्रारम्भ करने की इच्छा प्रकट की। कुछ ही दिनों में हर्ष ने उनके चरित्र एवं विद्वत्ता से प्रसन्न हो उन पर कृपावृष्टि की तथा 'वश्यवाणीकविचक्रवर्ती' की उपाधि से सम्मानित किया।

कुछ समय बाद बाण अपने निवासस्थान को लौटे। वहाँ उनके बन्धु-बान्धवों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। पाठक सुदृष्टि ने वायुपुराण की कथा सुनाकर उनका मनोरंजन किया। सूचिबाण नामक सूत ने उन्हें दो आर्या गीत सुनाये, जिसमें सम्राट् हर्ष के जीवन की ओर मार्मिक संकेत था। उन्हें सुनकर बाण के चचेरे भाई उत्सुकतावश एक दूसरे की ओर ताकने लगे। उनमें से सबसे छोटे श्यामल ने साहस कर बाण से हर्षचरित सुनाने की प्रार्थना की।

इसके बाद बाण के जीवन का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। हर्ष की मृत्यु (६४८ ई०) के बाद जब उनके राज्य में अराजकता फैल गई तो बाण संभवतः कन्नौज से अपने घर प्रीतिकूट लौट आये। हर्ष की मृत्यु हो जाने के कारण बाण अपने ग्रन्थ हर्षचरित की समाप्ति के प्रति उदासीन होगये। अपनी कादम्बरी कथा को समाप्त करने के पूर्व ही उनका देहावसान होगया। इसकी समाप्ति उनके सुयोग्य पुत्र ने की। डॉ० बूलर[1] के अनुसार बाण के पुत्र का नाम भूषणबाण था। कुछ लोग उनका नाम भूषणभट्ट बतलाते हैं। कादम्बरी की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'पुलिन्द' अथवा 'पुलिन' नाम मिलता है[2]। धनपाल ने अपनी 'तिलकमंजरी'[3] में श्लेष द्वारा बाण के पुत्र का नाम 'पुलिन्द' ही सूचित किया है।

१—Peterson's introduction to कादम्बरी p 4.

२—S. R. Bhandarkar: *Report on the search for Mss., 1904-5, 1905-6, p. 84*

३—केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान्कवीन्।
कि पुनः क्लृप्तसंधानं पुलिन्द्कृतसन्निधिः॥ तिलकमंजरी २६

मातंगदिवाकर और मयूर नाम के दो अन्य कवि भी बाण के समकालीन बताये जाते हैं[१]।

सम्राट् हर्षवर्धन के सभा-पण्डित होने के कारण बाणभट्ट का स्थितिकाल सरलतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है। हर्ष का राज्याभिषेक अक्टोबर ६०६ ई० में हुआ तथा उनकी मृत्यु ६४८ ई० में हुई। ये तिथियां ताम्रदानपत्रों तथा ६२९ से ६४५ ई० तक भारत में भ्रमण करने वाले चीनीयात्री ह्वेनसांग के संस्मरणों के आधार पर स्वीकृत हो चुकी हैं[२]। अतः बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

उक्त समय की पुष्टि बहिरंग एवं अंतरंग प्रमाणों से भी होती है। रुय्यक ने अपने 'अलंकारसर्वस्व' (११५० ई०) में बाण के हर्षचरित का कई बार उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र (१०५० ई०) ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर बाण के नाम का उल्लेख किया है। रुद्रट–कृत 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) ने कादम्बरी और हर्षचरित को क्रमशः कथा तथा आख्यायिका का नमूना बताया है। भोज (१०२५ ई०) ने अपने 'सरस्वतीकण्ठा-भरण' में एक स्थल पर बाण के पद्य की अपेक्षा उनके गद्य को अधिक उत्कृष्ट बताया है—'यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः'। धनंजय (१००० ई०) के 'दशरूपक' में बाण का इस प्रकार उल्लेख हुआ है—'यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य'। आनन्दवर्धन (८५० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में बाण की दोनों गद्य–कृतियों का

१—अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥ राजशेखर
सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीश्वरः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥ नवसाहसांकचरित

२—Peterson's intro. to कादम्बरी; V. A. Smith: *Early Hist. of India*, chap. 13.

उल्लेख है। वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में कादम्बरी के 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इन शब्दों को उद्धृत किया है। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से लगाकर आठवीं शताब्दी के प्रमुख लेखकों ने बाण तथा उनकी कृतियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः सप्तम शतक के पूर्वार्द्ध में उनकी स्थिति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अंतरंग प्रमाणों से भी उक्त समय ही सिद्ध होता है। अपने हर्षचरित के प्रारम्भिक पद्यों में बाण ने इन कवियों एवं कृतियों का उल्लेख किया है—व्यास, वासवदत्ता, भट्टारहरिचन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेनकृत सेतुबन्ध, भास, कालिदास, बृहत्कथा और आढ्यराज। इन कवियों में से कोई भी सातवीं शताब्दी के बाद में नहीं हुए। हर्ष की सभा में बाण का प्रवेश उनके शासनकाल के उत्तरार्ध में हुआ होगा। हर्षचरित में बाण हर्ष के उन पराक्रमों का वर्णन करते हैं जिनका संपादन हर्ष, बाण से मिलने के पहले कर चुके थे। इस वर्णन में दो स्थलों पर बाण ने लिखा है कि हर्ष ने अपना समस्त धन-वैभव ब्राह्मणों तथा बौद्ध भिक्षुओं को दान कर दिया था। ह्वेन-सांग ऐसे एक अवसर पर ६४३ ई० में उपस्थित था। हर्ष से मिलने के समय बाण युवक ही रहे होंगे। उनकी युवावस्था की चपलताओं का पता राजा को लग चुका था तथा उनका हाल में ही विवाह भी हुआ था—'दारपरिग्रहादभ्यागारिकोऽस्मि। ···का मे भुजंगता···चापलैः शैशवमशून्यमासीत्'।

हर्षचरित तथा कादम्बरी के अतिरिक्त बाण की कुछ अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध होती हैं। चण्डीशतक भगवती दुर्गा की स्तुति में १०० पद्यों की रचना है। पार्वतीपरिणय नामक नाटक को महा-महोपाध्याय काणे[1] महोदय बाण की कृति मानते हैं, किन्तु कीथ[2]

1—Introduction to कादम्बरी, pp. 23-24.

2—*H. S L p. 315.*

उसे १५ वीं शताब्दी के कवि वामनभट्ट बाण की रचना मानते हैं। 'नलचम्पू' के टीकाकारद्वय चण्डपाल और गुणविनयगणि लिखते हैं कि बाण ने मुकुटताडितक नामक नाटक की रचना की थी, पर यह अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचारचर्चा'[1] में बाण रचित एक पद्य को उद्धृत किया है जिसमें चन्द्रापीड़ की प्रेयसी कादम्बरी की विरहावस्था का वर्णन है। संभव है कि बाण ने पद्य में भी कादम्बरी की कथा लिखी हो।

हर्षचरित बाण की प्रथम गद्य कृति है। जैसा कि बाण स्वयं कहते हैं[2], यह एक आख्यायिका है। इसमें आठ उच्छ्वास हैं। प्रथम तीन उच्छ्वासों में बाण की आत्मकथा वर्णित है तथा शेष में सम्राट् हर्ष का जीवनचरित्र। हर्षचरित में ऐतिहासिक विषय पर गद्य-काव्य लिखने का प्रथम बार प्रयास किया गया है। इसके ऐतिहासिक वृत्तान्त और महत्व पर 'ऐतिहासिक काव्य' वाले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी हर्षचरित में कई विशेषताएं हैं। बाण की अद्भुत वर्णनाशक्ति का परिचय स्थान स्थान पर मिलता है। प्रभाकरवर्धन के अन्तिम क्षणों का वर्णन ओज एवं कारुण्य को लिये हुए है। सती होने के पूर्व यशोवती जो उद्गार प्रकट करती है, वह अनन्यता एवं तेजस्विता से ओतप्रोत है। छठे उच्छ्वास में सिंहनाद का उपदेश कादम्बरी के शुकनासोपदेश की कोटि का ही है। हर्ष सर्वत्र एक महान् सम्राट् के रूप में हमारे संमुख आते हैं। वे निर्भीक और साहसी, कर्त्तव्य-परायण और स्नेहमय हैं।

१—'यथा वा भट्टबाणस्य—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥
अत्र विप्रलम्भभरभग्नधैर्याया: कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना'।

२—तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः।
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्॥ हर्षचरित

राज्यवर्धन भी आज्ञाकारी पुत्र, स्नेहशील भाई और शूर योद्धा हैं। सोड्ढल ने हर्षचरित की इस प्रकार प्रशंसा की है—

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति।

कादम्बरी बाणभट्ट की, अथवा यों कहिए, समस्त संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट गद्य-रचना है। उसकी कथा का सार इस प्रकार है—विदिशा के राजा शूद्रक की सेवा में एक चाण्डाल-कन्या अपना परम मेधावी शुक भेंट करती है। यह शुक राजा को विन्ध्या-रण्य में अपने जन्म से लेकर महर्षि जाबालि के आश्रम में पहुँचने तक का वृत्तान्त सुनाता है। जाबालि मुनि से शुक अपने पूर्वजन्म का हाल सुनता है। जाबालि द्वारा वर्णित कथा इस प्रकार थी—

उज्जयिनी के राजा तारापीड तथा रानी विलासवती ने तपस्या द्वारा चन्द्रापीड नामक पुत्ररत्न प्राप्त किया। विद्याध्ययन की समाप्ति के बाद राजकुमार चन्द्रापीड अपने पिता के सचिव शुकनास के पुत्र और अपने अभिन्न मित्र वैशम्पायन के साथ दिग्विजय के लिये निकल पड़े। एक बार वह अपने घोड़े इन्द्रायुध पर एक किन्नर-युगल का पीछा करते हुए अच्छोद नामक एक परम रमणीय सरोवर पर आ पहुँचे। वहां राजकुमार का महाश्वेता नामक एक शुभ्रवर्णा तपस्विनी युवती से परिचय हुआ। महाश्वेता एक गन्धर्व राजकन्या थी, जिसके हृदय में पुण्डरीक नामक तपस्वी युवक को देख उसके प्रति प्रेमांकुर जागरित हो उठा था। पर मिलन के पूर्व ही पुण्डरीक की स्मरपीड़ा से मृत्यु हो गई। इस पर महाश्वेता तपस्विनी का व्रत धारण कर भावी मिलन की आशा में अच्छोद सरोवर के किनारे रहने लगी। महाश्वेता की सखी कादम्बरी ने भी कौमार्य व्रत धारण करने का निश्चय किया। महाश्वेता चन्द्रापीड को साथ लेकर कादम्बरी को समझाने जाती है। प्रथम साक्षात्कार में ही दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। पर उज्जैन से पिता के बुला लेने पर

चन्द्रापीड को शीघ्र ही लौट जाना पड़ता है। वह वैशम्पायन को सेना के साथ लौट आने के लिये कह जाते हैं। बहुत समय व्यतीत होने पर भी जब वैशम्पायन नहीं लौटा तब चन्द्रापीड उसकी खोज में अच्छोद सरोवर जाते हैं। वहां महाश्वेता उन्हें बताती है कि वैशम्पायन मुझ पर आसक्त हो मुझ से प्रेम-प्रस्ताव करने लगा, इस पर मैंने उसे शुक हो जाने का शाप दे दिया। अपने प्राणतुल्य सुहृद् का यह अन्त सुन कर चन्द्रापीड के भी प्राण उसी क्षण निकल गये। इसी अवसर पर कादम्बरी घटना-स्थल पर पहुँचती है और अपने प्रेमी को निष्प्राण पाकर स्वयं प्राण-विसर्जन करने के लिये उद्यत हो जाती है। पर एक आकाशवाणी उसे ऐसा करने से रोकती है और आश्वासन देती है कि महाश्वेता और कादम्बरी का अपने-अपने प्रेमी से संयोग निकट भविष्य में अवश्यंभावी है। यहां जाबालि की कथा समाप्त हो जाती है।

तब शुक ने राजा शूद्रक से कहा कि जाबालि से अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुन मेरे हृदय में महाश्वेता के प्रति अपने पूर्व प्रेम की स्मृति हो आई और मैं आतुर हो आश्रम से उड़ा, किन्तु इस चाण्डाल-कन्या ने मुझे पकड़ कर अपने यहां रख लिया। इसी ने मुझे आप को समर्पित किया है। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता। तब चाण्डाल-कन्या ने राजा शूद्रक से निवेदन किया कि मैं पुण्डरीक (जिसका पुनर्जन्म वैशम्पायन के रूप में हुआ था) की माता लक्ष्मी हूँ और अब इसे तथा आप (शूद्रक) को मिले शाप की अवधि समाप्ति पर ही है। इस पर शूद्रक (जो अपने पूर्व जन्म में चन्द्रापीड थे) को कादम्बरी के प्रति अपने प्रेम की स्मृति हो आई। उनके प्राण तुरन्त निकल गये और उधर चन्द्रापीड जीवित हो उठे।

चाण्डाल कन्या (अथवा लक्ष्मी) ने जिस शाप की ओर संकेत किया उसका रहस्य इस प्रकार है। महाश्वेता के प्रेमी पुण्डरीक ने चन्द्रमा को बार बार जन्म लेने का शाप दिया था। चन्द्रमा से भी

पुण्डरीक को ऐसा ही शाप दिया। इन शापों के फलस्वरूप चन्द्रमा ने चन्द्रापीड के रूप में तथा पुण्डरीक ने वैशम्पायन के रूप में जन्म लिया। चन्द्रापीड और वैशम्पायन ने पुनः शूद्रक तथा शुक के रूप में जन्म लिया। शुक की कथा की समाप्ति के बाद शाप की अवधि भी समाप्त हो गई। इसके बाद पुण्डरीक और महाश्वेता, चन्द्रापीड और कादम्बरी का सुखद मिलन हुआ और वे अवर्णनीय आनन्द का आस्वादन करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाण ने 'कादम्बरी' का कथा-बीज गुणाढ्य की बृहत्कथा से लिया है। बृहत्कथा अब उपलब्ध नहीं, पर उसके जो संस्कृत रूपान्तर मिलते हैं, उनमें आई सुमनस् की कथा तथा 'कादम्बरी' की कथा में कुछ साम्य अवश्य देख पड़ता है। सम्भव है, बाण ने अपनी कथा की मूल घटनाएं बृहत्कथा से ली हों, किन्तु यह निर्विवाद है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा का पुट चढ़ाकर उसे एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक रूप दे दिया है।

'कादम्बरी' संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। उसके कथानक में, कथा और उपकथा के संमिश्रण से कुछ जटिलता अवश्य आगई है, फिर भी उसके स्वाभाविक विकास और कुशल निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। सारी कथा कुतूहलमय रोचकता से ओतप्रोत है। पाठक की रुचि और उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। प्रधान नायिका कादम्बरी का उल्लेख कथा के मध्य भाग में जाकर होता है। महाश्वेता की प्रणय-कथा तो कादम्बरी के प्रणय की एक भूमिकामात्र है। शूद्रक की राजसभा में चाण्डाल-कन्या का विलक्षण वैशम्पायन शुक को लेकर प्रवेश करना, यह प्रारंभिक घटना ही ऐसे रहस्य में लिपटी हुई है कि उसके उद्घाटन के लिये आगे बरबस बढ़ना पड़ता है। यह रहस्योद्घाटन कथा के अन्त में जाकर होता है। वहां शूद्रक को ही प्रधान नायक जान कर 'अद्भुत रस' की प्रतीति होती है। कवि ने कादम्बरी और महाश्वेता

दोनों की प्रणय-कथा स्वाभाविक रूप से परस्पर संबद्ध कर अपने वस्तु-विन्यास-कौशल का परिचय दिया है।

बाण ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़े विशद रूप से किया है। 'कादम्बरी' के सभी पात्र सजीव हैं। सौम्य युवक हारीत, उदार नृपति तारापीड, आदर्श अमात्य शुकनास, सुकुमार रानी विलासवती, छाया की भांति चन्द्रापीड का अनुसरण करने वाली पत्रलेखा, स्नेहमय पर कठोर कपिंजल, शुभ्रवदना तपस्विनी महाश्वेता—ये पाठक के अन्तस्तल पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। कादम्बरी के चित्रण में बाण ने अपने अप्रतिम कल्पना-वैभव, वर्णन-पटुता और मानवमनोवृत्तियों के मार्मिक निरीक्षण का परिचय दिया है। चन्द्रापीड के प्रति आकृष्ट होने पर वह किस प्रकार आशा और निराशा, मिलन और विरह के परस्पर विरोधी भावों के बीच झूलती है, इसका बाण ने बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है।

'कादम्बरी' में बाण ने केवल अपनी कल्पना के अतिरंजित चित्र उपस्थित नहीं किये हैं, प्रत्युत अपने बहुमुखी जीवन के विविध अनुभवों को रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। प्रासाद, नगर, वन तथा आश्रमों का यथातथ्य वर्णन उनके पर्याप्त भ्रमण का द्योतक है। शुकनास के मुख से उन्होंने चन्द्रापीड को जो उपदेश दिलाया है, वह आज भी प्रत्येक नवयुवक स्नातक के लिये दीक्षान्त भाषण से कम नहीं।

'कादम्बरी' की वर्णन-विविधता दर्शनीय है। कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी का रोमाञ्चकारी दृश्य है, कहीं जाबालि के शान्त और पावन आश्रम की सात्विक शोभा का चित्र है, कहीं शूद्रक और तारापीड के राजकीय विलास और वैभव का वर्णन है। कहीं वीणावादिनी महाश्वेता की विरहविधुर मूर्ति का दर्शन है तो कहीं कमनीय कलेवरा कादम्बरी के प्रणयोन्माद और सलज्ज कौमार्य का स्निग्ध चित्रण है। अच्छोद सरोवर तथा हिमालय के भव्य

दृश्यों का वर्णन भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। द्रविड़ यति का वर्णन इस बात का सूचक है कि बाण उपहासयोग्य विषयों का भी सफल अङ्कन कर सकते हैं। परिहास का भी उनमें अभाव नहीं, उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्त की नाक उनकी वंशावली के समान ही लंबी बताई गई है। इन्द्रायुध अश्व के सजीव वर्णन से बाण को 'तुरंग-बाण' की पदवी मिली।

'कादम्बरी' के अध्ययन से हमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का परिज्ञान हो सकता है। स्त्रियों द्वारा सन्तान-प्राप्ति के लिये जादू-टोनों का प्रयोग; राज्याभिषेक की परिपाटी; शैव, शाक्त और क्षपणक आदि के सम्प्रदाय; सद्योजात शिशु के उपचार; स्त्री-पुरुषों की वेश-भूषा और आभूषण; विलास और आमोद-प्रमोद की सामग्री; वर्ण-व्यवस्था; सती-प्रथा आदि सभी सामाजिक जीवन के अङ्गों पर 'कादम्बरी' में स्थल स्थल पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

'कादम्बरी' का प्रधान रस शृङ्गार है। 'कादम्बरी' जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कारों का, 'जननान्तर-सौहृद' का सजीव चित्रण है; विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के सुकुमार तारों से संयुक्त करने वाली काव्य-शृंखला है; मानव-हृदय की मूक प्रणय-वेदना की मर्मभरी कथा है। बाण ने जिस प्रेम का चित्रण किया है, वह सर्वथा उदात्त एवं परिष्कृत है। उनके द्वारा चित्रित प्रेम का उद्दाम वेग कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। दशकुमारचरित की भाँति 'कादम्बरी' के शृङ्गाररस-चित्रण में कहीं अश्लीलता की गन्ध नहीं पाई जाती। सच तो यह है कि महाश्वेता के प्रेम में पागल पुंडरीक की कपिंजल द्वारा भर्त्सना करा कर कवि ने यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रेम मानसिक और शारीरिक दुर-वस्था का कारण होता है। सच्चा प्रणय सत्य की भांति चिरन्तन है। काल की कराल छाया उसे आक्रांत नहीं कर सकती; समय का प्रवाह उसे विस्मृति के गर्त्त में लीन नहीं कर सकता। तपस्या की कठोरता

अथवा राजसी जीवन की विलासिता उसके उद्दाम वेग को दबा नहीं सकती। प्रणय की ज्योति आशा और अटल विश्वास से नूतन जीवन धारण करती है तथा आदर्श स्नेह के सहारे मृत्यु के अन्धकार में भी अभिनय आलोक छिटकाती है।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों में 'कादम्बरी' सदा से अत्यन्त लोकप्रिय रही है। प्रियतम की शय्या की ओर स्वेच्छा से संचरण करती हुई नवोढा वधू की भांति वह अपने अतुलनीय रसास्वाद से पाठकों के चित्त-चंचरीक को निरंतर आप्यायित करती आई है[1]। भूषणभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम्।

'कादम्बरी' की प्रशंसा में कुछ और उक्तियों का अवलोकन कीजिए— 'कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते', 'सद्दर्षचरिता-रब्धाद्भुतकादम्बरीकथा'। 'कीर्तिकौमुदी' में लिखा है कि बाण की कादम्बरी रूपी ध्वनि को सुन कर कवि लोग अनाध्याय का पालन करने लगते हैं—

युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः।
बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः॥ १।१५

बाण की शैली—बाण ने गद्य-शैली का आदर्श सूचित करते हुए हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥

अर्थात् मौलिक कल्पना, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रूप से प्रतीयमान रस तथा दृढ़बन्ध पदावली, इन समस्त गुणों का एकत्र संनिवेश दुर्लभ है। दूसरे के मन के भावों का यथातथ्य

1—स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥ कादम्बरी ८

चित्रण (अन्यचिन्तितस्वभावाभिप्रायवेदकम्) तथा अभिनव अर्थ की कल्पना (उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसंचयम्) को बाण उत्कृष्ट गद्य-शैली का प्रधान लक्षण मानते हैं।

बाण के गद्य की रीति 'पांचाली' है जिसमें अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का गुम्फन होता है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पांचालीरीतिरिष्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण

बाण की शैली में शब्द और अर्थ, भाषा और भाव का रुचिर सामंजस्य स्पष्ट लक्षित होता है। विषय के अनुरूप ही शब्दावली का प्रयोग किया गया है। विकट विन्ध्याटवी के वर्णन में कवि ने विकट शब्दों एवं समासों का यथेच्छ व्यवहार किया है—'क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला, क्वचिदुद्दामसृगपतिनादभीतेव कण्टकिता।' वसन्त के वर्णन में तदनुरूप सुकुमार वर्णों का विन्यास किया गया है— 'अशोकतरुताडनारणितरमणीमणिनूपुरझंकारसहस्रमुखरेषु सकलजीवलोकहृदयानन्देषु मधुमासदिवसेषु।'

बाण की शैली में अलंकारों का समुचित प्रयोग अपूर्व रमणीयता का संचार करता है। उनके अलंकारों की छटा दर्शनीय है। उनके लंबे लंबे समास यदि गिरि-नदी के उद्दाम प्रवाह की भांति हैं, तो उनकी श्लिष्ट उपमाएं इन्द्रधनुष की छाया की भांति उसे रंगीन बना देती हैं। उनके अनुप्रास भाषा में विलक्षण स्वर-माधुर्य का संचार करते हैं—'इभकलभकोमलपल्लवनेल्लितलवलीवलयैः', 'मधुकरकुलकलङ्ककालीकृतकालेयककुसुमकुड्मलेषु।' उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चम्पक पुष्पों की भांति हैं—'निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।' उनकी रसनोपमा का एक मनोहर उदाहरण देखिए—'कर्मेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम

इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पद्मम् ।' विरोधाभास का नमूना देखिए—'शिशिरस्यापि रिपुजनसंतापकारिणः, स्थिरस्याप्यनवरतं भ्रमतः, निर्मलस्यापि मलिनीकृताराातिवनितामुखकमलद्युतेः, अतिधवलस्यापि सर्वजनरागकारिणः' । अर्थापत्ति अलंकार की छटा देखिए—'किं बहुना । तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिरुत्सर्पन्तीभिरनिशमुपपादितकृष्णाजिनोत्तरासङ्गशोभाः फलमूलभृतो वल्कलिनो निश्चेतनास्तरवोऽपि सनियमा इव लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः समीपवर्तिनः । किं पुनः सचेतनाः प्राणिनः ।' बाण के गद्य में एक ही ध्वनि उत्पन्न करने वाले ललित पदविन्यास की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है—'वशीकर्तुकामं काममिव सनियमम्', 'हर्षनयनजलकणनीहारिणि वियद्विहारिणि मनोहारिणि', 'कर्पूरधूलिधूसरेषु मलयजरसलवलुलितेषु बकुलावलीवलयेषु स्तनेषु ।'

बाण का प्रकृति-चित्रण विशद, सजीव, अलंकृत और उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचायक है । उनकी दृष्टि प्रकृति के घोर और रम्य दोनों पक्षों पर पड़ी है । रमणीय अच्छोद सरोवर, हिमालय के भव्य दृश्य, तथा भयानक विन्ध्याटवी के वर्णन इसके उदाहरण हैं । प्रकृति-वर्णन में उन्होंने श्लिष्ट उपमाओं का विशेष प्रयोग किया है—'यौवनमिवोत्कलिकाबहुलं, षण्मुखचरितमिव श्रूयमाणक्रौञ्चवनिताप्रलापं, भारतमिव पाण्डुधार्तराष्ट्रकुलकृतक्षोभं, कद्रूस्तनयुगलमिव नागसहस्रपीतपयोगण्डूषमच्छोदं नाम सरो दृष्टवान् ।' इस प्रकार वे प्रकृति-वर्णन करने के साथ साथ अपना पौराणिक, शास्त्रीय तथा अनुभव-जन्य ज्ञान भी प्रकट कर देते हैं । यह शैली सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती, क्योंकि इससे कवि के पाण्डित्य का जितना बोध होता है उतना प्राकृतिक दृश्य के वास्तविक बिम्ब का नहीं । बाण का प्रकृति-चित्रण अन्तःप्रकृति के अनुरूप होता है । सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रमा, वसन्त-ऋतु के वर्णन में यह विशेषता स्पष्ट देख पड़ती है । तपःपूत जाबालि के आश्रम में सूर्यास्त का

वर्णन कैसे शान्त एवं पवित्र भावों का परिचायक है—'अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनाङ्गरागं रविरुद्वहत्। ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्बविनिहितदृष्टिभिरूष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमानतेजःप्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत्। उद्यत्सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपादः पारावतचरणपाटलरागो रविरम्बरतलादलम्बत। विहाय धरणितलमुन्मुच्य कमलिनीवनानि शकुनय इव दिवसावसाने तपोवनतरुशिखरेषु पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वत।'—'इसी समय दिन ढल चला। मुनियों ने स्नान के बाद अर्घ्य देते समय जो चन्दनराग पृथ्वी पर अर्पित किया था, मानो उसी रक्त चन्दन को आकाश में स्थित सूर्य ने अपने अंगों में धारण कर लिया है। ऊपर की ओर मुख उठा कर सूर्य-मण्डल पर दृष्टि डाले, सूर्य-किरणों का पान करने वाले तपस्वियों द्वारा मानो चारों तरफ फैला हुआ प्रकाश पिया जा रहा है, तभी तो दिन क्षीणता को प्राप्त हो रहा है। कपोत के चरणों के समान लाल लाल सूर्य आकाश के छोर पर पहुँच कर अपने पाद (किरण) इसलिये समेट रहा है कि कहीं वे इस उगते हुए सप्तर्षि-मण्डल से छू न जायं। दिन डूबने की इस घड़ी में सूर्य-रश्मियां पृथ्वी-तल को छोड़ आश्रम के वृक्षों तथा पर्वत के शिखरों पर पक्षियों की भांति बसेरा ले रही हैं।' बाण मानवीय मनोभावों का प्रकृति के दृश्यों पर आरोप करने में कुशल हैं। सूर्य के विदेश-गमन पर उसकी प्रियतमा कमलिनी शीघ्र पति-समागम की इच्छा से तपस्विनी का व्रत धारण करती है—कमल का मुकुल उसका कमण्डलु है, श्वेत हंस उसका उत्तरीय है, कमल की नाल उसका शुभ्र यज्ञोपवीत है तथा भ्रमरों की पंक्ति उसकी रुद्राक्ष-माला है।

बाण की वर्णन-शक्ति अद्भुत है। 'कादम्बरी' के वर्णनात्मक स्थलों में वे कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग करते हैं। जहां विषय

भाव-प्रधान, मार्मिक अथवा गंभीर होता है, वहां उनकी शैली बड़ी ही सशक्त और प्रभावोत्पादक होती है। वाक्य छोटे छोटे होते हैं, दीर्घ समासों का अभाव होता है और विशेषण-पद न्यून होते हैं। एक उदाहरण देखिए। कपिंजल मदनव्यथा से पीडित पुण्डरीक की भर्त्सना कर रहा है—'सखे पुण्डरीक नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्रजनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित्प्राकृत इव विक्लवीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। कुतस्तवापूर्वोऽयमद्येन्द्रियोपप्लवो येनास्येवं कृतः। क्व ते तद्धैर्यं, क्वासाविन्द्रियजयः।...... निरुपकारको गुरूपदेशविवेकः। निष्प्रयोजना प्रबुद्धता। निष्कारणं ज्ञानम्। यदत्र भवादृशा अपि रागाभिषङ्गैः कलुषीक्रियन्ते प्रमादैश्चाभिभूयन्ते।' कैसी शक्तिशाली भाषा है! अन्यत्र, उपदेश देते समय अथवा शिष्टाचार दिखाते समय बड़ी सरल शैली प्रयुक्त हुई है। शुकनास चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोष समझा रहे हैं—'न ह्येवंविधमपरमपरिचितमिह जगति किंचिदस्ति यथेयमनार्या। लब्धाऽपि खलु दुःखेन पाल्यते। दृढगुणपाशसंदाननिष्पन्दीकृतापि नश्यति। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति।......न लक्षणं प्रमाणीकरोति। गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एव नश्यति।' किन्तु राजवैभव, रमणीविलास, अथवा प्राकृतिक भव्यता के चित्रण में उनकी शैली अलंकृत, अपेक्षाकृत क्लिष्ट एवं प्रगाढ़ हो जाती है। दीर्घकाय समास, विपुल वाक्य, विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली तथा चित्रकाव्य के सभी साधनों का प्रचुर प्रयोग देख पड़ता है। शूद्रक, जाबालि-आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी के वर्णन ऐसी शैली के उपयुक्त उदाहरण हैं। ऐसे स्थलों पर भी बाण बीच बीच में छोटे छोटे वाक्य बैठा देते हैं, जिससे वर्णन-विस्तार आयासजनक न हो जाय। प्रायः यह भी देखा जाता है कि इस प्रकार के क्लिष्ट स्थलों के बाद तुरन्त ही सरल और प्रासादिक शैली के दर्शन होते हैं।

बाण की शैली में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, अलंकृत वर्णन-प्रणाली, प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम, उर्वर कल्पना, अजस्र शब्दराशि तथा मौलिक अर्थों की उद्भावना—ये सभी गुण सर्वत्र समान रूप से पाये जाते हैं। इसका आशय यह नहीं कि उनकी शैली सर्वथा दोषरहित है। उनके वर्णन प्रायः बहुत लंबे हो जाते हैं। किसी प्रस्तुत प्रसंग को वे तब तक नहीं छोड़ते जब तक वह पूर्णतया आलोडित न हो जाय। कोई पर्यायवाची विशेषण बाकी नहीं बचता, कोई श्लिष्ट या लाक्षणिक प्रयोग रह नहीं जाता। पाश्चात्य आलोचक उनके गद्य की एक ऐसे भीषण अरण्य से उपमा देते हैं, जहां क्लिष्ट एवं दुरूह शब्दों के झाड़ खड़े हैं, सूक्ष्म पौराणिक संकेतों की कन्दराएं हैं और विपुलकाय विकट समासों के रूप में व्याघ्र विचरण कर रहे है। बाण कथानक में यथास्थान विस्तार और संकोच नहीं करते। कथा के बीच अवान्तर वर्णनों के बाहुल्य से कथानक की प्रगति कुण्ठित हो जाती है। उज्जयिनी, शुकनास-प्रासाद, चंडिका-मंदिर, चन्द्रोदय आदि के वर्णन कवित्व की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं, किन्तु विशेष विस्तृत और अतिरंजित होने के कारण कथानक के प्रवाह को शिथिल कर देते हैं।

वस्तुतः बाण के गद्य-काव्यों का यथार्थ महत्व उनके कथानक, चरित्र-चित्रण अथवा वस्तु-विन्यास में नहीं, बरन् उनके कवित्व एवं रसमय प्रवाह में है। उनके भाषा-कौशल और कल्पना-वैचित्र्य से ही उनकी कृतियां इतनी आकर्षक और लोकप्रिय हुई हैं। अपनी इस असाधारण शैली द्वारा ही वे बृहत्कथा के सीधे-सादे कथानक को साहित्यिक सौन्दर्य प्रदान कर सके। उनका गद्य व्यावहारिक कार्यों के लिये भले ही अनुपयुक्त हो, किन्तु 'कादम्बरी' के समान उत्कृष्ट गद्य-काव्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है। उनके वाक्य विपुलकाय होते हुए भी अस्पष्ट नहीं। समासों और विशेषण-पदों का आधिक्य होते हुए भी वे विशद और परिष्कृत हैं। उनके पौराणिक संकेत हम भारतीयों के लिये कदापि क्लिष्ट नहीं हैं। उनके शब्द-चित्रों में विविधता तथा

प्रभविष्णुता है। उनका शब्द-भण्डार अक्षय है। उनका वाक्प्रबन्ध चारु एवं स्निग्ध है। औचित्य का वे कभी अतिक्रमण नहीं करते। उनके संवाद अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रभावशाली होते हैं। उनकी कल्पना अजस्र और उत्तरोत्तर विकासशील होती है। महाश्वेता के निम्नलिखित वर्णन में उनकी कल्पना-विभूति का कैसा प्रसार है—
'शुक्लपक्षपरम्परामिव पुंजीकृतां, शङ्खादिवोत्कीर्णां, मृणालैरिव विरचितावयवां, दन्ततलैरिव घटितां, इन्दुकरकूर्चकैरिव प्रक्षालितां, अमृतफेनपिण्डैरिव पाण्डुरीकृताम्।'

आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों की कसौटी पर बाण की शैली की समीक्षा करना अनुचित होगा। कोई भी लेखक अपने समय के प्रचलित आदर्शों और रूढ़ियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। बाण की आलोचना करते समय भी हमें यही दृष्टिकोण संमुख रखना चाहिए। अलंकृत गद्य-शैली ही उनके समय में समादृत थी। उस समय समास-बाहुल्य तो गद्य का प्राण ही समझा जाता था—'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।'[1] प्रत्येक कला कुछ प्रचलित रूढ़ियों के द्वारा ही अपने आदर्श पर पहुँच सकती है। समास-बहुलता एक ऐसी ही रूढ़ि थी। यदि हम इस रूढ़ि के पार देखेंगे तो हमें स्वीकार करना होगा कि बाण उच्चकोटि के गद्य-कवि थे। कथाकार की कला में, मानवहृदय के सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति में, उन्नत चरित्रों की सृष्टि में, उदात्त जीवन एवं सौजन्यपूर्ण व्यवहार के चित्रण में तथा शिष्ट संवादों के निरूपण में बाण भारतीय साहित्य में अनुपमेय हैं और विश्व-साहित्य में उच्च स्थान पाने योग्य हैं।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों को बाण की शैली के सौन्दर्य को हृदयंगम करने में भले ही कठिनाई होती हो, किन्तु जिस भाषा में

१—काव्यादर्श १।८०

बाण ने अपनी कृतियों की रचना की है, उसके पण्डितों ने उनकी शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। 'विदग्धमुखमण्डन' के रचयिता धर्मदास किस विलक्षण ढंग से बाण की शैली की प्रशंसा करते हैं—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

'रुचिर स्वर, वर्ण तथा पदों से विभूषित, रस और भावों से अलंकृत, वह संसार के चित्त को आकृष्ट कर रही है।' 'क्या तुम किसी तरुणी की बात कर रहे हो?' 'नहीं, नहीं, मैं तो बाण की सरस मधुर वाणी के सम्बन्ध में कह रहा हूँ।' त्रिलोचन के अनुसार बाण की कविता के सामने अन्य कवियों की रचना केवल चपलता है—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत्कविकुरंगाणां चापलं तत्र कारणम्॥

'पार्वतीपरिणय' में 'नृत्यति यद्रसनायां वेधोन्मुखलासिका वाणी' इस प्रकार बाण के विषय में ठीक ही कहा गया है। बाण की सर्वव्यापिनी प्रतिभा को लक्ष्य में रख कर ही 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' कहा जाता है। गोवर्धनाचार्य का कहना है कि जिस प्रकार पूर्व समय में अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिये शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी प्रकार पुरुष रूप में अधिक चमत्कार पाने की अभिलाषा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का अवतार लिया—

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूव ह॥

प्रसन्नराघव के कर्त्ता जयदेव ने बाण को कविता-कामिनी के हृदय-मन्दिर में निवास करने वाला साक्षात् कामदेव ही बना दिया है— 'हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः।' त्रिविक्रमभट्ट ने अपने 'नलचम्पू' में बाण की लोकप्रियता की इस प्रकार प्रशंसा की है—

शश्वद्बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः॥ १।१४

गंगादेवी के अनुसार बाण की भारती वीणा की सुमधुर तान को हरने वाली है—

बाणीपाणिपरामृष्टवीणानिक्वाणहारिणीम्।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम् ॥

श्री चन्द्रदेव कहते हैं कि कुछ लोग श्लेष में, कुछ शब्दों के उपयुक्त गुम्फन में, कुछ रसाभिव्यक्ति में, कुछ अलंकार, अर्थव्यक्ति अथवा कथा-वर्णन में कुशल होते हैं, किन्तु बाण तो कविता की विन्ध्याटवी में कवि-कुंजरों के गण्डस्थल को विदीर्ण करने वाले सिंह हैं—

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरेऽ-
लंकारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने।
आः सर्वत्र गभीरधीर कविताविन्ध्याटवीचातुरी-
संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पंचाननः ॥

बाणभट्ट के पश्चात् भी गद्यकाव्य लिखे जाते रहे। उनमें प्रायः बाण की कृतियों का ही अनुकरण है। धनपाल (१००० ई०) की तिलकमंजरी पर 'कादम्बरी' का प्रभाव स्पष्ट है। वादीभसिंह (१००० ई०) की गद्यचिन्तामणि का कथानक 'कादम्बरी' के समान ही है। रीति और भाषा-भंगिमा में भी बाण का अनुकरण देख पड़ता है। वामनभट्ट बाण (१५०० ई०) का वेभूपालचरित हर्षचरित की प्रतिकृति मात्र है। बाद के गद्य-काव्य साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्व के नहीं। पर दो-एक आधुनिक गद्य-काव्यों का उल्लेख करना आवश्यक है। साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास ने शिवराजविजय नामक गद्य-काव्य की रचना की है, जो काशी से १९०१ ई० में प्रकाशित हुआ है। व्यासजी का स्थितिकाल १८५८-१९०० ई० था। इनके पूर्वज जयपुर राज्य के निवासी थे, पर इनके पितामह काशी में आकर बस गये। वहीं उनका अध्ययन संपन्न हुआ। 'बिहारी-विहार' में उन्होंने 'संक्षिप्त निज वृत्तान्त' स्वयं लिखा है। मृत्यु के समय वे गवर्मेण्ट संस्कृत कालेज पटना में प्रोफेसर थे। बिहार में 'संस्कृत

संजीवनी समाज' स्थापित कर उन्होंने संस्कृत शिक्षा-प्रणाली का सुधार किया। व्यासजी ने छोटी-बड़ी मिला कर संस्कृत और हिन्दी में कुल ७८ पुस्तकें लिखी है।

शिवराजविजय छत्रपति शिवाजी के जीवन को चित्रित करने वाला एक रोचक उपन्यास है। ऐतिहासिक घटनाओं पर कल्पना का रंग चढ़ा कर लेखक ने सारी कृति को अतीव हृदयग्राही बना दिया है। विशद वर्णनाशक्ति स्थल स्थल पर प्रस्फुटित हुई है। कहीं रोचक एवं स्वाभाविक संवाद है, कहीं विनोद और हास्य का पुट है, कहीं प्रणय का विमुग्धकारी चित्रण है, कहीं विषम गिरि-दुर्गों पर आक्रमण का वर्णन है, कहीं महाराष्ट्र-शिविर तो कहीं मुगल-दरबार का दृश्य है। रोचकता की दृष्टि से शिवराजविजय आधुनिक उपन्यासों से किसी मात्रा में घट कर नहीं है। उसमें विशद वर्णन के साथ ही घटनाओं की तीव्र गतिशीलता भी है। उसकी शैली में प्रासादिकता, और प्रवाह के साथ परिष्कृत प्रौढ़ता भी है। उसमें दण्डी और बाण की शैलियों की सफल अनुकृति देख पड़ती है। स्थल स्थल पर ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो अभी तक कोष में ही पड़े थे, जैसे 'चिलम्', 'उष्णीषिका', 'गरकः', 'चिरंटी', 'कवरी' आदि। शिवराजविजय की शैली का एक उदाहरण देखिए। शिवाजी दिल्ली में प्रवेश कर रहे हैं—"तावत्ते सेतुमुल्लंघ्य परं तटमायाता दिल्लीं प्रविविशुः। तत्र च प्रघाणस्थैः परिवर्तितमौक्तिकलोलोष्णीषबन्धैर्भटैः, आपणोपविष्टैः स्तब्धशङ्कुलैः स्वर्णकारैः, कर्णार्पितलेखनीकैश्चित्रकारैः, समुपेक्षित-तुलादण्डैर्वणिजैः, विशिथिलस्खलितमानदण्डैः पटविक्रयिभिः, रुद्ध-सीवनैः स्यूतिकारैः, विस्मृतहारग्रन्थनैर्मालाकारैः, घण्टापथे विचरद्भिः समाकृष्टवल्गैः सादिभिः, आसादितप्रान्तैः पर्य्यटकैः, आशीर्वचन-स्फुरितोष्ठैरिव ब्राह्मणैः, परिवर्जितक्रीडैर्बालकैः, गवाक्षस्थैः शिथिलित-व्रीडैरंगुल्यग्रापसारिततिरस्करिणीविच्छेदप्रहितकटाक्षावलोकनैः कुल-युवतिजनैश्च सकौतुकं निरीक्ष्यमाणाः, कोऽयं, कुतोऽयं सोऽयं स

एवायं, वीरोऽयं, धीरोऽयं, महाराष्ट्रराजोऽयं, दुर्धर्षोऽयं, चिरश्रुतोऽयं, शास्तिखानशास्तिशास्त्रज्ञोऽयं, विजयपुरविजयदीक्षितोऽयं, गोलखण्ड-खण्डखण्डनपण्डितोऽयं, अम्बरपुरन्दरप्रीतिपरवशोऽयं सम्राजमुपसर्पति। अम्बरराजकुमारेण सह नीयते।" व्यासजी निःसंकोच 'अभिनव-बाण' कहे जा सकते हैं।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में निबन्ध-लेखन का प्रचार नहीं था। आधुनिक समय में ओरिएंटल कालेज लाहौर के पण्डित हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य (१८५०-१९१३ ई०) ने सामयिक विषयों पर सुरुचि-पूर्ण निबन्ध लिख कर मौलिक प्रणाली का प्रचार किया है। उन्होंने 'विद्योदय' नामक संस्कृत पत्रिका का ४४ साल तक संपादन किया। 'विद्योदय' में शास्त्रीजी के सामयिक समस्याओं पर सरस और विनोदपूर्ण शैली में लेख रहते थे। विद्वानों ने उनके विषयों की नवीनता तथा विविधता की प्रशंसा की है। मैक्समूलर ने भी शास्त्रीजी के अद्भुत कार्य को पसन्द किया था। १९ वीं शताब्दी में एक संस्कृत पत्रिका का नूतन विचार प्रणाली से तथा पाश्चात्य विचार-शैली में सम्पादन कर शास्त्री जी ने इस युग में संस्कृत साहित्य की अमूल्य सेवा की है तथा अपने प्रबन्धों से उसकी श्रीवृद्धि की है। उनके लेखों का एक संग्रह–प्रबन्ध-मंजरी–१९३० ई० में प्रकाशित हुआ है। यह 'सकलरस-परम्परातरङ्गितानां प्रबन्धानां संग्रहः' है। इसमें एक लेख 'उद्भिज्ज-परिषत्' है, जिसमें पेड़-पौधों की सभा में मनुष्यों के सम्बन्ध में बड़ी रोचक चर्चा होती है—'अश्वत्थमहोदयः स्वशाखा-हस्तमुत्थाप्य प्रतिपादयति—भो भो नानादिग्देशसमागताः सुभद्रा वनस्पतयः, परमप्रियतमा लतावध्वश्च, सावहिताः शृण्वन्तु भवन्तः। अद्य मानववार्त्तैवास्मत् समालोच्यविषयः। ...मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टिः। समन्तादभिनवोत्तरविलक्षण-सृष्टिमुत्पादयता भगवता जगत्सवित्रा यादृग् बुद्धिप्रकर्षः सृष्टिनैपुण्यञ्च प्रदर्शितं, मानवसर्गं विदधता पुनरनेन तत्सर्वमेकपद एवापहारितम्,

एतावदुच्चावचसृष्टिपरम्परामवलोक्य स्रष्टुरगाधबुद्धिमत्त्वं 'सृष्टिश्चेयं बुद्धिपूर्विकेति' यदस्माभिरनुमितमासीत् पूर्वं, साम्प्रतं मानवसर्गसन्दर्शनेन तु निःशेषतोऽपागतोऽसौ संस्कारः, संजातश्च तद्विपरीतः 'स्रष्टुर्न स्वल्पापि बुद्धिर्विद्यत' इत्येवंरूपः कोऽपि निश्चयः ।'

प्रबन्ध-मंजरी की भाषा अत्यन्त प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण है। संस्कृत में व्यङ्ग-शैली (satire) का प्रथम प्रादुर्भाव इन्हीं निबन्धों से माना जायगा। भट्टाचार्य की भाषा में भी बाण की शैली की पूरी छाप है। इनके विषय में म० म० पं० गिरिधर शर्मा कहते हैं—

मुद्रयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मुहेराणाम्।
स्मरयति च भट्टवाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी ॥

संस्कृत गद्य-काव्य की विशेषताएं—संस्कृत गद्य-काव्यों के कथानक का मूल प्रायः लोक-कथाओं (folk-tale) से लिया गया है। लोक कथाओं की भांति कथा में उपकथा का संनिवेश करने की प्रथा भी गद्य-काव्यों में देख पड़ती है। किन्तु गद्य-काव्यों की व्यंजना-प्रणाली लोक-कथाओं से भिन्न है। उनकी शैली बहुत-कुछ पद्य-काव्यों से प्रभावित हुई है। शिष्ट एवं संभ्रान्त वर्ग के लिये लिखे जाने के कारण इन गद्य-काव्यों में उत्कृष्ट एवं अलंकृत भाषा का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ ही वर्णन-शैली का भी अत्यधिक परिष्कार हुआ है। दीर्घकाय समास, अनुप्रास, श्लेष, यमक, परिसंख्या आदि अलंकारों तथा सूक्ष्म पौराणिक संकेतों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। प्रकृति का विस्तृत चित्रण तथा नायक-नायिका की शारीरिक और मानसिक दशाओं का अतिरंजित वर्णन भी हुआ है। शृङ्गार-रस ही इनका प्रधान रस है। लोककथाओं के सरल और प्रवाहयुक्त आख्यानों पर कल्पना और पाण्डित्य का गहरा रंग चढ़ाया गया है। कथा-भाग गौण हो गया है और अलंकृत वर्णन-शैली ही प्रधान हो गई है। पद्य-काव्यों के व्यापक प्रभाव के कारण संस्कृत में व्यावहारिक गद्यशैली का विकास बहुत कम देख पड़ता है।

संस्कृत के गद्य-काव्य इस धारणा के पोषक हैं कि कविता के लिये छन्द अनिवार्य नहीं है; छन्दोबद्धता तो उसका केवल एक बाह्य परिच्छद है। गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से कविता की रचना हो सकती है। यही कारण है कि संस्कृत गद्य-काव्य सहृदयों के हृदय में वास्तविक काव्यानन्द का संचार करते हैं। यदि भाषा-सौष्ठव, वर्णन-नैपुण्य, कल्पना-वैचित्र्य, रसास्वाद, पदलालित्य, श्लेष-चातुर्य और अलंकार वैभव—इन समस्त काव्यात्मक गुणों का एकत्र अवलोकन करना हो तो संस्कृत के गद्य-काव्यों का अनुशीलन करना चाहिए। ऐसी अलंकृत, उदात्त एवं परिष्कृत गद्य-शैली का विकास स्यात् ही किसी अन्य भाषा के साहित्य में हुआ हो।

आदौ दण्डी ततश्चासीत् सुबन्धुः श्लेषमार्मिकः।
तथा श्रीबाणभट्टश्च त्रयो गद्ये प्रकीर्तिताः॥

६

गीति-काव्य

जिन काव्यों में महाकाव्य के सभी गुण या लक्षण नहीं पाये जाते, उन्हें खण्डकाव्य या गीतिकाव्य कहते हैं[1]। मानव जीवन के किसी एक ही पक्ष का उद्घाटन अथवा अन्तरात्मा के किसी एक ही पटल का चित्रण गीतिकाव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है। जहां महाकाव्य में मानव जीवन की समग्रता का प्रसार है, वहां गीतिकाव्य में जीवन की एकदेशीयता की तन्मयता है। गीतिकाव्यों का आकार-प्रकार महाकाव्यों से छोटा होता है। प्रधानतया उनमें एक ही विषय वर्णित रहता है—शृंगारिक, धार्मिक अथवा नैतिक। गीतिकाव्यों में लालित्य एवं माधुर्य का विशेष पुट देख पड़ता है। ऋग्वेद में उषा के प्रति की गई स्तुतियों में गीतिकाव्य की सर्वप्रथम झलक देख पड़ती है। सुभाषित-ग्रंथों में पाणिनि के नाम से भी कुछ गीति-पद्य उपलब्ध होते हैं। गीति-पद्यों का नाटकों में भी प्रयोग होता है। स्वतंत्र गीतिकाव्यों में प्रायः मुक्तक पद्यों का प्रयोग किया जाता है। मुक्तक-काव्य की विशेषता यह है कि उसमें एक ही पद्य में रस की पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा किसी विषय का सांगोपांग चित्रण होता है। प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतंत्र होता है। उसे समझने में पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा नहीं होती— 'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।' (ध्वन्यालोक)

कालिदास—संस्कृत गीतिकाव्य की प्राचीनतम उपलब्ध रचनाएं महाकवि कालिदास की हैं—ऋतुसंहार और मेघदूत। ऋतुसंहार को बहुत समय तक कुछ विद्वान् कालिदास की रचना

१—खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। साहित्यदर्पण ६।३१६

नहीं मानते थे, क्योंकि (१) कालिदास के अन्य ग्रंथों के समान इसकी भाव-भाषा शैली उतनी परिष्कृत नहीं है। प्रकृति-निरीक्षण भी उतना सूक्ष्म नहीं है। रचनाकौशल की न्यूनता स्पष्ट झलकती है। स्थान स्थान पर शब्द और अर्थ की पुनरावृत्ति देख पड़ती है। (२) रघुवंश, कुमारसंभव और मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ ने ऋतुसंहार पर कोई टीका नहीं लिखी है। उनके अनुसार[1] उक्त तीन काव्य ही कालिदास की कृतियां हैं। अलंकार-ग्रन्थों में भी ऋतुसंहार से कोई उद्धरण नहीं दिये गये हैं। (३) ऋतुसंहार में चित्रित श्रृंगार का नैतिक स्तर कालिदास के प्रेम के आदर्श से घटकर है। ये तीनों उपर्युक्त तर्क आधुनिक आलोचकों को मान्य नहीं है। ऋतुसंहार कालिदास की प्रथम साहित्यिक रचना है। अतः यदि उसकी भाषा और भाव में पर्याप्त परिष्कार न देख पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? संभव है उसकी सरलता के ही कारण मल्लिनाथ ने उस पर टीका लिखना आवश्यक न समझा हो। कवि की अन्य प्रौढ एवं परिष्कृत रचनाओं के मौजूद रहते अलंकार-शास्त्र के आचार्य उसके बाल-प्रयास से उदाहरण क्यों लेते ? इसके अतिरिक्त ऋतुसंहार कवि के यौवनोल्लास का प्रथम उद्गार है; उसमें श्रृंगार की रंगस्थली में प्रकृति का उद्दाम विलास चित्रित है, किसी उच्च नैतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन नहीं। ऋतुसंहार की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं। वत्सभट्टि के शिलालेख (४७२ ई०) में उसके अनुकरण की छाप स्पष्ट देख पड़ती है[2]। इन तथ्यों के आधार

१—मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥

२—स्मरवशगततरुणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरु-
स्तनजघनघनालिंगननिर्भर्त्सिततुहिनहिमपाते ॥ वत्सभट्टि ३१
पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः।
विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥ ऋतु० ५।६

पर आधुनिक विद्वान् ऋतुसंहार को कालिदास की ही रचना स्वीकार करते हैं।

ऋतुसंहार में ६ सर्ग और १५५ पद्य हैं। उसमें ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं का यथाक्रम वर्णन है। महाकाव्यों तथा नाटकों में भी यथास्थान ऋतुओं का वर्णन आया है। पर संस्कृत काव्य-साहित्य में एकमात्र ऋतु-वर्णन पर ग्रंथ ऋतु-संहार ही है। एक के बाद दूसरी ऋतु के आगमन से जहां प्रकृति के बाह्य रूप में नवीनता या विचित्रता आती है, वहां युवक-युवतियों में भी विविध प्रणय-क्रीडाओं तथा शृंगारिक चेष्टाओं का उदय होता है। ऋतुसंहार में प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य और मानवीय प्रणय का कान्त संयोग है। प्रत्येक ऋतु अपनी विशेषताओं से प्रेमियों के हृदय को नाना प्रकार से आन्दोलित करती है।

ग्रीष्म ऋतु सूर्य के प्रचण्ड आतप और चन्द्रमा की स्पृहणीय ज्योत्स्ना के साथ आती है। युवतियां उज्ज्वल रत्नों और दीप्र कौशेय वस्त्रों से विभूषित हो ऋतु की शोभा में अभिवृद्धि करती हैं। उनके मुख की सौंदर्य-सुषमा के सामने चन्द्रमा की म्लानता और भी मन्द प्रतीत होती है। प्रकृति के सभी प्राणी भीषण उष्णता से व्याकुल हो जाते हैं। शीतल रात्रियाँ, सुरभित पुष्पमालाएँ, मादक मद्य, प्रेमोद्दीपक संगीत, ये सभी ऋतु की प्रचण्डता को शान्त करने के साधन हैं। कमनीय कान्ताओं के साथ प्रासादपृष्ठ पर संगीत का आनन्द लेते हुए युवकों की विरल रात्रियाँ व्यतीत हो जाती हैं—

> व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो।
> निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन॥

अब वर्षा-ऋतु का शुभागमन होता है। शस्यश्यामला वसुन्धरा तरुणी की भांति प्रतीत होती है। नदियां यौवनोन्मत्त चंचल नारियों की भांति बड़े वेग से समुद्र की ओर चली जा रही हैं। विद्युत् अंधेरी रात में प्रिय-समागम के लिए आतुर अभि-

सारिकाओं के पथ को आलोकित करती है। मेघों के गंभीर गर्जन से भयभीत कोमलांगी अपने प्रियतम के अपराधों को बिना मानापनोदन के ही क्षमा कर देती है। ऋतु प्रमदिनी की भाँति पुष्पों से अपना शृंगार करती है। युवक-युवतियां उत्कण्ठित हो उठती हैं।

नवविवाहिता वधू की भाँति रमणीय शरद् ऋतु आगई। पुष्पित काश कुसुम ही उसका वस्त्र है। विकसित कमल-समूह उसका मनोहर मुख है। उन्मत्त कलहंसों की ध्वनि उसके नूपुरों की झंकार है। पके धान के खेतों के समान उसके अंगों का पीत गौरवर्ण है। शरद् ऋतु के इस अनिन्द्य सौन्दर्य के सामने रमणी-सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। हंस अंगनाओं की चाल को, खिले कमल उनके मुखचन्द्र की कान्ति को, नीले कमल उनकी नेत्र-सुषमा को, तथा लोल लहरियां उनके भ्रूविभ्रमों को मात कर देती हैं। निशासुन्दरी मेघरूपी अवगुण्ठन को हटाकर अपने मुखचन्द्र की शोभा सर्वत्र बिखेर रही है। शीतल मन्द वायु मंजरियों के साथ ही युवक-हृदयों को दोलायमान कर रही है।

हेमन्त में लोध्रवृक्ष पल्लवित हो जाते हैं। कमल के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। तुषार-पात सर्वत्र होने लगा। स्त्रियां कौशेय वस्त्रों का त्याग कर देती हैं। प्रियंगुलता विरहिणी विलासिनी की भाँति पीली पड़ जाती है। प्रेमीजन प्रगाढालिंगन में बद्ध होकर शयन करने लगे। युवतियां बालातप की सौख्यपूर्ण रश्मियों में स्नान करती हैं।

प्रकृष्ट प्रेम का आवाहन करने वाली शिशिर ऋतु का स्वागत कीजिए। इस ठिठुरते जाड़े में मन्दद्युति नक्षत्रों तथा नीहार से आच्छादित रजनी की शोभा निरखने भला कौन बाहर निकलता है? इस समय तो लोग आग, गरम वस्त्र तथा प्रिया के प्रगाढ परिरम्भ का सेवन करते हैं। कन्दर्प के दर्प का तो कहना ही क्या

है ? शिशिर बिछुड़े प्रेमियों को अवश्य संतापकारिणी है, पर धान के खेतों की सुनहली छटा देखते ही बनती है।

अब प्रेमियों का सच्चा संदेशवाहक वसन्त प्रणय को प्रगाढ़ और परिपक्व बनाता हुआ अपने आगमन की सूचना दे रहा है। जिधर देखिए आनन्द और उल्लास का ही दृश्य छा रहा है। वृक्ष कुसुमों से, जलाशय कमलों से, स्त्रियां प्रेमोद्रेक से, वायु सुगन्ध से, सन्ध्या शीतलता से, दिवस प्रफुल्लता से, संक्षेप में, समग्र दृश्य जगत वसन्त की चारुता से प्रिय तथा स्निग्ध प्रतीत हो रहा है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥

नववधू के कर्णपाश का कर्णिकार-कुसुम क्या ही शोभा दिखा रहा है! उसके काले केशपाशों में अशोक-पुष्प की क्या ही निराली छटा है! मादक वासंतिक समीर सर्वत्र हर्षोन्माद का प्रसार करता हुआ मन्द मन्द डोल रहा है। अहा, वह विश्वविजयी कामदेव अपने अभिन्न सहचर वसन्त के साथ आप सबका कल्याण करें, पलाशपुष्प जिनका धनुप है, आम्र-मंजरियां जिनके तीर हैं, अलिकुल जिनकी प्रत्यंचा है, धवल चन्द्र जिनका कलंकरहित छत्र है, मलयानिल मत्तगजेन्द्र है तथा कोकिल चारण या बन्दीजन हैं—

आम्रीमंजुलमंजरीवरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
ज्यां यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।
मत्तेभो मलयानिलः परभृतौ यद्बन्दिनौ लोकजित्
सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥

यह है संक्षिप्त परिचय ऋतुसंहार की कविता का। उसकी प्रत्येक पंक्ति में कवि के यौवन का उद्दाम वेग प्रवाहित हो रहा है। युवकों पर वह संमोहन का इन्द्रजाल डाल देती है।

कालिदास की प्रौढ़ कृतियों की तुलना में ऋतुसंहार का अधिक महत्त्व नहीं है। उसमें कवि का प्रारम्भिक प्रकृति-प्रेम चित्रित है।

फिर भी उसमें भावों की नूतनता नहीं। प्रेमियों के हृदय पर प्रकृति के प्रभाव का वह उल्लासपूर्ण चित्रण है। तरुण कवि की प्रथम कृति होने के कारण ऋतुसंहार में कालिदास की कविता का सर्वश्रेष्ठ गुण—ध्वनि—का एक प्रकार से अभाव है। किन्तु कालिदास की प्रासादिकता सर्वत्र विद्यमान है।

मेघदूत संस्कृत के गीतिकाव्य-साहित्य का एक परम उज्ज्वल रत्न है। इसमें १२१ पद्यों में कवि ने एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण किया है। इसके दो भाग हैं—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। अलकापुरी के अधीश्वर कुबेर ने अपने किंकर यक्ष को कर्त्तव्यपालन में त्रुटि दिखाने के कारण एक वर्ष के लिये निर्वासित कर दिया। बेचारा यक्ष अपनी प्राणवल्लभा पत्नी से दूर भारत की निम्नभूमि में आकर रामगिरि[1] नामक पर्वत पर अपने वियोग के दिन काटने लगा। जैसे तैसे आठ मास व्यतीत करने के बाद वर्षा-ऋतु के आगमन ने उसके प्रेमी-हृदय में विरह की तीव्र वेदना जागरित कर दी। उसके मन में मेघ द्वारा अपनी प्रियतमा के पास प्रणय-संदेश भेजने की कल्पना आई। पूर्वमेघ में वह मेघ के लिये रामगिरि से अलका तक के मार्ग का विशद वर्णन करता है तथा उत्तरमेघ में अलकापुरी, अपने भवन और अपनी पत्नी की विरह-दशा का वर्णन कर अन्त में अपना संदेश सुनाता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि मेघदूत में विरही यक्ष का चित्रण कर कालिदास ने प्रकारान्तर से अपने ही जीवन की किसी घटना को चित्रित किया है। पर इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं जान पड़ता। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ जनश्रुति के आधार पर कहते हैं कि कालिदास ने मेघदूत की कल्पना वाल्मीकि-रामायण की उस

१—यद्यपि मल्लिनाथ ने भ्रमवश चित्रकूट को ही रामगिरि माना है, किन्तु आधुनिक अनुसन्धान के आधार पर यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो चुका है कि नागपुर के उत्तर में स्थित वर्तमान रामटेकरी नामक पहाड़ी ही रामगिरि है।

घटना से ली है, जहां राम सीता के प्रति हनुमान् द्वारा सन्देश भेजते हैं (सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि विधाय मेघसन्देशं कृतवा-नित्याहुः)। मेघदूत की कुछ पंक्तियां इस कथन का समर्थन भी करती हैं, जैसे—'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु', 'रामगिर्याश्रमेषु', 'रघुपतिपदैरंकितम्', 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा'। अन्य स्थलों पर भी वाल्मीकि की कुछ उक्तियों का अनुकरण देख पड़ता है[1]। अतः यह असंभव नहीं कि कालिदास को मेघदूत का कल्पना-बीज रामायण से प्राप्त हुआ हो। परन्तु जिस सूक्ष्म रचना-कौशल द्वारा उन्होंने उसमें अपूर्व रमणीयता का संचार किया है, उसे देखते हुए उनकी कल्पना नितान्त मौलिक ही कही जायगी।

संस्कृत के गीतिकाव्यों में मेघदूत का स्थान अग्रगण्य है। जैसी रमणीय एवं सुकुमार कल्पना इस काव्य में हुई है, उसी के अनुरूप इसकी भाषा एवं शैली भी अत्यन्त मनोहर है। इसकी भाषा बड़ी ही प्रांजल, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण है। शब्दों के चुनाव में कवि ने विशेष कौशल दिखाया है। कहीं माधुर्य की व्यंजक स्निग्ध मधुर पदावली है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः

कहीं कोमलकान्तपदावली द्वारा प्रेमिका की अतिसुकुमार हृदयकली का आभास कराया गया है—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।

१—वाल्मीकि—मेघाभिकामा परिसंपतन्ती संमोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
बातावधूता वरपौण्डरीकी लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य॥ ४।२८।२३
मेघदूत—गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः, सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।
वाल्मीकि—प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्। ४।२८।१५
मेघदूत—यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्।

कहीं शब्दों की नादात्मक ध्वनि से ही वर्णित विषय का चित्र उपस्थित कर दिया गया है—

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम् ।

तो कहीं सुभग शब्दमैत्री द्वारा छन्द में रमणीयता का संचार किया गया है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

मेघदूत की शैली कालिदास की स्वाभाविकता और प्रासादिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है। मेघदूत के पद्यों की रमणीयता, स्वरसौष्ठव, माधुर्यविलास एवं कोमल संगीत-लहरी दर्शनीय है। सारा काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है, जिसकी मंद-मधुर गति विप्रलंभ शृंगार के करुण-कोमल भाव को व्यंजित करने में विशेष सहायक सिद्ध हुई है। तभी तो कालिदास के मन्दाक्रान्ता छन्द की प्रशंसा करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगांगना ॥

परिमित पदावली में भाव की विशद व्यंजना कर देना मेघदूत का विशेष गुण है। स्थल स्थल पर भावों और दृश्यों के सुन्दर शब्द-चित्र अंकित हैं। कैलाश पर्वत की गोद में पड़ी हुई अलका का कैसा बिम्बग्राही चित्र है—

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।

'हे स्वच्छन्द विहार करने वाले मेघ, अपने प्रियतम कैलाश-गिरि की गोद में पड़ी उस अलका-सुन्दरी को देखते ही तुम पहचान जाओगे, जिसकी गंगारूपी सारी खिसक कर नीचे सरक गई है।' अल-

प्रेयसी कंकणयुक्त करों से ताल दे दे कर किस प्रकार अपने बाल-मयूर को नचाती है, इसका चित्र देखिए—

> तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
>
> यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ।

अथवा अलका के रमणीय क्रीडाशैल का चित्र देखिए, जिसके चारों ओर रुचिर कनककदली की बाड़ लग रही है—

> तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
>
> क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।

विरहविधुरा यक्षपत्नी का कैसा स्वाभाविक एवं संक्षिप्त शब्दचित्र है—

> उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
>
> मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
>
> तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्-
>
> भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

'हे सौम्य मेघ, वहां पहुँच कर तुम देखोगे कि मेरी विरह-कातर पत्नी मलिन वस्त्र पहने हुए, गोद में वीणा लेकर कुछ ऐसे गीत गाने की चेष्टा कर रही होगी, जिनमें मेरे नाम का प्रयोग किया गया होगा। उस समय वह अपनी आंखों के आंसुओं से भीगी उस वीणा को जैसे तैसे पोंछ कर मेरा स्मरण हो आने से ऐसी विह्वल हो जायगी कि बार बार की अपनी अभ्यस्त मूर्छनाओं को भी वह भूल जायगी।' निम्नलिखित पद्यों में मेघ तथा अलका के प्रासादों की पारस्परिक तुलना में कवि ने कैसी समास-शैली का परिचय दिया है—

> विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
>
> संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम् ।
>
> अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
>
> प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

'हे मेघ, अलकापुरी के वे ऊँचे ऊँचे भवन सभी प्रकार से तुम्हारी

समता करने में समर्थ हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनों में विद्युत् के समान गौरवर्ण सुन्दरियां हैं। यदि तुम इन्द्र-धनुष से युक्त हो तो वे भवन भी रंग-बिरंगे चित्रों से सज्जित हैं। यदि तुम मृदु-गम्भीर गर्जन कर सकते हो तो वे भी मृदंग के मधुर नाद से निनादित हैं। यदि तुम्हारे अंदर स्वच्छ स्फटिकोपम जल भरा है तो वहां भी फ़र्शों पर उज्ज्वल मणियां जटित हैं और यदि तुम ऊंचे हो तो वहां भी गगनचुम्बी अट्टालिकाएं हैं।'

मेघदूत में अलंकारों का यथास्थान उपयुक्त प्रयोग नैसर्गिक चारुता का संचार करता है। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का तो बड़ा ही सुन्दर एवं समुचित प्रयोग हुआ है। कालिदास की उपमाओं का तो कहना ही क्या है! प्राकृतिक दृश्यों का मानवीय सौन्दर्य से सुरुचिपूर्ण सादृश्य स्थापित किया गया है। वर्षाकाल में महलों पर शुभ्र जलबिन्दु की झड़ी लगाने वाले मेघवृन्द अलकासुन्दरी के मुक्ता-मंडित केशकलाप की भांति हैं—

या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्।

कभी कालिदास मानवीय सौन्दर्य की तुलना प्रकृति-सौन्दर्य से करते हैं। चिन्ता से कृशकाय, विरहशय्या पर एक ही करवट पड़ी यक्ष-पत्नी प्राची में कृष्णपक्ष की क्षीण चन्द्रकला की भांति है—

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।

बेचारी विरहिणी यक्षपत्नी, बरुनियों में निरन्तर आंसू के बड़े बड़े बूंद भरे रहने के कारण, मेघाच्छन्न दिवस में स्थल-कमलिनी की भांति न जागती ही है, न सोती ही—

चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्।

मेघदूत में स्थान स्थान पर अभिनव उत्प्रेक्षाओं का भी सुन्दर उपयोग

हुआ है। कैलाशपर्वत की शुभ्र धवल हिमाच्छादित चोटियां ऐसी शोभित हो रही हैं मानो भगवान् शङ्कर के प्रतिदिन अट्टहास की राशियां लगी हों। मेघ को ऊपर जाते देख जब मृगनयनी यक्षपत्नी के नेत्र फड़क उठते हैं तो उस समय उनकी शोभा उस कमल के समान होती है जो किसी मछली के उछलने के कारण चंचल हो उठा हो। पर्वत की चोटी पर छा जाने वाला श्यामवर्ण मेघ शिव के शुभ्र वृषभ के सींग पर लगे पंक की छवि धारण करता है।

मेघदूत में कालिदास ने बाह्य-प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। बाह्य-प्रकृति के चित्रण में कवि की अन्तरात्मा प्रत्येक दृश्य के साथ मानो रम गई है। बाह्य-प्रकृति के प्रति कवि का अनन्य अनुराग देख पड़ता है। दृश्यों का ऐसा ब्यौरेवार और संश्लिष्ट चित्रण किया गया है कि हमारे मानसिक नेत्रों के सम्मुख उनका एक चित्र उपस्थित हो जाता है। सारा पूर्वमेघ बाह्य-प्रकृति का ही मनोहर रूपयोजनात्मक चित्रण है। वर्षाऋतु का जैसा स्निग्ध और हृदयग्राही वर्णन मेघदूत में किया गया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कहीं प्रथम वृष्टि के कारण नये जुते खेतों से सोंधी महक उड़ रही है, कहीं खिले केतक-कुसुमों के पराग से उपवन का परिसर धवल हो रहा है, कहीं मत्त मयूर नाच रहे हैं, कहीं हिरन चौकड़ी भर रहे हैं और कहीं मतवाले हाथी सूंडों की सिसकारी भर मंद समीर का पान कर रहे हैं। मेघदूत के प्रकृति-वर्णन में ऐसे कई स्थल हैं जिन पर उत्कृष्ट कोटि के चित्र बनाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, मानसरोवर को जाने वाले राजहंसों का विशद चित्र देखिए, जो अपनी चोंचों में पाथेय के लिये कमलनाल के मृदुलदलों को दबाये मेघ के साथ साथ उड़ते जा रहे हैं—

> आ कैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
> संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः।

गंगा के स्फटिक-समान निर्मल जल को पीने का लोभी मेघ जब अपने

अगले तन का विस्तार करके दिग्गज की भांति नभ में झुक जाता है तो उसके श्याम प्रतिबिम्ब से गंगा तत्काल यमुना-संगम की छटा धारण कर लेती है।

यक्ष के प्रणय-सन्देश को लेकर जाते हुए मेघ का 'नयनसुभग' रूप स्थान स्थान पर अंकित है। अनुकूल पवन से प्रेरित हो कभी वह सीधे, कभी मुड़कर और कभी लंबे-तिरछे होकर उड़ता है। कहीं वह गिरिशिखरों पर विश्राम करता है, कहीं क्षीण होने पर सरिता के सरस सलिल का पान करता है, तो कहीं मूसलाधार वृष्टि बरसाता है। कहीं वह घनश्याम-सा श्याम बन जाता है, कहीं सायंकाल होने पर अभिनव जपा-कुसुम की लालिमा धारण करता है और कहीं कनककसौटी की रेखा जैसी विद्युत् की छटा दिखाता है। प्रदोषकाल की पशुपति-पूजा में मंद मंद गर्जन कर वह डंके का का काम करता है। कभी फौवारे जैसा उड़कर, कभी करिशावक जैसा बनकर और कभी पर्वत-शिखरों पर चिकनी चोटी की तरह चिपट कर वह भांति भांति की क्रीडा करता है।

कालिदास ने मेघ को भाफ, पवन, पानी और पावक का निरा संघात ही नहीं बनाया है, अपितु एक सजीव प्राणी के रूप में चित्रित किया है, जिसमें विनोदप्रियता है, रसिकता है और है यक्ष के ही समान प्रणय-पिपासा। कभी वह कनककमलाकर मानसरोवर के सलिल का पान करता है, कभी नानाविध क्रीडा में निरत हो गिरि-शृंगों पर विहार करता है, तो कभी ऐरावत का मुख-पट बन उसे महान् मोद देता है। सहृदय मेघ दशपुरवधुओं के भ्रूविलासों से वंचित नहीं रहता। रुचिर रमणियों के पदराग से अंकित उज्जयिनी के सुरम्य महलों की छतों पर रात बिताकर वह मार्गश्रम दूर करता है। मुरझाते कर्णकमलों से सुशोभित मालिनों के मुखड़ों पर छाया कर वह उनका प्रीतिपात्र बनता है। रसिक और सहृदय होने के कारण वह अपने घोर गर्जन से अभिसारिकाओं को डराता नहीं।

मछली की किलोल के रूप में चंचल कटाक्ष करने वाली नदी को वह निष्ठुर बन निराश नहीं करता।

कालिदास के अनुसार प्रकृति में सर्वत्र प्रेम की शीतल छाया प्रसार पा रही है। सारी चराचर प्रकृति सचेतन एवं भावनाशील है। नदियां, मानिनी प्रेमिका की भाँति, इठलाकर अपनी लहररूपी भौंहें तान लेती हैं। भोर ही सूर्य अपनी खंडिता प्रियतमा नलिनी के ओसरूपी आंसुओं को अपने करों से पोंछता है। प्रियतम-सा चाटु-कार शिप्रावात कामिनियों के सुखमय गात्र का स्पर्श करता है। प्रकृति के रमणीय दृश्य मानवों को ही नहीं, पशु-पक्षियों और जड़ पदार्थों को भी उत्कंठित कर देते हैं। घटाओं में घिरे मेघ को देखते ही उसका सगा पपीहा चहकने लगता है। बगुलियां गर्भाधान का समय जान उड़कर मेघ का संमान करती हैं। सजलनयन केकी कूकों से उसका स्वागत करते हैं। पर्वत उसको गले लगाकर खिले कदम्बों से पुलकित हो उठता है। प्रकृति में पारस्परिक समवेदना के भाव भी देख पड़ते हैं। पहाड़ बहुत दिनों पर अपने स्नेही मेघ को देख कर गरम आंसू बहाता है; मेघ पहाड़ से सखा की भाँति मिलकर उससे बिदा मांगता है।

प्रकृति के विविध दृश्य मानव-हृदय को भिन्न भिन्न प्रकार की उत्कण्ठाओं एवं प्रेरणाओं से आन्दोलित करते हैं। अन्तः और बाह्य-प्रकृति का यह घनिष्ठ संबंध मेघदूत में सर्वत्र देखने को मिलता है। वर्षाकाल की सुहावनी घटा को देख कर विरही यक्ष अनमना हो जाता है। विरहिणी पथिक-रमणियां हवा पर सवार मेघ को देख अपने प्रियतम के आगमन की आशा में धैर्य धारण करती हैं। सरलस्वभावा सिद्धांगनाएं आकाश में घने कृष्णवर्ण के मेघों को देख कर उन्हें हवा में उड़ती पहाड़ की चोटियां समझती हैं। 'भ्रूविला-सानभिज्ञ' ग्राम-तरुणियां अपनी 'नेहभरी भोली चितवन' से मेघ का स्वागत करती हैं। कटाक्ष करने में चतुर पौरस्त्रियां अपने 'चल

चपला से चकित चुटीले बांके नैनों' में मेघ को उलझाने का प्रयत्न करती हैं।

प्रकृति में सहानुभूति की भावना का भी मनोरम आरोप किया गया है। यक्ष की करुण दशा को देख प्रकृति उसके प्रति समवेदना प्रकट करती है। जब यक्ष स्वप्न में अपनी प्रियतमा के आलिंगन के लिये शून्य गगन में बाहें फैलाता है तो वनदेवियां उसकी दशा देख मोतियों के समान आंसू की बड़ी बड़ी बूँदें टपकाती हैं—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

प्रकृति के साहचर्य में ही मानव के सन्तप्त हृदय को सान्त्वना मिल सकती है। हिमालय के देवदारु-वृक्षों की गन्ध से सुगन्धित वायु के स्पर्श में यक्ष को अपनी पत्नी के कोमल अंगों का आलिंगन-सुख मिलता है। प्रियंगुलता में उसके अंगों की, मोरपंख में उसके केश-कलाप की, हरिणी के चंचल नयनों में उसके नेत्रों की, चन्द्रमा में उसके मुख की और नदी की चंचल लहरों में उसके भ्रूविलास की छाया देख वह विरह में भी सान्त्वना पाता है। गेरू से शिला पर प्रिया का चित्र खींच वह विरह-विनोद करता है।

पूर्वमेघ में विरही यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने दुःखी हृदय को आश्वासन देता है; उत्तरमेघ में वह प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत एवं भावी मिलन-सुख का स्वप्न देखता है। प्रकृति की अलौकिक प्रेरणा यक्ष के प्रेम को संकीर्णता की परिधि से बाहर निकाल विश्व-प्रेम में परिणत कर देती है। 'असंगता विश्वप्रेम का प्रधान कारण है। संगम का परिच्छिन्न प्रेम विरह में अपरिच्छिन्न हो जाता है।' अलका के भवन में बैठी यक्षपत्नी यक्ष को प्रत्येक वस्तु में दिखाई देती है—

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ।

तभी तो उसे पेड़-पल्लव, नदी-नद, खोह-पहाड़, पशु-पक्षी, भले-बुरे, जड़-चेतन सभी से प्रेम होगया है ।

कालिदास ने यक्ष और उसकी प्रेयसी की विरहावस्था का वर्णन कर उनकी अन्तःप्रकृति का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है । वास्तव में मेघदूत एक विरहपीड़ित, उत्कंठित हृदय की मर्मभरी आह है; प्रत्येक पद्य मे उसकी विकलता, उसकी विह्वलता, उसकी कातरता, उसकी आतुरता, उसके स्पन्दन, उसके क्रन्दन की करुण तान झंकृत हो रही है । यक्षपत्नी के बाह्य एवं अन्तःसौन्दर्य का सुकुमार और करुण अंकन अपूर्व है—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥

'हे मेघ, विरह-चिन्ता के कारण चुप रहने वाली मेरी उस प्रियतमा को मेरा दूसरा प्राण ही जानना, जो मुझसे बिछुड़ कर, अपने सहचर से वियुक्त चक्रवाकी की भाँति, विरह की हूक सह रही होगी । वियोग के इन दीर्घ दिनों में मेरी उस वियोगिनी प्रिया की दशा उस कमलिनी के समान होगी, जो पाला पड़ जाने के कारण बिलकुल मुरझा गई हो ।' अलका की सुरम्य आनन्दमयी नगरी में वही मारी दुखी और अकेली होगी । उस आभूषणहीन, अधीर, कृश शरीर वाली मेरी पत्नी को देख, हे मेघ ! तुम्हारा भी आर्द्र-हृदय भर आयेगा और तुम्हारे नयनों से नीर झरने लगेगा । मेरे विरह के दिन से ही वह देहली के फूलों को धरती पर फैलाकर गिन रही होगी कि अब विरह के कितने दिन बाकी हैं । मेरे वियोग में रोते रोते उसके नेत्र सूज गये होंगे, उष्ण निःश्वासों से उसके अधरों

का वर्ण फीका पड़ गया होगा, चिन्ता के कारण वह हाथ पर कपोल धर कर बैठी होगी, बिखरे केशों के कारण उसका अस्पष्ट देख पड़ने वाला कमनीय मुखचन्द्र, मेघाच्छन्न चन्द्रमा के समान धुंधला और उदास दिखाई दे रहा होगा। देखो, प्रिय मेघ! वह या तो देवताओं की पूजा में सलग्न देख पड़ेगी या कल्पना द्वारा मेरे विरह-कृश शरीर का चित्र बना रही होगी या पिंजरे में बैठी मधुरभाषिणी मैना से पूछ रही होगी कि हे सारिके! क्या तुझे अपने प्रिय स्वामी की भी याद आती है?—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पंजरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥

अपने हृदय के दुःख-दर्द की गाथा सुनाने वाला तथा अपनी प्रियतमा के पास प्रणय-सन्देश भेजने वाला अभागा यक्ष बरबस हमारी हृत्तंत्री के तारों में समवेदना की मधुर झंकार उत्पन्न कर देता है। उसके शब्दों में प्रगाढ़ता एवं अनन्यता की पूर्ण अनुभूति होती है। यक्ष के प्रेमकातर हृदय का चित्रण कर महाकवि कालिदास ने उस मानवहृदय का चित्र अंकित किया है, जो विधाता के अटल विधान को मूकवेदनापूर्वक स्वीकार करते हुए भी तिमिराच्छन्न आकाश में प्रकाश की क्षीणरेखा—आशा की ज्योति—देखता है। तभी तो पुनर्मिलन की उसे पूर्ण आशा है—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥

'देखो, प्रिये, आगामी देवोत्थानी एकादशी को जब विष्णु भगवान् शेषशय्या से उठेंगे, उसी दिन मेरा शाप भी समाप्त हो जायगा।

इसलिये इन शेष बचे हुए चार मासों को जैसे तैसे आंख मीच कर व्यतीत कर दो। फिर तो हम दोनों, विरह के दिनों में सोची हुई अपने मन की साधें, शरद् की सुहावनी चांदनी रात में पूरी कर ही डालेंगे।' सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख के अटल नियति-चक्र में उसका पूर्ण विश्वास है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

मेघदूत की कल्पना शृंगारिक होते हुए भी उसमें शिष्ट नैतिकता का कहीं त्याग नहीं किया गया है। अपनी जिस प्रियतमा के विरह में यक्ष क्षीणकाय हो सन्देश भेज रहा है, वह उसकी विवाहिता पत्नी है। उसकी प्रेयसी विधाता के नारी-रचना-कौशल का प्रथम अवतार ही नहीं है, पति की प्राणेश्वरी ही नहीं है, प्रत्युत विविधकलाप्रवीणा, सहृदया, साध्वी और आदर्श पतिव्रता गृहिणी भी है। यक्ष-दम्पती का प्रणय मानवीय प्रेम का ही आदर्श प्रतिरूप है और है दाम्पत्य प्रणय की एकनिष्ठता का मूर्तिमान् प्रतीक। कुबेर द्वारा निर्वासित होने के पूर्व यक्ष का प्रेम उद्दाम वासना से प्रेरित और कर्त्तव्य का विरोधी था। उद्दाम वासना से अभिभूत होने के कारण ही वह कर्त्तव्य-विरोधी प्रणय मानो अपने उच्च अलौकिक धरातल (अलका) से च्युत होकर निम्न पार्थिव स्तर (रामगिरि) पर आ पड़ा था। किन्तु दीर्घ वियोग ने इस वासना के अंश को भस्मसात् कर उसे पुनः विशुद्ध प्रणय में परिवर्तित कर दिया। सच पूछिए तो कालिदास ने अपने मेघदूत-काव्य द्वारा संसार को प्रणय-सिद्धान्त का यही गूढ़ सन्देश दिया है। वियोग ही सच्चे प्रेम का पोषक और परिणति-विधायक है—'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।' जहां संयोग-दशा में निरन्तर आस्वादन के कारण प्रेम घटता हुआ प्रतीत होता है, वहां वियोग में स्नेहरस के उत्तरोत्तर पुंजीभूत होने के कारण वही प्रेम एक महान् राशि के रूप में परिणत हो जाता है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ।

विरही यक्ष का यह अतृप्त अनुराग, हमारा अनुराग बन जाता है; प्रिया के प्रति उसकी उत्कण्ठा, हमारी उत्कण्ठा हो उठती है। 'कालिदास की यह प्रसन्न-मधुर वाणी, मन्दाक्रान्ता की यह झूमती चाल, देश की यह मनोहर रूपमाधुरी—सबने मिलकर मेघदूत को उस अलौकिक रस से परिप्लावित कर दिया है जो काव्यप्रकाश में इस प्रकार वर्णित है—सर्वथा पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वांगीणमिवालिंगन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानु-भावयन् अलौकिकचमत्कारकारी...रसः। प्रातिभ और प्रत्यक्ष उभयविध गोचरों की जैसी रमणीय एकात्मता मेघदूत में है, वैसी कहीं नहीं।'[1] कालिदास का यह गीतिरत्न केवल वस्तुओं के रूपरंग में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाता, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखता है। इसमें जहां स्निग्ध-श्यामल बलाहकों से व्याप्त व्योममण्डल का बिंबग्राही वर्णन है, वहां प्रेमी-प्रेमिका के विरहजन्य प्रेमोत्कर्ष का भी हृदयग्राही चित्रण है। जहां जलकणवाही, सुखशीतल, केतकगन्धी गन्धवाह का अथवा प्रिय-समागम से प्रीत मयूर के प्रमोद नृत्य का अथवा अभिनव जलधारा से आप्यायित वीरबहूटियों का स्निग्ध चित्रण है, वहीं अमिट सख्यभाव का, हृदय के औदार्य का, कृतज्ञता, सज्ज-नता, दया, त्याग एवं निःस्वार्थभाव का भी अंकन किया गया है। 'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा', 'न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृ-तापेक्षया संश्रयाय, प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः', 'मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः', 'आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानां', 'प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव' जैसी पंक्तियां इस काव्य की रमणीयता में गांभीर्य का संचार करती हैं।

१—पं० केशवप्रसादमिश्रकृत मेघदूत के पद्यानुवाद की भूमिका।

संक्षेप में, उदात्त कल्पना, कलात्मक सृष्टि-नैपुण्य, रसानुकूल भावव्यंजना, उच्च आदर्श तथा सुललित पदविन्यास—अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण मेघदूत गीतिकाव्य-कला का चरम निदर्शन है। 'अमोघराघव' (१२९९ ई०) के रचयिता दिवाकर ने कालिदास की जो प्रशंसा की है, वह मेघदूत पर अक्षरशः घटित होती है—

> रम्या श्लेषवती प्रसादमधुरा शृंगारसंगोज्ज्वला
>
> चाटूक्तैरखिलप्रियैरहरहस्सम्मोहयन्ती मनः।
>
> लीलान्यस्तपदप्रचाररचना सद्वर्णसंशोभिता
>
> भाति श्रीमति कालिदासकविता कांतेव तांते रता ॥

कालिदास की ख्याति और लोकप्रियता जितनी रघुवंश और शाकुन्तल पर आश्रित है, उतनी ही इस सरस गीतिकाव्य मेघदूत पर भी। कुछ विद्वानों की तो यहां तक धारणा है कि यदि कालिदास अन्य किसी ग्रंथ की रचना न करके केवल इस मेघदूत की ही रचना करते तो भी संसार के श्रेष्ठ महाकवियों में उनकी गणना की जाती। सन्देशकाव्य की अभिनव एवं मौलिक कल्पना का श्रेय महाकवि कालिदास को ही है। संस्कृत में दूतकाव्यों का श्रीगणेश मेघदूत से ही होता है। मेघदूत के अनुकरण पर बाद में अनेक दूतकाव्यों की रचना हुई। ८ वीं शताब्दी के जैनकवि जिनसेन की रचना 'पार्श्वाभ्युदय' में समस्यापूर्ति के ढंग पर मेघदूत की पंक्तियों का उपयोग किया गया है। १२ वीं शताब्दी के कविराज धोयी ने 'पवनदूत' की रचना की। इसके बाद तो नेमिदूत, हंसदूत, कोकिलदूत, शीलदूत, उद्धवदूत जैसे सन्देशकाव्यों की परम्परा ही चल पड़ी। मेघदूत पर कुल मिलाकर ४० टीकाएं लिखी गई हैं। 'मेघे माघे गतं वयः' यह उक्ति मेघदूत के व्यापक अध्ययन की परिचायक है।

मेघदूत के हिन्दी में छः पद्यानुवाद हो चुके हैं। इनमें राजा लक्ष्मणसिंह तथा राय देवीप्रसाद के अनुवाद ब्रजभाषा में हैं।

श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने खड़ी बोली में समश्लोकी अनुवाद किया है। श्री दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने भी एक पद्यानुवाद किया है। किन्तु खड़ी बोली में सबसे सुन्दर और सरस अनुवाद आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र का है।

मेघदूत का विदेशों में भी खूब प्रचार हुआ है। जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने अपने 'मेरिया स्टुअर्ट' नामक नाट्यकाव्य में कालिदास के अनुकरण पर मेघ द्वारा सन्देश भेजने की कल्पना की है। प्रो० मैक्समूलर ने मेघदूत का जर्मन पद्य में तथा श्वेट्ज़ (Schutez) ने जर्मन गद्य में अनुवाद किया है। डॉ० एच० बेक्ह् (Beckh) ने मेघदूत का तिब्बती भाषा में एक संस्करण प्रकाशित किया है। अमेरिका के आर्थर राइडर महोदय ने मेघदूत का अंग्रेजी में बड़ा ही मनोहर पद्यानुवाद किया है।

श्री हरिनाथ डे महोदय ने राजेन्द्रनाथ विद्याभूषणकृत 'कालिदास' नामक बंगला पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है कि मेघदूत की रचना के पूर्व ही चीन का स्यू काङ् (Hsiu Kan) नामक कवि (२०० ई०) मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना कर चुका था। किन्तु यह धारणा कालिदास के काल-विषयक उस मत पर आश्रित है, जिसके अनुसार वे ४०० ई० के आसपास के माने जाते हैं। नवीन अनुसन्धान के आधार पर प्रो० जी० सी० झाला[1], प्रो० शेम्बावणेकर[2] तथा डॉ० राजबली पाण्डेय[3] जैसे विद्वानों ने कालिदास का स्थिति-काल प्रथम शताब्दी ई० पू० में प्रमाणित किया है। अतः मेघदूत की प्रथम कल्पना का श्रेय कालिदास को ही है।

जनश्रुति है कि कालिदास ने श्रृङ्गारतिलक नामक एक और काव्य की रचना की थी। शृंगारतिलक २३ पद्यों का एक छोटा सा

१—*Kalidasa—A Study*

२—Intro. to Kale's edn. of शाकुन्तल।

३—कालिदास-ग्रन्थावली में 'विक्रमादित्य' शीर्षक लेख।

शृङ्गारप्रधान गीतिकाव्य है। इसमें शृंगाररस का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी प्रासादिक भाषा और सरस शैली देख कर इसे कालिदास की कृति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं देख पड़ती। कोमलांगी किन्तु कठोरहृदया प्रियतमा का क्या ही सुन्दर वर्णन है—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय धाता कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः॥

प्रियतमा के मुखचन्द्र की कैसी असाधारण कल्पना है—

झटिति प्रविश गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः।
तव मुखमकलंकं वीक्ष्य नूनं स राहु—
र्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय॥

'प्रिये, देखो अभी चन्द्रग्रहण होने जा रहा है, इसलिये तुम झटपट घर के भीतर चली जाओ, नहीं तो यदि कहीं राहु तुम्हारा यह निष्कलंक मुखचन्द्र देख लेगा तो वह धब्बे वाले चन्द्रमा को छोड़ इसे ही ग्रस लेगा।' इस पद्य में 'समय' और 'वेला' तथा 'मुखं' और 'मुखेन्दुं' की पुनरुक्ति से स्पष्ट आभासित होता है कि यह तरुण कवि की तरुण रचना है।

घटकर्पर—परंपरागत प्रसिद्धि के अनुसार घटकर्पर महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। अतः उनका समय ४०० ई० के लगभग माना जा सकता है। घटकर्पर ने इसी नाम का २२ पद्यों का एक लघुकाव्य रचा है। 'घटकर्पर' नाम से उनकी प्रसिद्धि संभवतः उनके इस पद्य से हुई, जिसमें वे प्रतिज्ञा करते हैं कि जो कोई यमक-अलंकार के प्रयोग में मुझसे बाजी मार लेगा, उसके यहां मैं घड़े के खप्पर से पानी भरूंगा—

आलम्ब्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयं भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥

घटकर्पर में मेघदूत का कथानक उलट कर काम में लाया

गया है। वर्षाऋतु के आरम्भ में एक विरहिणी पत्नी अपने दूरस्थ पति के पास प्रणय-सन्देश भेजती है। इसके पद्यों में यमक-अलंकारों की भरमार है। एक नमूना देखिए—

किं कृपापि नास्ति कान्तया पाण्डुगण्डपतितालकान्तया।
शोकसागरेऽद्य पातितां त्वद्गुणस्मरणमेव पाति ताम्॥

हाल—प्राकृत में भी गीतिपद्यों की रचना हुई। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हाल-रचित गाथा-सप्तशती है। इस ग्रंथ के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। हाल का दूसरा नाम सातवाहन था। बाण अपने हर्षचरित के आरंभ में सातवाहन का उल्लेख करते हैं[1]। यह नाम पुराणों में आन्ध्रभृत्यों की वंशावली के अन्तर्गत भी आया है। अतः हाल १२५ ई० के पहले हुए होंगे[2]। कुछ विद्वान सातवाहन राजा हाल को ७८ ई० के शक शालिवाहन संवत् का प्रवर्त्तक मानते हैं। इस आधार पर चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय सप्तशती की रचना पहली शताब्दी ई० में मानते हैं[3]। कीथ सप्तशती की महाराष्ट्री प्राकृत की शैली के आधार पर उसे २०० ई० के पूर्व की रचना नहीं मानते। किन्तु नवीनतम शोध के अनुसार हाल का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० सिद्ध हो चुका है।

सप्तशती में ७०० गाथाओं (आर्याछन्दों) का संग्रह है। इन सबकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है, जिसकी प्रशंसा में दण्डी कहते हैं—'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।' इनमें कुछ तो स्वयं हाल द्वारा विरचित हैं, पर अधिकांश पद्य कई तत्कालीन अथवा पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएं हैं, जिनके नाम का अब पता नहीं। हाल ने, जैसा वे स्वयं कहते हैं, शृंगाररस से सनी लाखों गाथाओं में से ७०० ऐसी उक्तियां चुनकर रख दीं, जो उन्हें अत्यन्त

१—अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥ हर्षचरित, श्लो० १३

२—D. R. Bhandarkar in *Bhandarkar Com. Vol*. p. 187

३—*Indian Review*, Dec. 1909

सुन्दर एवं रस-भाव-पेशल प्रतीत हुईं। इस प्रकार यह सुभाषित-संग्रह का प्रथम ग्रन्थ है। सप्तशती का प्रत्येक पद्य अपने-आप में स्वतंत्र है और आमुष्मिकता की चिन्ता से एकदम मुक्त है। मुक्तक-काव्य के प्राचीनतम उदाहरण गाथा-सप्तशती के पद्य हैं।

कालिदास और भवभूति की उदात्त रचनाओं से परिचित पाठक के लिए सप्तशती की कविता का स्तर सर्वथा नूतन एवं मौलिक प्रतीत होगा। सप्तशती में लोकजीवन के विविध पटलों की सजीव अभिव्यक्ति की गई है। उसकी गाथाओं के दृश्य अधिकतर सरल ग्राम्य-जीवन से लिये गये हैं। वहां के लोग नगर की विलास-सामग्रियों से भले ही वंचित हों, पर प्रेम, दया, सहृदयता, एकनिष्ठता जैसे भावों के धनी हैं। सप्तशती ऐसे ही लोगों के सुख-दुःख के अवसरों का चित्र उपस्थित करती है। उसमें प्रधानतया तत्कालीन समाज के संभोग एवं विप्रलम्भ शृंगार का मूर्तिमान् चित्रण है। उसकी नायिकाएं गांवों की मुग्ध युवतियां हैं। शृंगार के अतिरिक्त उसमें प्रकृतिचित्रण तथा नीतिविषयक सूक्तियां भी पाई जाती हैं। इन पद्यों द्वारा कहीं कहीं तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं पर भी प्रकाश पड़ा है। प्रत्येक पद्य में किसी न किसी प्रकार का चमत्कार, माधुर्य या सौष्ठव है; व्यंग्यार्थ की सुन्दरता तो सर्वत्र दर्शनीय है।

सप्तशती में प्राकृतिक दृश्यों का प्रायः उपमापूर्ण वर्णन किया गया है। ये उपमाएं बड़ी मौलिक एवं सुन्दर हैं। कहीं मरकत की सुई से बिंधे मोती के समान, तृण की नोक पर चमकते जलबिन्दु को मृग चाट रहे हैं; कहीं काले मेघों के प्राण की भांति बिजली धुक् धुक् कांप रही है; कहीं कुमुद-दलों पर निश्चल भाव से बैठे काले भौंरे अन्धकार की ग्रंथियों के सदृश प्रतीत हो रहे हैं—

राजन्ति कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः।
अन्यय इव तिमिरस्य हि शशिकरनिःशेषनाशितस्येमाः ॥[1]

१—ये उदाहरण संस्कृत रूपान्तर में ही दिये गये हैं।

सप्तशती का सरस सूक्ति-सौन्दर्य अवलोकनीय है। संसार में बहरों और अंधों का ही समय सुख से बीतता है, क्योंकि बहरे कटु शब्द नहीं सुन सकते और अंधे दुष्टों की समृद्धि नहीं देख पाते। कृपण के लिए उसका धन उतना ही निष्फल है, जितनी ग्रीष्म की कड़ी धूप से व्याकुल पथिक के लिये उसकी अपनी छाया। टेढ़ों और सीधों का साथ कहीं निभ सकता है? तभी तो टेढ़ा धनुष सीधे और गुणग्राही बाणों को दूर फेंक देता है—

चापः स्वभावसरलं क्षिपति शरं किल गुणेऽपि निपतन्तम्।
ऋजुकस्य च वक्रस्य च सम्बन्धः किं चिरं भवति॥

प्रणय का मार्मिक चित्रण सप्तशती की विशेषता है। प्रेम और करुणा के भाव तथा प्रेमियों की रसमयी क्रीडाओं का सजीव चित्रण हुआ है। दाम्पत्य जीवन की रोचक घटनाएं भी वर्णित हैं। रसोई बनाते समय कहीं पत्नी के कालिख लगे हाथ से मुख पर धब्बा लग गया; उसे देख मुस्कराता हुआ पति बोल उठा, वाह! अब तो तुम्हारे मुख और चन्द्रमा में कोई अन्तर नहीं रह गया—

गेहिन्या महानसकर्ममसीमलिनितेन हस्तेन।
स्पृष्टं मुखमुपहसति हि चन्द्रावस्थां गतं दयितः॥

गाथा सप्तशती का अनुशीलन करते समय हमारी मृदुल भावनाएं बरबस आकृष्ट हो जाती हैं। कवि की कोमल भावुकता दर्शनीय है—पति के शुभागमन में पत्नी अपने हर्षातिरेक को इसलिये दबा रखती है कि कहीं उसकी प्रोषितभर्तृका पड़ोसिन को दुःख न हो। सर्वत्र शृंगार की स्निग्धता व्याप्त है। प्रेमिका के उरोज बादलों को चीर कर निकलते हुए चन्द्रमा के समान हैं। नायिका के मुख की समता चन्द्रमा नहीं कर सकता, इस पर कवि की कल्पना देखिए—

तव मुखसादृश्यं नो लभत इति हि पूर्णमण्डलो विधिना।
घटयितुमिवान्यमयमिव पुनरपि परिखंड्यते शशभृत्॥

'ब्रह्मा ने जब देखा कि पूर्ण चन्द्र बनाने पर भी वह नायिका के

मुख की समता नहीं कर सका, तब वे उसे फिर से बनाने के लिये खंड खंड कर डालते हैं।' एक सुकुमार अन्योक्ति देखिए—

ईषत्कोपविकासं यावन्नाप्नोति मालती कलिका।
मकरन्दपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयसि॥

सप्तशती के उपर्युक्त पद्य का ही भाव लेकर महाकवि बिहारी ने अपने निम्नलिखित दोहे की रचना की, जिसके प्रभाव से जयपुर के महाराज जयसिंह की मोह-निद्रा भंग हुई थी—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल।
अली, कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवाल॥

गाथा-सप्तशती की अनेक उक्तियों को आलंकारिक आचार्यों ने अपने ग्रंथों में उदाहरण रूप से उद्धृत किया है। इसी के आदर्श पर गोवर्धनाचार्य ने संस्कृत में अपनी 'आर्या-सप्तशती' की रचना की। हिन्दी में भी सतसई-साहित्य के सूत्रपात का श्रेय गाथा-सप्तशती को ही है। हाल की प्रशंसा करते हुए अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' में सोड्ढल कहते हैं कि आज भी हाल का स्मरण करते ही सहृदयों के मुख से पहले 'हा' यही अक्षर निकलता है—

हाले गते गुणिनि शोकभराद्भृशरुद्धवाङ्मयजडाः कृतिनस्तथाऽमी।
यत्तस्य नाम नृपतेरनिशं स्मरन्तो हेत्यक्षरं प्रथममेव परं वदन्ति॥

भर्तृहरि—<u>नीतिशतक</u>, <u>शृंगारशतक</u> तथा <u>वैराग्यशतक</u> के प्रसिद्ध रचयिता भर्तृहरि के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण है। जनश्रुति के आधार पर वे महाराज विक्रमादित्य के बड़े भाई थे। भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टि और उक्त शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि, इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानना उचित नहीं। कीथ के मतानुसार प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के रचयिता वही भर्तृहरि थे, जिनकी मृत्यु इत्सिंग के अनुसार लगभग ६५० ई० में हुई थी। इत्सिंग के कथनानुसार भर्तृहरि सात बार गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम के बीच भटकते रहे। किन्तु यह कल्पना सम्भवतः

शृंगारशतक और वैराग्यशतक के परस्पर विरोधी भावों को लक्ष्य में रख कर ही की गई है। उक्त शतकत्रय के कर्त्ता भर्तृहरि बौद्ध वैयाकरण भर्तृहरि नहीं हो सकते। नीति और वैराग्य शतकों में प्राचीन वैदिक आदर्शों एवं पौराणिक सिद्धान्तों के कई उल्लेख मिलते हैं, अतः इन्हें बौद्ध मानना युक्तिसंगत नहीं। यदि भर्तृहरि उन्हीं विक्रमादित्य के भाई थे, जिन्होंने ६४४ ई० में कहरूर की लड़ाई में हूणों को परास्त किया था, तो उनका स्थितिकाल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

नीतिशतक में मनुस्मृति और महाभारत की गम्भीर नैतिकता कालिदास की सी प्रतिभा के साथ प्रस्फुटित हुई है। विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, उदारता, परोपकार-परायणता जैसी उदार वृत्तियों का बड़ी सरस पदावली में वर्णन किया गया है। इनमें जिन नीति-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे संसार की किसी भी जाति अथवा धर्म के लिये भूषण-स्वरूप हैं। नीतिशतक के प्रसिद्ध पद्यों का प्रचार प्रायः समग्र भारतवर्ष में है।

भर्तृहरि की शैली प्रासादिक, मुहावरेदार और मंजी हुई है। उसमें प्रवाह, पदलालित्य, भावप्रवणता और अर्थव्यक्ति है। भाषा इतनी सरल, स्वाभाविक और सुबोध है कि कवि का तात्पर्य पद्यों को एक बार पढ़ने से ही भलीभांति ज्ञात हो जाता है। दैनिक जीवन के गूढ़ एवं अत्यन्त सत्यों को भर्तृहरि ने बड़े हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत किया है। कहीं नीति के अनुभवजन्य उपदेश निर्दिष्ट है, कहीं रमणियों के रूप-विलास का आकर्षण अंकित है और कहीं वैराग्य का शुभ्र प्रकाश वितरित है। छन्दों की विविधता, विषय की रोचकता, उदाहरणों की अनुरूपता तथा सूक्तियों की सुन्दरता भर्तृहरि के काव्य को चारुता प्रदान करती हैं। उनकी शैली के नीतिशतक से कुछ उदाहरण देखिए—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परिशुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

'जिस कामिनी का मैं निरंतर चिन्तन करता हूँ, उसके हृदय में मेरे प्रति कोई अनुराग नहीं। वह एक ऐसे पुरुष पर आसक्त है जो स्वयं किसी अन्य स्त्री से प्रेम करता है। मेरे लिये कोई और ही स्त्री उत्कंठित हो रही है। धिक्कार है उस कामिनी को, उस पुरुष को, कामदेव को, इस स्त्री को और मुझको।' अहिंसा, परद्रव्य-हरण में संयम, सत्यवाणी, यथाशक्ति दान, पर-स्त्री की चर्चा न करना, इन्द्रिय-दमन, गुरुजनों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार तथा सब प्राणियों के प्रति दया—यही शास्त्रों द्वारा अनुमोदित कल्याण का पथ है। लोभ के रहते दूसरे अवगुणों की क्या आवश्यकता, दुष्टता के रहते पापों की, सत्य के रहते तपस्या की, पवित्र मन के रहते तीर्थों की, सज्जनता के रहते सद्गुणों की, यश के रहते अलंकारों की, सद्विद्या के रहते धन की और अपयश के रहते मृत्यु की क्या आवश्यकता? तेजस्विता आयु की अपेक्षा नहीं रखती, तभी तो एक सिंहशावक बड़े बड़े मतवाले हाथियों पर टूट पड़ता है—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥

ऐसे सज्जनों की संख्या उंगलियों पर गिने जाने योग्य है, जिनके मन-वचन-कर्म पुण्यरूपी अमृत से पूर्ण हैं, जो सारे संसार को अपने सत्कार्यों से प्रसन्न रखते हैं, तथा जो दूसरों के परमाणु-तुल्य गुणों को भी पर्वत के समान समझते हैं—

मनसि वचसि काये पुण्यपियूषपूर्णास्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

साहित्य और संगीत से वंचित मनुष्य बिना सींग और पूंछ के उस पशु के समान है जो अन्य पशुओं के भाग्य से घास नहीं खाता—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

संसार में खलने वाली बातें सात हैं—सूर्य की प्रभा से मलिन चन्द्रमा, गलित-यौवना कामिनी, कमलों से रहित सरोवर, सुन्दर किन्तु निरक्षर पुरुष, लोभी स्वामी, निरन्तर विपत्तिग्रस्त सज्जन और राजा का प्रीतिपात्र दुर्जन। दैन्य-ग्रस्त मनुष्यों के लिये भर्तृहरि कहते हैं-

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-

मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।

केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

'प्रिय मित्र चातक, क्षण भर के लिये मेरी बात ध्यान देकर सुनो। आकाश में बहुत तरह के बादल हैं, किन्तु वे सभी तुम्हें तृप्त करने वाले नहीं हैं। उनमें कुछ तो पृथ्वी पर पानी बरसाते हैं, पर कुछ व्यर्थ ही गरजते रहते हैं। अतः जिस जिस को तुम देखो, उसी के संमुख दैन्य-सूचक शब्दों का प्रयोग मत करो।' नीति-शतक की कितनी ही सूक्तियां आभाणक के रूप में प्रचलित हो गई हैं—'विभूषणं मौनमपण्डितानाम्', 'मूर्खस्य नास्त्यौषधम्', 'सत्संगतिः किं न करोति पुंसाम्', 'प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति', 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते', 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः', 'न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः', 'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखं', 'शीलं परं भूषणम्', 'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः', 'विधिरहो बलवानिति मे मतिः', 'यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः' इत्यादि।

शृंगारशतक में कवि ने ललित मधुर शैली में यह दिखाया है कि स्त्रियां अपने आकर्षण द्वारा पुरुषों पर कैसा जादू डाल देती हैं—

कुंकुमपंककलंकितदेहा गौरपयोधरकम्पितहाराः ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्माः कं न वशीकुरुते भुवि रामाः ॥

शूर से शूर पुरुष भी कामदेव का गर्व चूर कर देने में प्रायः असमर्थ हैं—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

कामदेव वह लुटेरा बटमार है जो कामिनियों के सौन्दर्यरूपी कानन में दुर्गम कुच-पर्वतों की ओट में छिपकर मनरूपी पथिक को लूट लेता है—

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ति स्मरतस्करः ॥

कवि आर्यपुरुषों से पूछता है कि बताइए, पर्वतों की गुफाओं में जाकर निवास करना अच्छा है अथवा विलासिनियों के नितम्बों का सेवन करना—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

भाग्यवान् पुरुष ही स्त्रियों के मोहक सौन्दर्य का आस्वादन कर सकते हैं—

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितखेदैः स्वेदगण्डस्थलीनां
अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥

सच पूछा जाय तो शृंगारशतक में पहले शृंगाररस के आकर्षण का चित्रण किया गया है, किन्तु धीरे धीरे उसकी अस्थिरता दिखलाकर शान्तरस की तुलना में उसकी तुच्छता प्रकट की गई है। इस भव-पारावार से मनुष्य का शीघ्र ही निस्तार हो जाता, यदि बीच ही में रोक रखने वाली ये बांके नैनों वाली सुन्दरियां न होतीं—

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥[१]

वैराग्यशतक में कवि ने कारुण्य और निराकुलता के साथ संसार की सारहीनता तथा वैराग्य की आवश्यकता समझाई है। संसार एक विचित्र पहेली है—कहीं वीणा की सुमधुर तान सुनाई पड़ती है तो कहीं विलाप और हाहाकार का करुण स्वर; कहीं विद्वानों की सभा हो रही है तो कहीं सुरापान से उन्मत्त लोगों का कलह देख पड़ता है; कहीं सुन्दर रमणियां दृष्टिगोचर होती हैं तो कहीं कुष्ठ-पीडित शरीरों के बहते हुए घाव; अतः पता नहीं कि यह संसार अमृतमय है अथवा विषमय, वरदान है अथवा अभिशाप-

क्वचिद्वीणावाद्यं क्वचिदपि च हाहेति रुदितम्
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः ।
क्वचिद्रामा रम्याः क्वचिदपि गलत्कुष्ठवपुषो
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥

मुख पर झुर्रियां पड़ जाने पर भी, सिर के बाल सफेद हो जाने पर भी तथा अंग-प्रत्यंग के शिथिल हो जाने पर भी भोगतृष्णा तो तरुणी ही बनी रहती है—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरंकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

वास्तव में वैराग्य का आश्रय लेने पर ही अभय की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि विषयभोगों में रोग का भय, उच्च कुल में च्युत हो जाने का भय, धन होने पर राजा का भय, सम्मान में दीनता का भय, बल में शत्रु का भय, सुन्दरता में वार्धक्य का भय, शास्त्रज्ञान में वादविवाद का भय, गुणों में दुष्टों का भय, शरीर में मृत्यु का भय,

१—हिन्दी के महाकवि बिहारी ने इस पद्य को यों अपनाया है—

या भव पारावार को उलंघि पार को जाय ।
तिय-छवि-छाया ग्राहिनी ग्रसै बीच ही आय ॥

यहां तक कि प्रत्येक वस्तु में किसी न किसी का भय लगा ही रहता है; वैराग्य ही सच्चे आश्रय का दाता है। वृद्धावस्था बाघिन की भांति मुंह बाये डर दिखा रही है, रोग शत्रुओं की भांति शरीर पर आक्रमण कर रहे है, आयु फूटे घड़े के जल की भांति क्षीण हो रही है, तब भी, आश्चर्य है, मनुष्य दूसरों की बुराई करने में लगे हैं—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥

वेदों से, स्मृतियों से, पुराण-पाठ से, शास्त्रों के अनुशीलन से तथा अन्य सकाम कर्मों के अनुष्ठान से क्या लाभ, जब उनसे केवल स्वर्ग की प्राप्ति होनी है। आत्मानन्द की अनुभूति ही एकमात्र सारभूत आनन्द है, क्योंकि उसकी प्राप्ति से संसार के सभी दुःख और बन्धन भस्मसात् हो जाते है, अन्य कार्य तो वणिग्वृत्ति मात्र है। कवि की उत्कटकामना यही है कि—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥

'मेरी यही आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी पवित्र वन में शिव-शिव जपते ही मेरे दिन व्यतीत हों और मेरी दृष्टि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के प्रति एक सी हो, चाहे वह सर्प हो अथवा मोतियों का हार, प्रबल शत्रु हो अथवा मित्र, मणि हो या मिट्टी का ढेला, पुष्पों की शय्या हो अथवा पत्थर, तिनका हो अथवा सुन्दरियों का समूह।' काव्यप्रतिभा एवं दार्शनिकता का ऐसा सुन्दर संयोग अन्य किसी साहित्य में कदाचित् ही उपलब्ध हो। वैराग्यशतक की सुन्दर सूक्तियों को भी देखिए—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं

जगत्', 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः', 'सर्वं यस्य वशादगात्स्मृति-पथं कालाय तस्मै नमः', 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः', 'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः', 'संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः', 'संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्', 'नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः', 'चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः', 'किं नाम वामनयना न समाचरन्ति', 'वनं वा गेहं वा सदृशमुपशान्तैकमनसाम्' इत्यादि।

अमरुक—अमरुकशतक के रचयिता अमरु अथवा अमरुक नामक कोई राजा थे। ये कब और कहाँ हुए, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। हाँ, यह किंवदन्ती अवश्य है कि मण्डनमिश्र की पत्नी शारदा द्वारा किये गये कामशास्त्र-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये स्वयं श्री शंकराचार्य ने अमरुक नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके अमरुकशतक की रचना की थी। यह किंवदन्ती कपोल-कल्पित प्रतीत होती है, क्योंकि इस ग्रन्थ की रचना किसी प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं हुई है।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य (८५० ई०) ने 'ध्वन्यालोक' में अमरुक का इस प्रकार उल्लेख किया है—'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।' वामन (८०० ई०) ने भी अमरुकशतक के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः अमरुक ७५० ई० के पूर्व ही हुए होंगे। अमरुकशतक की रचनाशैली के आधार पर उसकी रचना ७०० ई० के लगभग मानी जा सकती है।

अमरुकशतक सहृदयों का हृदयहार है, सुभाषितों का सुन्दर आगार है। इसके मुक्तक-पद्य रस से ओतप्रोत हैं। श्री आनन्दवर्धन ने इन्हें 'प्रबन्धायमान' कहा है, अर्थात् भाव, रस और अर्थ का जितना संनिवेश एक पूरे प्रबन्ध में किया जा सकता है, उतना अमरुक के एक एक पद्य में पाया जाता है—'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशता-

यते।' अमरुकशतक प्रेम का सजीव चित्रण है, शृंगार की ललित लीलाभंगियों का भावमय स्वरूप है। उसमें प्रेमियों के हर्ष और विषाद, कोप और अनुराग का सूक्ष्म विवरण है। प्रेमियों का अपराग और सन्धान कराने में अमरुक अद्वितीय हैं। यद्यपि अमरुक ने जिस शृंगार का चित्रण किया है, वह उद्दाम है, तथापि उनके काव्य में भावों की कोमलता तथा विचारों की शिष्टता देख पड़ती है।

अमरुकशतक की भाषा अत्यन्त प्रासादिक, प्रवाहपूर्ण एवं प्रांजल है। शब्दों के चुनाव में कवि ने बड़ी बारीकी से काम लिया है। इसकी शैली शुद्ध वैदर्भी-रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। कदाचित् इसकी प्रसन्नमधुर, प्रांजल शैली देख कर ही लोगों ने कल्पना की हो कि यह श्री शंकराचार्य की कृति है। संस्कृत के गीतिकाव्यों में अमरुक-शतक का स्थान मूर्धन्य है। 'सततरसस्यन्दी' पद्यों द्वारा मानवीय प्रणय का सरस चित्रण किया गया है। एक ओर पति को परदेश जाते देख कामिनी की हृदयविह्वलता का मार्मिक चित्र है—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवितप्रिय सुहृत्सार्थः किमुत्यज्यते॥ ३९

'दुर्बलता के मारे हाथों से चूड़ियां गिर पड़ीं, ये प्यारे आंसू भी निरन्तर बह चले, धैर्य भी एक क्षण के लिये नहीं रुका, मन तो पहले ही से जाने को तैयार बैठा था। प्रियतम के विदेश जाने का निश्चय करते ही ये सब के सब उसके साथ ही चल पड़े। तब फिर, हे मेरे प्राण, तुम क्यों प्रियतम का साथ छोड़ रहे हो, तुम भी क्यों नहीं जीवनधन के साथ ही चल देते?' दूसरी ओर पति के शुभागमन में अंग-प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है—

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः ।
दत्तस्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ॥ ४९

'पति के स्वागत में नायिका ने अपनी स्निग्ध दृष्टि से ही बंदनवार सजा दी, कमलों से नहीं; मुस्कराहट से ही पुष्प बिखेर दिये, कुन्द, चमेली आदि फूलों से नहीं; उरोजों से झर रहे पसीने से ही अर्घ्यदान किया, कलश के जल से नहीं। इस प्रकार उस तन्वी ने प्रियतम के प्रवेश करने पर अपने अंगों से ही सारा मंगलकार्य संपादित कर दिया।' अमरुक ने संयोग और विप्रलंभ शृङ्गार की भिन्न-भिन्न दशाओं एवं परिस्थितियों का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। निम्नलिखित पद्य में नायक और मानिनी नायिका का संवाद किस अनूठे ढंग से कराया गया है—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥ ५०

'प्रिये!' 'नाथ!' 'मानिनी, अपना क्रोध छोड़ो।' 'मैंने क्रोध करके कर ही क्या लिया।' 'क्यों? मेरे हृदय में खेद जो उत्पन्न कर दिया!' 'आपने क्या अपराध किया? सारा अपराध तो मेरा है।' 'तब फिर तुम सिसक सिसक कर रो क्यों रही हो?' 'किसके सामने रो रही हूँ?' 'क्यों, मेरे सामने।' 'मैं आपकी कौन?' 'प्रियतमा' 'वही तो नहीं हूँ! इसीलिये तो रो रही हूँ।' प्रियतम के दृष्टिपथ में आने पर मान कैसे निभ सकता है—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ॥ ५१

'भौंहों को तान लेने पर भी आंखें और उत्कंठित हो उन्हें देखने दौड़ती हैं, चुप्पी साधने पर भी इस निगोड़े मुख पर मुस्कराहट आ ही जाती है, चित्त को कठोर बना लेने पर भी शरीर पर रोमांच हो ही उठता है, इसलिये, तुम्हीं बताओ सखी, हृदयवल्लभ प्रियतम के सामने आ जाने पर मान का अभिनय कैसे किया जाय।' भाव-सौकुमार्य का कैसा हृदयस्पर्शी चित्रण है! इसी पद्य के भावों को लेकर हिन्दी के महाकवि बिहारी ने अपने निम्नलिखित दोहों की रचना की है—

सतर भौंह रूखे बचन करत कठिन मन नीठि।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हंसौंही डीठि॥
रुख रूखे मिस रोखमुख कहति रुखौंहैं बैन।
रूखे कैसे होत ये नेह चीकने नैन॥
त्यौं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत।
हौं कसुकै रिसहे करौं ये निसिखे हंसि देत॥

अमरुकशतक के पद्य ध्वनिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, शृंगाररस से लबालब भरे मुक्तककाव्य के सरस नमूने हैं। बिहारी के अनेक दोहों में अमरुक के भावों की स्पष्ट छाप है। पद्माकर ने तो अपने 'जगद्विनोद' में अमरुक के अनेक श्लोकों का अनुवाद ही कर दिया है। अर्जुनवर्मदेव ने अपनी रसिकसंजीवनी टीका में अमरुक के कवित्व की डमरू से उपमा दी है, जिसकी आवाज के आगे अन्य सब शृंगारिक उक्तियां दब जाती हैं—

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता न संचरति।
शृंगारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु॥

बिल्हण—बिल्हण ने ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चौर-पञ्चाशिका नामक ५० पद्यों के एक लघु गीतिकाव्य की रचना की। किंवदन्ती है कि किसी राजकुमारी से प्रेम करने के कारण कवि को प्राणदण्ड मिला था। तब उसने अपने प्रणय के अनुभवों का उत्तप्त

वर्णन करते हुए इस लघु काव्य की रचना की। इससे प्रभावित हो राजा ने क्षमा प्रदान कर राजकुमारी का उसके साथ विवाह कर दिया। कीथ के मतानुसार यह कथा कपोल-कल्पित है। काव्य में इस प्रकार की व्यक्तिगत अनुभूति का कोई आभास नहीं मिलता। 'विक्रमांकदेवचरित' में बिल्हण ने जो अपना जीवन-वृत्त दिया है, उसमें उक्त घटना का कोई उल्लेख नहीं है। चौरपंचाशिका की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। शैली सरस और मधुर है। किन्तु उसमें अमरुकशतक के समान सुकुमार मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं है, न वह मार्मिक व्यंजना ही है। कवि का शृंगारिक वर्णन कहीं कहीं उच्छृङ्खल हो गया है। एक नमूना देखिए—

अद्यापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं पीयूषपूर्णकुचकुम्भयुगं वहन्तीम्।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने स्वर्गापवर्गनरराज्यसुखं त्यजामि॥

धोयी—मेघदूत का अनुकरण कर जिन 'सन्देश'-काव्यों की रचना हुई, उनमें धोयी-कृत पवनदूत का प्रमुख स्थान है। कविराज धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के आश्रित कवि थे। अतः इनका स्थितिकाल बारहवीं शताब्दी था। ये गोवर्धनाचार्य और जयदेव के समकालीन थे।[1] जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' (१।४) में धोयी को 'श्रुतिधर' कहा है।

पवनदूत में कुल १०४ पद्य हैं। राजा लक्ष्मणसेन दिग्विजय करते हुए मलयाचल जा पहुँचे। वहां कुवलयवती नामक गन्धर्व-कन्या उनके अलौकिक रूप को देख कर मुग्ध होगई। राजा के स्वदेश लौट आने पर उसने विरह-पीड़ित हो पवन द्वारा प्रणय-सन्देश भेजा। इसी कारण इस काव्य का नाम 'पवनदूत' पड़ा।

मेघदूत की भाँति पवनदूत की भी रचना मन्दाक्रान्ता छन्द

१—गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥

में की गई है। इस काव्य पर मेघदूत की छाया स्पष्ट देख पड़ती है। मौलिकता न होने पर भी पवनदूत का मनोरम वाक्यविन्यास, कविता का स्वाभाविक प्रवाह, तथा भावों का सौष्ठव दर्शनीय है। वियोग-वर्णन का एक उदाहरण देखिए—

सारंगाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादंगकानि
त्वद्विश्लेषे स्मरहुतवहः श्वाससंधुक्षितोऽपि ।
जाने तस्याः स खलु नयनद्रोणिवारां प्रभावो
यद्वा शश्वन्नृप तव मनोवर्तिनः शीतलस्य ॥७५

'हे राजन, तुम्हारे वियोग में यह कामरूपी अग्नि, श्वास के पवन से सुलगाई जाने पर भी जो इस मृगनयनी के कोमल अंगों को जलाकर खाक नहीं कर देती, इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो उसकी सुन्दर आंखों से अनवरत आंसू की धारा बह रही है, दूसरे तुम्हारी शीतल मूर्ति उसके हृदय में निरंतर विराजमान है।'

गोवर्धनाचार्य—हालकृत प्राकृत सप्तशती के अनुकरण पर गोवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती की रचना की। गोवर्धनाचार्य बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के आश्रित कवि थे। सप्तशती के पद्यों की रचना आर्याछन्द में हुई है। इन आर्याओं की रचना अकारादि वर्णानुक्रम से की गई है।

सप्तशती में शृंगाररस का स्निग्ध चित्रण हुआ है। गीतगोविन्द के अमर रचयिता जयदेव गोवर्धनाचार्य को शृङ्गाररस की रचना करने में अद्वितीय बताते हैं—'शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।' गोवर्धनाचार्य की भाषा, उनकी आर्याओं की भांति ही मसृण, सरस, विशद और सज्जनों के हृदय को मुग्ध करने वाली है—

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः ।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः ॥ ५१

गोवर्धनाचार्य ने उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि सादृश्यमूलक अलंकारों

का आश्रय लेकर शृंगाररस की मार्मिक और मनोहर व्यंजना की है। उनकी सूक्तियां भी सरस हैं। उनकी आर्याओं के कुछ उदाहरण देखिए—

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुंजेव न तु मुखे वहति।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव॥ ७०३

'नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त है, पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती, अतः वह उस लाल गुंजाफल के समान है जो मुख को छोड़ सर्वांग में रक्तवर्ण है। दूसरी ओर वचनचातुरी में दक्ष नायक है, जो मुख मात्र ही से अपने प्रेम का ख्यापन करता है, अतः वह उस हरे शुक के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है।' एक सुकुमार भाव की कल्पना देखिए—

पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय।
अधरविलेपनसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि॥ ४५२

'हे भ्रमर, इस बकुलकलिका के मकरन्द-रस का पान करते समय, देखो, दूर ही से केवल अपनी जिह्वा की नोंक से उसका स्पर्श करना, क्योंकि यदि तुम अपना पूरा मुंह उस पर रख दोगे तो उसका वह अत्यल्प मधुबिन्दु तुम्हारे ओठों में ही पुत कर रह जायगा।' दूसरे के मुख से जो बातें गाली जैसी मालूम पड़ती हैं, प्रिय के मुख से वेही परिहास बन जाती हैं; इंधन से निकलने वाला धुआं अगुरु से उत्पन्न होने पर धूप बन जाता है—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियमुखे स एव हि परिहासः।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुसमुद्भूतो धूपः॥ ६७

कवि की एक और शृंगारिक उक्ति देखिए—

सत्कविरसनाशूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा वराकी॥ ४६

'सत्कवियों की रसनारूपी सूप से फटककर जिनकी कर्कशतारूपी भूसी अलग कर दी गई है, ऐसे शब्दरूपी धान्य के मधुर पाक से तृप्त

हुए सहृदय अपनी प्रियतमा के अधर को भी तुच्छ समझते हैं, फिर बेचारे अमृत की तो बात ही क्या ?' सप्तशती की संस्कृत आर्याओं में अवश्य ही प्राकृत की सी सरसता नहीं आ सकी है। गोवर्धनाचार्य स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्राकृत की सरस सूक्तियों को संस्कृत में रूपान्तरित करना वैसा ही है जैसे पृथ्वीतल पर कल्लोल करने वाली कलिन्दनन्दिनी यमुना को आकाश की ओर ले जाना—

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता ।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ॥ ५२

जयदेव—संस्कृत गीति-काव्य के अनूठे रत्न गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का जन्म बङ्गाल के किन्दुबिल्व ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का रामादेवी अथवा राधादेवी था। उनका विवाह पद्मावती नाम की कन्या से हुआ था। गीतगोविन्द में वे कहते हैं कि पद्मावती उनके गीतों के ताल पर नृत्य करती थी (पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती)। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा के जयदेव प्रमुख रत्न थे। लक्ष्मणसेन का १११६ ई० का एक शिलालेख गया में पाया गया है। अतः जयदेव का स्थितिकाल ११०० ई० के लगभग था। गोवर्धनाचार्य और धोयी उनके समसामयिक थे[1]।

गीतगोविन्द का रचना-कौशल सर्वथा मौलिक है। कुछ पाश्चात्य विद्वान उसे ग्राम्य-रूपक (pastoral drama), गीति-नाटक (lyric drama) अथवा परिष्कृत यात्रा (refined Yatra) मानते हैं। पिशेल और लेवी के मतानुसार गीतगोविन्द का स्थान गीतिकाव्य और नाटक के बीच का है। पिशेल गीतगोविन्द को

१—वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते: ।
शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ॥ गी० गो० १।४

संगीतरूपक (melo-drama) भी मानते हैं। किन्तु जयदेव ने गीतगोविन्द को सर्गों में विभाजित किया है। अतः उन्हें अपनी कृति का 'काव्य' के अन्तर्गत ही समावेश इष्ट था। नाटक की भांति उसमें प्रस्तावना, अंक आदि कहीं नहीं हैं। गीतगोविन्द के पदों के साथ संगीत और नृत्य संबंधी रागों और तालों के नाम भी दे दिये गये हैं। अतः यह संभव है कि गीतगोविन्द की रचना करते समय जयदेव की दृष्टि बंगाल में प्रचलित उन यात्रा-महोत्सवों की ओर रही हो, जिनमें उनके गीतों का उपयोग नृत्य और संगीत के साथ हो सकता था।

गीतगोविन्द में कवि ने किस कौशल से गेय और पाठ्य (recitative) अंशों को परस्पर संबद्ध कर दिया है, यह दर्शनीय है। रचना में रुचिरता लाने के लिये कवि ने वर्णनात्मक प्रसंगों को उन प्रारम्भिक पद्यों तक ही सीमित नहीं रखा है, जो किसी अवस्था-विशेष का चित्रण करते हैं, अपितु दृश्य-वर्णन और संवादों में भी उनका उपयोग किया है। इन संवादात्मक प्रसंगों में पात्रों की दशा सूचित की गई है तथा गीतों में भावानुभूति की अभिव्यंजना की गई है। इस प्रकार गीतगोविन्द में एक अभिनव रचना-प्रणाली का अनुसरण किया गया है। उसमें वर्णन, गीत, संवाद सभी परस्पर गुंथे हुए हैं। भारतीय साहित्य में इस अनुपम रचनाशैली का सूत्रपात सर्वप्रथम जयदेव के गीतगोविन्द में ही देख पड़ता है।

राधा-कृष्ण की केलि-कथाएं तथा उनकी अभिसार-लीलाएं गीतगोविन्द को रहस्यमय शृङ्गार का एक अनुपम रत्न बना देती हैं। आशा, निराशा, उत्कण्ठा, प्रणयजन्य ईर्ष्या, कोप, मानापनोदन और मिलन—प्रेम की इन विविध दशाओं का राधा और कृष्ण के प्रणय में हृदयग्राही चित्रण हुआ है। श्रीकृष्ण गोपियों के साथ रासक्रीड़ा करते हैं। इस पर उनकी अनन्य प्रणयिनी राधा अपनी सखी से उनके विषय में उपालम्भ-वचन कहती हैं। पर उसका प्रेम-निर्भर

हृदय उन्हें कृष्ण के प्रति अपना प्रगाढ अनुराग प्रकट करने को विवश करता है। सुतरां श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियों का संग छोड़ राधा के प्रति अधिक अनुरक्त हो जाते हैं। राधा की सखी कृष्ण से राधा की अनुरक्ति और विरहजन्य पीडा का वर्णन करती है। कमनीय गीतों द्वारा वह राधा और कृष्ण दोनों को मिलन के लिये प्रेरित करती है। फिर भी कृष्ण राधा के समीप नहीं आते—'कथित-समयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्।' चन्द्रोदय होने पर राधा प्रणय-व्यथा से अधीर हो अपने उद्दीप्त अनुराग की अभिव्यंजना अत्यन्त मधुर गीतों में करती हैं। कृष्ण आते हैं। राधा 'अतिमान' करती हैं और उन्हें उपालम्भ देती है—'मा वद कैतववादं, तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम्।' राधा की सखी मान छोड़ने के लिये कहती है—'हरिरभिसरति वहति मधुपवने, किमपरमधिकसुखं सखि भुवने, माधवे मा कुरु मानिनि मानमये।' कृष्ण स्वयं राधा को मनाते है—'प्रिये चारुशीले मुंच मानमनिदानम्।' राधा के संकोच, मान और अपराग को दूर करने के लिये उनकी सखी तीन गीतों में उन्हें समझाती है—'प्रविश राधे माधव समीप इह।' अन्त में राधा का मान दूर होता है और वे कदम्ब-कुंज में कान्त-मिलन के लिये जाती हैं। श्रीकृष्ण उनसे प्रणय-याचना करते हैं—'किसलयशयनतले कुरु कामिनि चरणनलिननिवेशम्।' राधा-कृष्ण रति-क्रीडा करते हैं। अन्त में राधा प्रणयसिक्त वचनों में प्रियतम द्वारा ही अपना शृंगार कराने की इच्छा प्रकट करती हैं। श्रीकृष्ण प्रणयिनी राधा का स्वयं अपने करकमलों से शृंगार करते हैं। यहीं इस काव्य की मनोरम समाप्ति होती है।

कुछ आधुनिक आलोचकों की धारणा है कि जो राधा और कृष्ण हमारी भक्ति के आलम्बन थे, वे जयदेव के गीतगोविन्द के प्रभाव से शृंगार के आलम्बन—नायक और नायिका के पर्याय—मात्र बन गये। किन्तु माधुर्य-रस के भक्त कवि जयदेव पर यह लांछन

लगाना अन्याय होगा। दाम्पत्य-प्रणय में तन्मयता या तल्लीनता का जो चरम उत्कर्ष देख पड़ता है, 'भेद में अभेद' की कल्पना का जो चूडान्त निदर्शन पाया जाता है, उसी की अभिव्यक्ति भक्ति के क्षेत्र में माधुर्य भाव की सृष्टि करती है। 'मधुर भाव से भजने वाले भक्त के लिये भगवान् की लीलाएं ही स्मर्तव्य हैं, उनकी शृंगार-चेष्टाएं, उनकी विलास-लीलाएं, उनकी प्रेम-गाथाएं ही गेय हैं।' राधा-कृष्ण के प्रणय के दो अर्थ हो सकते हैं। कृष्ण का राधा के प्रति प्रेम उद्दाम मानवीय प्रेम का ही प्रतीक है। अथवा, श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ क्रीडा करना मानो परमात्मा का अगणित जीवात्माओं में रमण करना है, जिसका परिणाम है—राधा-प्रेम अर्थात् जीव और आत्मा का अभेद।

गीतगोविन्द वस्तुतः एक अनुपम एवं अद्भुत ग्रंथ है। उसके उद्दाम शृंगार-प्रवाह के अन्तस्तल में रहस्यमयी माधुर्य-भावना की निगूढ़ धारा भी बह रही है। समग्र संस्कृत साहित्य में इस कोटि की मधुर रचना अन्य कोई नहीं। उसके शब्दचित्रों में सौन्दर्य छलका पड़ता है। उसके गीतों का पदलालित्य अलौकिक माधुर्य का संचार करता है। उसके छन्दों का नादसौन्दर्य अपूर्व है। शब्द और अर्थ का सामंजस्य ऐसा मनोमुग्धकारी है कि संस्कृत से अपरिचित व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसकी सी कोमल-कान्तपदावली संसार के साहित्य में दुर्लभ है। दीर्घ समासों में भी विलक्षण प्रासादिकता एवं स्वरमाधुर्य है। अनुप्रास-प्रयोग में जयदेव अद्वितीय हैं। उनके गीतों में अन्त्यानुप्रास पदों के अन्त में ही नहीं, मध्य में भी देख पड़ता है (अमलकमलदललोचन भवमोचन ए)। ललित छन्द और कोमलकान्तपदावली का ऐसा कान्त संयोग स्थापित किया गया है कि गीतों के पाठ मात्र से सहृदयों के हृदय में तदनुरूप रस का आविर्भाव हो उठता है। शृंगार की व्यंजना के लिये यह अनूठी शैली है। उनके गीत कहीं मन्द-मन्थर गति से और कभी

वेगपूर्ण धारा में प्रवाहित होते हैं। उनकी शैली के कुछ उदाहरण देखिए। दीर्घ समासों का प्रयोग होने पर भी शैली में कैसी रमणीयता और प्रवाह है—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयशरीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे॥

कृष्ण गोपियों के साथ क्रीडा कर रहे हैं—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगः स्मितशाली॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे॥ ध्रुवम्
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम्॥

राधिका की सखी उनकी विरहपीडा का कृष्ण के प्रति वर्णन कर रही है—

निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्।
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम्॥
माधव मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना।
सा विरहे तव दीना॥

राधिका को उसकी सखी हरि के समीप जाने को प्रेरित कर रही है। कैसी प्रासादिक, रागात्मिका शैली है—

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम्।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बमनुसर तं हृदयेशम्॥
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचंचलकरयुगशाली॥
मुखरमधीरं त्यज मंजीरं रिपुमिव केलिसुलोलम्।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलय नीलनिचोलम्॥

भाषा, शैली, भाव और गीतिविन्यास की दृष्टि से गीतगोविन्द गीतिकाव्य का मुकुटमणि है। जयदेव को स्वयं अपनी उत्कृष्ट कला

का बड़ा गर्व था। उनका कहना है कि 'सन्दर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव।' जयदेव की यह आत्मप्रशंसा सर्वथा उपयुक्त ही है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

पदमाधुर्य, अनुप्रासों के सुभग सौकर्य, साहित्यिक सौन्दर्य, भावप्रवण कवित्व, प्रणयभावों की सुकुमार व्यंजना, तथा सरसता और तन्मय भावना में गीतगोविन्द अनुपम एवं अद्वितीय है।

गीतगोविन्द की रचना बड़ी लोकप्रिय और प्रसिद्ध सिद्ध हुई। उस पर लगभग ३५ टीकाएं लिखी गईं। जिस ग्राम में जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की, उसका नाम ही 'जयदेवपुर' पड़ गया। उनके जन्मस्थान में आज भी उनके भक्त पौष शुक्ला सप्तमी को उनकी जयन्ती मनाते हैं। १२९२ ई० के एक शिलालेख में गीतगोविन्द का एक पद्य उद्धृत किया गया है। १४९९ ई० में उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव ने यह आज्ञा निकाल दी थी कि उनके राज्य के सभी नृत्यकार और संगीतज्ञ गीतगोविन्द के ही पद गाया करें। ऐसे लोकप्रिय कवि के लिये 'कविराजराज' की उपाधि सर्वथा संगत है।

गीतगोविन्द की रचना कर जयदेव ने संस्कृत में एक नवीन रचनाप्रणाली का सूत्रपात किया। गीतगोविन्द के अनुकरण पर 'अभिनवगीतगोविन्द', 'गीतराघव', 'गीतगंगाधर', 'कृष्णगीत' जैसे अनेक गीतिकाव्यों की रचना हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गीतगोविन्द का तदनुरूप सरस पदावली में ब्रजभाषा में अनुवाद किया है।

पंडितराज जगन्नाथ—जयदेव के पश्चात् गीतिकाव्य-साहित्य में उल्लेखनीय नाम पंडितराज जगन्नाथ का है। कीथ महोदय ने अपने विपुलकाय संस्कृत साहित्य के इतिहास में जगन्नाथ जैसे प्रखर कवि का उल्लेख नहीं किया, यह आश्चर्य है। पंडितराज जगन्नाथ तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का लक्ष्मीदेवी था। युवावस्था में वे दिल्ली गये और शाहजहाँ से 'पंडितराज' की उपाधि प्राप्त

की। मुगल दरबार में शायद वे कुछ दिन रहे (दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः)। इस प्रकार उनका स्थितिकाल १६५०-८० ई० के लगभग था। कहते हैं कि पंडितराज ने किसी यवन युवती से विवाह कर लिया था। वृद्धावस्था में जब वे काशी आये तो अपय्य दीक्षित आदि पंडितों ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। इस पर उन्होंने गंगालहरी की रचना की, जिससे प्रभावित हो स्वयं गंगाजी ने उन्हें अपने अंक में स्थान दिया।

उनके रचित ग्रंथ ये हैं—(१) 'पीयूषलहरी' अथवा 'गंगालहरी' जिसमें गंगाजी की सुन्दर स्तुति की गई है। (२) 'सुधालहरी' जिसमें ३० पद्यों में सूर्य की स्तुति की गई है। (३) 'अमृतलहरी' में ११ पद्यों में यमुना की स्तुति है। (४) 'करुणालहरी' में ६० पद्यों में भगवान् विष्णु की स्तुति है। (५) 'लक्ष्मीलहरी' ४१ पद्यों में लक्ष्मी की स्तुति है। (६) 'यमुनावर्णन' गद्य-ग्रंथ है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसके दो उदाहरण रसगंगाधर में दिये गये हैं। (७) 'आसफ़-विलास' में शाहजहाँ के खानखाना आसफ़खाँ की प्रशंसा की गई है। इसके भी केवल दो उद्धरण रसगंगाधर मे पाये जाते हैं। (८) 'प्राणा-भरण' कामरूप के राजा प्राणनारायण की प्रशंसा है। (९) 'जगदाभरण' संभवतः उदयपुर के राजकुमार जगतसिंह अथवा दाराशिकोह की प्रशंसा है। (१०) 'चित्रमीमांसाखंडन' में अपय्य दीक्षित के चित्र-मीमांसा ग्रंथ के दोषों का विवेचन किया गया है। (११) 'मनोरमा-कुचमर्दन' व्याकरण का ग्रंथ है। भट्टोजी दीक्षित ने अपनी 'सिद्धान्त-कौमुदी' पर जो 'मनोरमा' नामक टीका लिखी है, उसी की यह आलोचना है। (१२) 'रसगंगाधर' पंडितराज जगन्नाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति है। अलंकारशास्त्र का यह एक परम प्रौढ़ ग्रंथ है। इसमें पंडितराज के प्रकांड पांडित्य और विलक्षण प्रतिभा का अपूर्व संयोग देख पड़ता है। खेद का विषय है कि यह ग्रंथ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। इसकी यह विशेषता है कि उदाहरण के लिये ग्रंथकार ने

स्वरचित पद्य ही दिये हैं[1]। इन पद्यों का काव्य-माधुर्य एवं सरस पदावली दर्शनीय है।

(१३) भामिनीविलास पंडितराज के मुक्तक गीतात्मक पद्यों का सुन्दर संग्रह है। इसमें चार विलास हैं—प्रास्ताविकविलास, शृंगार-विलास, करुणविलास तथा शान्तविलास। इसके पद्य अत्यन्त सरस, सुन्दर, भावपूर्ण एवं चित्त पर सद्यः प्रभाव डालने वाले हैं। संस्कृत के गीतिकाव्यों में भामिनीविलास का स्थान अत्यन्त महत्त्वमय है। पंडितराज जगन्नाथ की शैली अत्यन्त उदार, मधुर एवं लालित्यमयी है। भर्तृहरि के समान इनका भी शब्दशोधन अनवद्य और अत्यन्त रुचिर होता है। प्रांजल पदशय्या, अभिनव विचारधारा तथा सुललित छन्दोमाधुर्य ये गुण पंडितराज के पद्यों में सर्वत्र देख पड़ते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला॥ शृ० वि० १२

'एक ओर तट पर तरुणी का सस्मित मुखकमल है, दूसरी ओर जल में खिलता हुआ कमल। इन दोनों कमलों के बीच मकरन्द के लोभी भोले भ्रमरों की पांत कभी इस ओर और कभी उस ओर चक्कर काट रही है।' नीचे दिये पद्य में कविता और प्रियतमा की कैसी श्लेषपूर्ण तुलना की गई है—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः।
सा मामकीनकवितेव मनोभिरामा रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति॥

'श्रुतिकटुत्व आदि दोषों से रहित, माधुर्य आदि गुणों से युक्त, रस एवं भाव से परिपूर्ण, अलंकारों से विभूषित तथा श्रुतिमधुर, सुकुमार वर्णों से सुशोभित मेरी कविता उसी प्रकार मेरे हृदय से कभी दूर नहीं हो सकती, जैसे दुःशीलत्व आदि दोषों से शून्य, दया-दाक्षिण्य

[1]—निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

आदि गुणों से युक्त, प्रणय और विलास से परिपूर्ण, आभूषणों से अलंकृत तथा सर्वदा मधुर वचन बोलनेवाली मेरी सुन्दरी प्रियतमा।' पंडितराज की अन्योक्तियां अनूठी और व्यंग्यपूर्ण हैं। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्॥ प्रा० वि० २

'भला, कहो तो, राजहंसों के जिस सिरताज ने विकसित कमलों के पराग से सुरभित मानसरोवर के निर्मल जल में अपनी आयु के दिन बिताये हों, वही अब मेढ़कों से खचाखच भरे किसी गदले ताल में कैसे रह सकता है?'

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥ प्रा० वि० ३

'ऐ प्यारे खिलनेवाले कमल, तेरे इस छलकते हुए मधुर मकरन्द-रस का आस्वादन करने वाले ये भौंरे भले ही तेरे आसपास मंडराते हुए अपनी मधुर गुंजार में तेरी चाटुकारी किया करें, किन्तु सच पूछ तो तेरा सच्चा मित्र यह मलय-पवन है जो बिना किसी स्वार्थ के ही तेरे सौरभ का दिग्दिगन्त में प्रसार कर रहा है।' पंडितराज की व्यंजनाप्रणाली बड़ी ही मार्मिक, मौलिक और अनुप्रासपूर्ण होती है; उदाहरणार्थ—'कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी, मदीयमति-चुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी'; 'आस्ये भास्वति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालसस्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम'; 'चुलुकयति मदीयां चेतनां चंचरीकः' इत्यादि। पंडितराज ने अपनी कविता के विषय में गर्वोक्तियां भी की हैं। उनकी एक गर्वोक्ति देखिए—

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम् ।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पंडितपते-
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः ॥

'वीणापाणि भगवती सरस्वती अपनी वीणा बजाते बजाते हाथ रोक कर जिसकी मधुर वाणी के अमृतमय रस का आकंठ पान करने लगती हैं, उन पंडितराज के श्रवणसुभग पद्यों को सुनकर जो व्यक्ति वाह वाह करता हुआ सिर न हिलाने लगे, वह वास्तव में या तो पूरा नरपशु है अथवा साक्षात् वीतराग भगवान् शंकर ही।'

गीतिकाव्य की विशेषताएं—गीतिकाव्य संस्कृत साहित्य का परम रमणीय अंग है। संस्कृत के गीतिकाव्य मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों शैलियों में उपलब्ध होते हैं। भर्तृहरि या अमरुक के पद्य मुक्तक हैं, किन्तु मेघदूत या गीतगोविन्द प्रबन्धात्मक है। एक और भी भेद है जिसे हम निबन्धात्मक कह सकते हैं, जैसे ऋतुसंहार। इसके प्रत्येक सर्ग में किसी एक ऋतु को लेकर कई पद्यों में उसका कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है। इन पद्यों में तत्तद् ऋतुविषयक एकवाक्यता है। प्रत्येक सर्ग का पद्यसमुदाय एक लघु निबन्ध के रूप में माना जा सकता है।

जैसा कि 'गीति-काव्य' नाम से ही स्पष्ट है, काव्य साहित्य की इस शाखा में कोमलकान्तपदावली के साथ साथ सङ्गीतयुक्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। उसके वर्ण्य-विषय प्रायः शृङ्गार, नीति, धर्म अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य हैं। गीति-काव्य का बाह्यरूप जैसा कमनीय होता है, वैसा ही मनोरम उसमें भावों का चित्रण भी देख पड़ता है। अधिकतर उसमें प्रसाद और माधुर्य की ही व्यंजना हुई है। वीर, रौद्र अथवा भयानक रस के लिये उसमें स्थान नहीं। उसका कमनीय गीति-सौन्दर्य किसी बीभत्स घटना अथवा आत्यन्तिक आवेश से आक्रान्त नहीं होना चाहिए। भावों की कोमलता,

विचारों की शिष्टता, निरीक्षण की नवीनता और कल्पना की चारुता—ये सभी गुण उसमें पाये जाते हैं। कवि-हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का वह सच्चा उद्गार है।

संस्कृत गीति-काव्यों में रमणी-सौन्दर्य का स्निग्ध चित्रण किया गया है। कहीं शृङ्गार करती हुई कला-प्रवीण सुन्दरी का, कहीं यौवन की अभिनव छटा छिटकाती हुई मुग्ध ग्राम-वधू का, कहीं मानिनी के सरोष भ्रूभङ्ग का और कहीं विरहिणी के म्लान मुखचन्द्र का रमणीय सौन्दर्य अंकित है। रमणी के बाह्य-सौन्दर्य के साथ ही उसके अन्तःसौन्दर्य का भी चारु चित्रण हुआ है। संस्कृत गीति-कविता केवल वस्तुओं के रूपरंग में ही सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमण्डल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है, उसी प्रकार उदारता वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष आदि का सौन्दर्य भी मन में जमाती है। 'इन गीतों में कहीं प्रेम की मन्दाकिनी बह रही है तो कहीं करुणरस की फल्गु धारा; कहीं जीवन के उल्लासमय संगीत हैं तो कहीं विरह के मर्मोच्छ्वास।'

कहा जा सकता है कि संस्कृत गीति-काव्य में चित्रित प्रेम प्रायः इन्द्रियजन्य या वासनाग्रस्त है। उसमें नारी केवल उपभोग की वस्तु मानी गई है और पुरुष उसके कटाक्षों का क्रीतदास मात्र। पाश्चात्य आलोचक इस प्रेम में अश्लीलता की गंध भी पाते हैं। किन्तु यह आलोचना एकांगी, अतिरंजित और अनुचित है। गीति-काव्यों के समुचित अध्ययन से यह सिद्ध है कि उनमें पुरुष, स्त्री के बाह्य-सौन्दर्य पर जितना मुग्ध है, उससे कहीं अधिक वह उसके अन्तःसौन्दर्य पर अनुरक्त है। नारी के हृदय में प्रणय का अजस्र स्रोत बह रहा है, इस सत्य की अभिव्यक्ति सभी गीति-काव्यों में हुई है। कुल-वधुएँ अपना हृदय जिसे समर्पित कर चुकी हैं, उसका बाह्यरूप उनके लिये कोई महत्व नहीं रखता—

यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिर्दुर्गतोऽपि विरूपोऽपि ।
कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं वल्लभो भवति ॥ गा० स०

स्त्री के व्यक्तित्व को, नारी के अन्तःसौन्दर्य को हृदयंगम करने में गीति-काव्य विशेष सहायक हैं। उनके अनुशीलन से हमारे हृदय में स्त्रियों के प्रति सम्मान की नई भावना जागृत होती है।

गीतिकाव्यों में प्रकृति-चित्रण का भी प्रमुख स्थान है। बाह्य-प्रकृति और अन्तःप्रकृति इन दोनों के पारस्परिक प्रभाव का बड़ा सजीव वर्णन गीतिकाव्यों में हुआ है। प्रकृति के दृश्यों पर मानवीय मनोविकारों का आरोप भी किया गया है। विप्रलंभ और संभोग दोनों अवस्थाओं में प्रकृति मानव के प्रति प्रायः समवेदनाशील चित्रित की गई है। मानवीय सौन्दर्य को प्रकृति द्विगुणित कर देती है—प्रेमिका के सौन्दर्य की छटा को चारुतर बना देती है। भारतीय साहित्य में प्रकृति रमणी-सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध मानी गई है कि वह उसके स्पर्शमात्र से पुलकित हो उठती है। सच पूछिए तो इसी भाव की व्यंजना उस परम्परागत 'कवि-समय' (poetic traditions) में की गई है, जिसके अनुसार नायिका के पादस्पर्श से अशोक विकसित हो उठता है, कटाक्षमात्र से तिलकवृक्ष खिल उठता है और आलिंगनमात्र से कुरबक कुसुमित हो जाता है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

इस अध्याय में जिन गीतिकाव्य के कवियों का विवेचन हुआ है, उनकी नामावली इस प्रकार है—

अग्रिमः कालिदासः स्यात् तदा स्यात् घटकर्परः ।
हालभर्तृहरी स्याताम् तथाऽमरुकबिल्हणौ ॥
धोयीगोवर्धनाचार्यौ जयदेवस्तथैव च ।
जगन्नाथश्च ख्याता दृश्यते गीतिकारकाः ॥

७

आख्यान-साहित्य

विश्व-साहित्य में भारत के आख्यान-साहित्य का अत्यन्त महत्त्वमय स्थान है। मौलिकता, रचना-नैपुण्य तथा विश्वव्यापक प्रभाव की दृष्टि से वह अनुपम और अद्वितीय सिद्ध हो चुका है। भारतीय लोक-साहित्य के परिज्ञान के लिये भी संस्कृत आख्यानों का अनुशीलन परमावश्यक है। इन आख्यानों में नाटकों या महाकाव्यों की भांति प्रख्यात पौराणिक अथवा ऐतिहासिक पात्रों या कथानकों का उपयोग नहीं हुआ है। इन आख्यानों में शुद्ध काल्पनिक जगत् का चित्रण किया गया है। उसमें कहीं कुतूहल है, कहीं घटना-वैचित्र्य है, कहीं हास्य और विनोद है, कहीं गंभीर उपदेश है और कहीं सरस काव्य की मधुर झलक भी है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी हमारे आख्यान-साहित्य की मौलिकता एवं मनोरंजकता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

संस्कृत आख्यान-साहित्य दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—नीति-कथा (Didactic Fable) और लोक-कथा (Popular Tale)।

नीतिकथा—संस्कृत साहित्य में स्थल स्थल पर आदर्श या उपदेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। काव्यों और नाटकों में ऐसे अनेक पद्य मिलते हैं, जिनमें सूक्तियों के रूप में नीति या सदाचार का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है। इसी उपदेशात्मक प्रवृत्ति का मनोरंजनकारी परिपाक नीतिकथाओं में हुआ है। नीतिकथाओं का उद्देश्य रोचक कहानियों द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की बातों का उपदेश देना है। यह उपदेश मोक्ष या अध्यात्म-विद्या से संबंध नहीं रखता। नीतिकथाओं का प्रतिपाद्य विषय सदाचार, राजनीति और व्यावहारिक ज्ञान है। दैनिक जीवन

में सफलता और उन्नति प्राप्त करने के लिये जिन जिन बातों का पद पद पर ध्यान रखना आवश्यक है और जिनके न जानने से मनुष्य अनायास ही धूर्तों के चक्कर में फंस सकता है, उन्हीं बातों का उपदेश नीतिकथाओं में दिया गया है। पशु-पक्षियों की रोचक कहानियों के रूप में सदाचार और राजनीति के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्त बड़ी सरलता से समझा दिये गये हैं। इन मनोरंजक कहानियों की सहायता से सुकुमार-मति बालक भी अनायास ही इन सिद्धान्तों को हृदयंगम कर सकते हैं। इनमें पशु-पक्षी मनुष्यों के समान ही सारे कार्य करते हैं। मनुष्यों की भांति वे बोलते हैं, मनुष्यों के सरीखे वे व्यवहार करते हैं और मनुष्यों के समान ही वे आपस में प्रेम, कलह, युद्ध या सन्धि भी करते हैं।

नीतिकथाएं जहां नीतिशास्त्र का ज्ञान कराती हैं वहां वे संस्कृत भाषा की सरल एवं रोचक शैली का आदर्श भी उपस्थित करती है। उनकी भाषा अत्यन्त सरल और शैली अत्यन्त रोचक है। कहानी का वर्णन प्रायः गद्य में होता है, किन्तु उससे मिलने वाली शिक्षा या नैतिक उपदेश का संकलन पद्य में किया जाता है। कहानी के बीच में भी जहां तहां पद्यों का समावेश देख पड़ता है। जब कोई पात्र कोई गंभीर या पते की बात कहता है तो उस पर जोर देने के लिये वह पद्य का प्रयोग करता है। चुभते हुए मुहावरे, अनूठी लोकोक्तियां और रोचक दृष्टान्त सर्वत्र भरे पड़े हैं। नीति-कथाओं की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें एक प्रधान कथा के अन्तर्गत कई गौण कथाओं का भी समावेश होता है। मुख्य कथा के पात्र अपनी बात के समर्थन में बीच बीच में अनेक उप-कथाएं कहने लगते हैं।

भारतीयों का जीवन प्रकृति-जीवन से इतना घुला-मिला था कि पशु-पक्षियों के उदाहरण द्वारा बालकों को व्यावहारिक उपदेश देने की प्रथा वैदिक काल से ही चली आई है। मनुष्य और प्रकृति

की एक कथा ऋग्वेद में पाई जाती है। छान्दोग्य-उपनिषद् में दृष्टान्त के रूप में उद्गीथ श्वान का आख्यान वर्णित है। पुराणों में भी नीतिकथाएं वर्णित हैं। महाभारत में विदुर के मुख से अनेक नीतिकथाएं कहलाई गई हैं। तृतीय शताब्दी ई० पू० के भारहुत (Bharhut) स्तूप पर कई नीतिकथाओं के नाम खुदे हुए हैं[१]। पतंजलि (१५० ई०) ने अपने महाभाष्य में 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' जैसी लोकोक्तियों का प्रयोग तथा सांप और नेवले, कौए और उल्लू की जन्मजात शत्रुता का उल्लेख किया है। जैनों और बौद्धों ने भी अनेक नीतिकथाएं रचीं। बौद्धों का 'जातक' नामक कथा-संग्रह ३८० ई० पू० के लगभग विद्यमान था। इसके अतिरिक्त ६६८ ई० के एक चीनी विश्वकोष में कई भारतीय कथाओं का अनुवाद उपलब्ध होता है। ये कथाएं, जैसा कि उक्त विश्वकोष में निर्दिष्ट है, २०० बौद्ध ग्रन्थों से ली गई हैं[२]। इन सब प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि ईसा के पूर्व भारत में नीतिकथाओं का पर्याप्त प्रचार था।

पंचतंत्र—पंचतंत्र संस्कृत नीतिकथा-साहित्य का अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें नीति की बड़ी मनोहर और शिक्षाप्रद कहानियां हैं। बीच बीच में निष्कर्षमय पद्यों का भी सन्निवेश हुआ है। यह कहना कठिन है कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई, क्योंकि अपने मूल रूप में यह पुस्तक उपलब्ध नहीं होती। बादशाह खुसरू अनूशीरवाँ (५३१-५७९ ई०) के हुक्म से पहलवी भाषा में पंचतंत्र का प्रथम अनुवाद किया गया था। यह पहलवी अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है; हां, उसके आसुरी (Syriac) और अरबी रूपान्तर प्राप्त हैं, जिनके नाम क्रमशः 'कलिलग और दमनग' (५७० ई०) और 'कलीलह् और दिमनह्' (७५० ई०) हैं। इन नामों से यह प्रतीत होता

१—Macdonell: *India's Past* p. 117.
२—Macdonell: *Sanskrit Literature* p. 369.

है कि छठी शताब्दी में मूल पंचतंत्र का नाम कदाचित् 'करटक और दमनक' ही रहा हो, क्योंकि इसी नाम के दो सियारों का वर्णन पंचतंत्र की पहली पुस्तक में आया है।

उपर्युक्त अनुवादों से मूल पंचतंत्र के समय-निर्धारण में सहायता मिलती है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि ५५० ई० (जो पहलवी अनुवाद का समय है) के कई सौ वर्ष पहले से पंचतंत्र भारत में प्रसिद्ध हो चुका था। पंचतंत्र में चाणक्य का उल्लेख है, अतः उसकी रचना ३०० ई० पू० के पश्चात् ही हो सकती है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र का भी प्रभाव उस पर स्पष्ट देख पड़ता है। अर्थशास्त्र का रचनाकाल पाश्चात्य विद्वान् द्वितीय शताब्दी के लगभग मानते है। 'दीनार' शब्द के प्रयोग से भी पंचतंत्र की रचना ईसा के बाद ही सिद्ध होती है[1]। ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी के आसपास राजसभाओं में संस्कृत को प्रधानता मिलने लगी थी। राजकार्य में संस्कृत-भाषी ब्राह्मणों का प्रधान स्थान हो गया। अतः ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी जो संस्कृत का बोध कराने के साथ साथ राजनीति की भी शिक्षा दे सकें। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर पंचतंत्र की रचना हुई थी। गुप्तवंश का शासनकाल ब्राह्मणों और संस्कृत साहित्य के अभ्युदय का समय था। अतः पंचतंत्र का रचना काल ३०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

पंचतंत्र अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, पर उसके कई परिवर्तित संस्करण प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर मूल ग्रंथ की भाषा, शैली और विषय का आभास मिलता है—(१) पंचतंत्र के अप्राप्य पहलवी अनुवाद से अनूदित आसुरी और अरबी संस्करणों से पंचतंत्र के मूल संस्कृत रूप का अनुमान हो सकता है। (२) पंचतंत्र के उत्तर-पश्चिमी भारतीय संस्करण का उपयोग गुणाढ्य की

1—Keith : *HSL* p. 248

बृहत्कथा में हुआ था, जो अब सोमदेव के कथासरित्सागर (१०३० ई०) में प्रस्तुत है। इसमें पंचतंत्र के पांचों भाग सुरक्षित हैं, पर बीच बीच में विषयान्तर की बहुलता देख पड़ती है। (३) तंत्राख्यायिका में मूल ग्रंथ का रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। इसके दो काश्मीरी संस्करण भी पाये जाते हैं। (४) पंचतंत्र के जिस संस्करण का भारत में सर्वाधिक प्रचार है, उसे पाश्चात्य विद्वानों ने 'सरल संस्करण' (textus simplicior) का नाम दिया है। (५) पंचतंत्र का एक दक्षिण भारतीय संस्करण भी मिलता है, जो भारवि (६००ई०) के बाद का है। इसमें पंचतंत्र की कथाएं संक्षिप्त करके दी गई हैं। (६) पूर्णभद्र जैन के संस्करण (११९९ ई०) में २१ नई कथाएं पाई जाती हैं। इसकी भाषा में कहीं कहीं गुजराती और प्राकृत रूप पाये जाते हैं। (७) १६६० ई० में मेघविजय ने पंचतंत्र के उपलब्ध संस्करणों के आधार पर 'पंचाख्यानोद्धार' की रचना की। (८) एक नैपाली संस्करण में पंचतंत्र के केवल पद्य दिये गये हैं।

उपर्युक्त सभी संस्करण पंचतंत्र के मूल रूप के रूपान्तर हैं। इनके आधार पर आधुनिक विद्वान् एफ़० एडगर्टन द्वारा सम्पादित पंचतंत्र का संस्करण सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीनतम रूप का परिचायक माना जाता है।

पंचतंत्र की रचना का मूल उद्देश्य राजकुमारों को नीतिशास्त्र में निपुण बनाना था। महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति एक ऐसे योग्य शिक्षक की खोज में थे, जो उनके तीन मूर्ख पुत्रों को अल्पकाल ही में योग्य बना दे। तब विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण ने इस बात का बीड़ा उठाया और पंचतंत्र की रचना करके छः महीनों में ही उन राजकुमारों को नीतिशास्त्र में पारंगत बना दिया।

यद्यपि पंचतंत्र के प्राचीनतम अनुवाद से ज्ञात होता है कि आरंभ में इसके बारह भाग रहे होंगे[1], किन्तु वर्तमान पंचतंत्र में

[1]—Macdonell : *Sanskrit Literature* p. 370

केवल पांच तंत्र या भाग हैं—मित्रभेद, मित्रलाभ, संधि-विग्रह, लब्ध-प्रणाश तथा अपरीक्षाकारित्व या अपरीक्षितकारकम्। प्रत्येक भाग में मुख्य कथा के अन्तर्गत कई गौण कथाएं आई हैं। उसमें पशु-पक्षी सदाचार, नीति और लोक-व्यवहार के विषय में बातचीत करते हैं तथा धर्मग्रंथों के सूक्ष्म विषयों पर विचार-विनिमय करते हैं। लेखक की विनोदप्रियता सर्वत्र समान रूप से देख पड़ती है। बाघ की खाल ओढ़े गधे का चांदनी रात में गाना गाने के लिये उतावला होना, अपने मित्र शृगाल की शंकाओं का समाधान करने के लिये संगीतशास्त्र की महत्ता पर वक्तृता देना और अन्त में पुरस्कारस्वरूप पीठपूजा पाना बड़ा ही विनोदपूर्ण है। ब्राह्मणों के लोभ और पाखण्ड, चाटुकारों की कपटवृत्ति तथा त्रिया-चरित्र आदि मानवीय दोषों का व्यंगपूर्ण उद्‌घाटन भी किया गया है।

पंचतंत्र की शैली सरल और मुहावरेदार है। भाषा विषय के सर्वथा अनुरूप है। मुख्यतः बालकों के लिये रचित होने के कारण उसका गद्य अत्यन्त सुबोध है; समास बहुत कम या छोटे छोटे हैं; वाक्यविन्यास में किसी प्रकार की दुरूहता नहीं है। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है, पर उपदेशात्मक सूक्तियां पद्य में निहित हैं। ये पद्य कई प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं। महाभारत तथा पाली जातक-संग्रह से भी अनेक पद्य लिये गये हैं। लेखक की कुशलता इन पद्यों के चुनने में तथा उनको कथानक में यथास्थान निपुणता पूर्वक बैठाने में है।

पंचतंत्र की कथाओं का प्रचार विश्वव्यापी हुआ है। बाइबल के बाद संसार की सबसे अधिक प्रचलित पुस्तक पंचतंत्र ही है। भारत के बाहर लगभग पचास भाषाओं में पंचतंत्र के २५० विविध संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में ही उसकी कुछ कहानियों का प्रचार रोम और ग्रीस जैसे सुदूर देशों में हो चुका

था। ग्रीस के प्राचीन कहानीकार ईसप की कई कहानियों पर पंचतंत्र का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है।

हितोपदेश—नीतिकथाओं में पंचतंत्र के बाद हितोपदेश का ही नाम आता है। हितोपदेश के रचयिता नारायण पंडित थे, जिनके आश्रयदाता बंगाल के कोई धवलचन्द्र राजा थे। हितोपदेश की एक पांडुलिपि १३७३ ई० की पाई गई है, अतः उसकी रचना १४ वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी। हितोपदेश की रचना बहुत कुछ पंचतंत्र के ही आधार पर हुई है। उसकी प्रस्तावना में यह बात स्वीकार भी की गई है—'पंचतंत्रात्तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते'। हितोपदेश की ४३ कथाओं में से २५ तो पंचतंत्र से ही ली गई हैं। हितोपदेश के चार परिच्छेद हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। प्रथम दो परिच्छेद प्रायः पंचतंत्र से ही लिये गये हैं। हितोपदेश में पंचतंत्र की अपेक्षा पद्यों की संख्या अधिक है। कहीं कहीं इन पद्यों का इतना बाहुल्य हो गया है कि कथा-प्रवाह में व्याघात सा पड़ जाता है। इन पद्यों में से कई 'कामन्दकी-नीतिसार' से लिये गये हैं। ये पद्य अत्यन्त उपदेशपूर्ण तथा कंठाग्र करने योग्य हैं। भारत में हितोपदेश का पठन-पाठन पंचतंत्र की अपेक्षा अधिक है। संस्कृत सीखनेवाले विद्यार्थियों को पहले प्रायः हितोपदेश ही पढ़ाया जाता है। उसकी भाषा सरल और सुबोध है। हितोपदेश के दो उपदेशपूर्ण पद्य यहां दिये जाते हैं—

> व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
>
> बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।
>
> दुर्णीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
>
> कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि॥

'आकाश में स्वच्छन्द विहार करनेवाले पक्षी भी विपत्ति में पड़ ही जाते हैं; समुद्र के अगाध जल में रहनेवाली मछलियां भी चतुर मछुओं के जाल में फंस ही जाती हैं। इस संसार में क्या

पाप है और क्या पुण्य; किसी स्थानविशेष की प्राप्ति से कोई लाभ नहीं। मृत्यु अपने विपत्तिरूपी हाथ फैलाकर दूर से भी अपने शिकार को पकड़ ही लेती है।'

पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये॥

लोककथा—उपदेश-प्रधान नीतिकथाओं के अतिरिक्त मनोरंजनात्मक लोककथाओं का भी अस्तित्व संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। नीतिकथाओं की विशेषताएं लोककथाओं में भी देख पड़ती हैं, किन्तु दोनों मे प्रधान अन्तर यह है कि नीतिकथाएं उपदेश-प्रधान होती हैं और लोककथाएं मनोरंजन-प्रधान। साथ ही, लोककथाओं के पात्र पशु-पक्षी न होकर प्रायः मनुष्य ही होते हैं।

लोककथाओं का प्राचीनतम संग्रह गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा है। ब्यूलर के मतानुसार बृहत्कथा प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी की कृति है। मूल बृहत्कथा, जो पैशाची प्राकृत में थी और जिसमें एक लाख पद्य थे, अब उपलब्ध नहीं है। अब उसके तीन संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर मात्र पाये जाते हैं। मूल कृति गद्य में थी या पद्य में, इस विषय में मतभेद है। काश्मीर की जनश्रुति के अनुसार बृहत्कथा श्लोकबद्ध थी, किन्तु काव्यादर्श में दण्डी ने उसको गद्यात्मक बताया है[1]। गुणाढ्य ने अपने समय की प्रचलित अनेक लोककथाओं को संगृहीत कर बृहत्कथा की रचना की थी। उसका नायक महाराज उदयन का राजकुमार है, जिसकी रानी मदनमंजूषा को मानसवेग हर ले जाता है। गोमुख नामक विश्वासपात्र मंत्री की सहायता से राजकुमार उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। यही बृहत्कथा की मूल कथा-वस्तु है।

जिस प्रकार नीतिकथाओं में पंचतंत्र का स्थान सर्वोपरि है, उसी प्रकार लोककथाओं में बृहत्कथा का स्थान अग्रगण्य है। रामायण और महाभारत के समान बृहत्कथा भी भारतीय साहित्य

१—काव्यादर्श १।२३,३८

की एक अपूर्व निधि थी[1]। उसकी कथाओं के आधार पर संस्कृत के कई ग्रंथों का निर्माण हुआ है। कवियों और नाटककारों के लिये गुणाढ्य ने प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है। भास और हर्ष द्वारा वर्णित उदयन और वासवदत्ता की कथाएं तथा शूद्रक के मृच्छकटिक के प्रमुख पात्र बृहत्कथा से ही लिये गये हैं। बृहत्कथा अपने समय में अत्यन्त लोकप्रिय रही होगी। दण्डी[2], सुबन्धु[3] और बाण सभी ने अपने ग्रंथों में उसका सादर उल्लेख किया है। ९ वीं शताब्दी के कम्बोडिया (प्राचीन चम्पा नगरी) के एक शिलालेख में गुणाढ्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है[4]। दशरूपक के रचयिता धनंजय (१००० ई०) ने बृहत्कथा को रामायण और महाभारत के समान ही सुविख्यात माना है[5]। त्रिविक्रमभट्ट (९१५ ई०) ने अपने 'नलचम्पू'[6] में और सोमदेव (९५९ ई०) ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में उसकी प्रशंसा की है। गोवर्धनाचार्य (१२०० ई०) ने अपनी 'आर्यासप्तशती' में गुणाढ्य को व्यास का मूर्तिमान् अवतार माना है[7]। बाण ने बृहत्कथा को हरलीला के समान बताया है—

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥ हर्षचरित

१—श्रीरामायणभारतबृहत्कथानां कवीन् नमस्कुर्मः।
त्रिस्रोता इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैर्भिन्ना॥ आर्यासप्तशती

२—'भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्'—काव्यादर्श १।३८

३—'बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः'—वासवदत्ता।

४—पारदस्थिरकल्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः।
अनीतिर्यो विशालाक्षः शूरोऽन्यप्रकृत भीमकः॥

५—'रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च'—दशरूपक १।६८

६—'धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः'—नलचम्पू

७—अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः॥ आर्यासप्तशती

सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' में बृहत्कथा की लोकप्रियता की इस प्रकार प्रशंसा की है—

> कविर्गुणाढ्यः स च येन सृष्टा बृहत्कथा प्रीतिकरी जनानाम्।
> सा संविधानेषु सुरान्धिवन्धैर्निपीड्यमानेव रसं प्रसूते॥

बृहत्कथा के निम्नलिखित संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध होते हैं—(१) नेपाल के बुद्धस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह का समय ८वीं या ९वीं शताब्दी में माना गया है। इसके कुछ ही अंश उपलब्ध हुए हैं, जिनमें २८ सर्ग और ४,५२४ श्लोक हैं। सम्पूर्ण ग्रंथ में १०० से अधिक सर्ग और लगभग २५,००० श्लोक अवश्य रहे होंगे। उसकी भाषा में कहीं कहीं प्राकृत रूप भी पाये जाते हैं, जो संभवतः मूल ग्रंथ से लिये गये होंगे। (२) बृहत्कथामंजरी (१०३७ ई०) के रचयिता क्षेमेन्द्र काश्मीर के राजा अनन्त (१०२९-१०६४ ई०) के आश्रित कवि थे। इसमें ७,५०० श्लोक हैं। यह बृहत्कथा का ही संक्षिप्त रूप है। इसकी भाषा तथा कथानक में स्पष्टता की मात्रा कम है। (३) बृहत्कथा के संक्षिप्त संस्करणों में सोमदेव-कृत कथासरित्सागर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सोमदेव भी काश्मीर के राजा अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। कथासरित्सागर की रचना १०३७ ई० के लगभग हुई। इसमें २४,००० श्लोक हैं। संसार में इसके अतिरिक्त अन्य कोई इतना प्राचीन और इतना विशाल कथा-संग्रह नहीं है। कथानक की सृष्टि में सोमदेव ने बड़ी कुशलता दिखाई है। कथा की योजना करते समय रस का भी ध्यान रखा गया है।

बृहत्कथा तथा उसके रूपान्तरों के अतिरिक्त संस्कृत में और भी अनेक कथा-संग्रह प्राप्त होते हैं। वेताल-पंचविंशतिका में २५ कहानियों का संग्रह है। इसके शिवदास (१२०० ई०) तथा जंभलदत्त कृत दो संस्करण मिलते हैं। शिवदास की कृति गद्य-पद्य में है तथा जंभलदत्त की केवल गद्य में। वेतालपंचविंशतिका की कथाओं का मूल रूप बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर में पाया जाता है।

वेतालपंचविंशतिका में एक भूत उज्जैन के राजा विक्रमादित्य से पहेलियों के रूप में २५ कहानियां कहता है। ये कहानियां अत्यन्त मनोरंजक हैं। एक राजकुमारी का विवाह उसके तीन प्रेमियों में से किससे किया जाय, जब कि उन तीनों ने मिलकर उसे एक राक्षस के पंजे से छुड़ाया है? इसी प्रकार के प्रहेलिकामय प्रश्नों के रूप में पचीस कौतूहलमय कहानियों का इसमें उल्लेख है।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंशत्पुत्तलिका अथवा विक्रम-चरित भी एक मनोरंजक कहानी-संग्रह है। इसके केवल गद्यमय, केवल पद्यमय और गद्यपद्यमय ये तीन संस्करण पाये जाते हैं। इसकी प्रत्येक कहानी में धारा के राजा भोज का उल्लेख हुआ है। अतः इसकी रचना भोज (१०१८-१०६३ ई०) के बाद ही होगी। सिंहासन-द्वात्रिंशिका में राजा विक्रम के सिंहासन की ३२ पुतलियां राजा भोज से एक एक कहानी कहकर उड़ जाती हैं। पर वेतालपंचविंशतिका की भांति इन कहानियों का बुद्धि-विलास उतना उत्कृष्ट नहीं।

उपर्युक्त दोनों कहानी-संग्रहों की अपेक्षा शुक-सप्तति अधिक लोकप्रिय और रोचक है। इसके तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं। इसके कर्ता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। इसकी रचना १४वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि उसी समय इसका एक अनुवाद फारसी में हुआ था। शुकसप्तति में ७० कहानियां संगृहीत हैं। मदनसेन नामक युवक अपनी पत्नी पर अत्यधिक अनुरक्त है। कार्यवश उसे बाहर जाना पड़ता है। उसकी पत्नी की वियोगजन्य पीड़ा को दूर करने के लिये एक शुक उसे प्रत्येक रात को एक एक मनोरंजक कहानी सुनाता है। इस प्रकार ७० कहानियों में ७० दिन व्यतीत हो जाते हैं और अंत में मदनसेन लौट आता है।

अन्य प्रसिद्ध कथासंग्रहों में ये प्रमुख हैं—१५वीं शताब्दी के प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति ने पुरुष-परीक्षा की रचना की, जिसमें

४४ नैतिक और राजनीतिक कहानियां हैं। शिवदासकृत कथार्णव में चोरों और मूर्खों की ३५ कथाएं हैं। १६ वीं शताब्दी के बल्लालसेन-विरचित भोजप्रबन्ध में संस्कृत के महाकवियों की अनेक रोचक दन्तकथाएं दी गई हैं। कई पाश्चात्य कथासंग्रहों का भी संस्कृत में अनुवाद हो चुका है। जगद्बन्धु पंडित ने प्रसिद्ध अरबी कथा 'सहस्ररजनीचरित' (Arabian Nights) का आरब्ययामिनी के नाम से अनुवाद किया है। नारायण-बालकृष्ण कृत ईसब्नीतिकथा में ईसप की कहानियों (Aesop's Fables) का अनुवाद है।

बौद्धों के कथा-संग्रह 'अवदान' नाम से प्रख्यात हैं। इनमें सबसे प्राचीन उपलब्ध संग्रह अवदानशतक है। आर्यशूरकृत संस्कृत जातकमाला चौथी शताब्दी की रचना है। जैन कथासंग्रहों में उल्लेखनीय हेमचन्द्र (१०८८ ई०) रचित परिशिष्टपर्वन् है।

संस्कृत आख्यान-साहित्य का व्यापक प्रभाव—संस्कृत कथा-कहानियों का संसार में इतना अधिक प्रचार हुआ कि वे विश्व-साहित्य का एक अंग बन गईं। संस्कृत आख्यान-साहित्य का यह विश्वव्यापी प्रसार संसार के साहित्य का एक परम विस्मयोत्पादक एवं रोचक विषय है। यात्रियों, व्यापारियों तथा परिव्राजकों द्वारा एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों में ही नहीं, अपितु अफ्रीका की असभ्य सोमाली और सौहाली जातियों में भी भारतीय कहानियों का प्रचार हो गया।

भारतीय कथा-साहित्य की सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन पुस्तक पंचतंत्र है। संसार की अन्य भाषाओं में पंचतंत्र के अनुवाद ६ ठी शताब्दी से ही प्रारंभ हो गये थे। पहलवी भाषा में उसका जो पहला अनुवाद हुआ, उसमें पंचतंत्र के पांचों भागों के अतिरिक्त महाभारत तथा बौद्ध धर्म की कई कथाएं भी जोड़ दी गई थीं। पहलवी से आसुरी (Syriac) और अरबी भाषाओं में उसके अनुवाद हुए।

इस अरबी अनुवाद के ४० भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं[1]। ११वीं शताब्दी में अरबी पंचतंत्र का ग्रीक भाषा में अनुवाद हुआ, ग्रीक से लैटिन, जर्मन, स्लॉवेक तथा अन्याय यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद हुए। १५७० ई० में सर थामस नॉर्थ ने इटैलियन पंचतंत्र का अंग्रेजी में अनुवाद किया। विन्टरनिट्ज़[2] के मतानुसार जर्मन साहित्य पर पंचतंत्र का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में एकता का संबंध स्थापित करने में पंचतंत्र का विशिष्ट स्थान है।

पंचतंत्र के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य कथा-संग्रहों का भी विश्व के कथा-साहित्य पर कम प्रभाव नहीं पड़ा है। बेतालपंचविंशतिका का अनुवाद हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में हुआ, फिर हिन्दी से अंग्रेजी और जर्मन में। मंगोलियन कहानियों की पुस्तक 'सिसद्दीकूर' में बेतालपंचविंशतिका के कई अनूदित अंश उपलब्ध होते हैं। १५७४ ई० में अकबर के हुक्म से सिंहासन-द्वात्रिंशिका का फारसी में अनुवाद किया गया। स्याम और मंगोलिया की भाषाओं में भी उसके अनुवाद मिलते हैं। १४वीं शताब्दी में शुकसप्तति का फारसी में 'तूतिनामह' के नाम से अनुवाद हुआ। इस 'तूतिनामह' के द्वारा कई भारतीय कथाएँ पश्चिमी एशिया और यूरोप में प्रचलित हो गईं। 'सिन्दबाद जहाजी' की प्रसिद्ध कहानी पर शुकसप्तति का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। मसूदी (९५६ ई०) नामक अरबी लेखक ने अपनी 'किताबुल्सिंदबाद' की भूमिका में लिखा है कि यह कहानी पहले पहल राजा कुरुष के समय में भारत में लिखी गई थी। उसने यह भी लिखा है कि 'कलीलह और दिमनह' (पंचतंत्र) की भांति सिंदबाद की कथा भी भारत की देन है। सिंदबाद 'सिद्धपति' का रूपान्तर है। खेद है कि सिद्धपति की कथा, जिसका यूनानी अनुवाद 'सिंतिपास' (Syntipas) और हिब्रू

1—Macdonell : *India's Past*, p. 123

2—*Some Problems of Indian Literature.*

अनुवाद 'संद्बार' (Sandabar) कहलाता है, भारत में नहीं मिलती। कथासरित्सागर और परिशिष्टपर्वन् की कतिपय कहानियों का रूपान्तर चीन की कहानियों में पाया जाता है। तृतीय शताब्दी में ही अवदान-शतक का अनुवाद चीनी भाषा में हो चुका था। भारतीय कहानियों का विदेशी भाषाओं में केवल रूपान्तर ही नहीं हुआ, अपितु कथा में कथा का सन्निवेश करने की भारतीय प्रथा का भी अनुकरण फारस और अरब वालों ने किया। प्रसिद्ध 'सहस्ररजनीचरित' (आरब्योपन्यास) में भारतीय कहानियों की यह शैली स्पष्ट लक्षित होती है।

उपर्युक्त अनुवादों के द्वारा भारत की कहानियों का प्रचार देश-देशान्तर में हुआ तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति का परिचय भी विदेशियों को मिला। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि भारतीय आख्यान जितने विचित्र हैं उससे कहीं अधिक विचित्र आर्य आख्यान-साहित्य के विश्व-विजय की कथा है।

८

ऐतिहासिक काव्य

पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि संस्कृत साहित्य में वास्तविक इतिहास-ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ है। उनके मतानुसार संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में तिथि और घटनाओं के रूप में ठोस ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती। पर जिस दृष्टिकोण को लेकर पाश्चात्य आलोचक संस्कृत के इतिहास-ग्रंथों की समीक्षा करते हैं, वह भ्रान्तिपूर्ण है। इतिहास के आधुनिक ग्रंथों को आदर्श मानकर संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की आलोचना करना सर्वथा अनुचित है। भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य तिथियों या घटनावलियों का वर्णन करना नहीं, प्रत्युत जीवन के शाश्वत

सिद्धान्तों को महापुरुषों के जीवन में घटाते हुए राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में योग देना है। हमारे इतिहास-पुराण, रामायण और महाभारत इस अर्थ में सच्चे इतिहास हैं। हमारी दृष्टि में उनके चरितनायकों के स्थितिकाल का प्रश्न नगण्य है। जीवन के चिरन्तन आदर्शों के प्रतीक होने के कारण उनकी स्थिति सभी देशों और कालों में है। प्रत्येक दशा में हम उन्हें अपनी संस्कृति के सुमेरु-शिखर पर अवस्थित पाते हैं। उन्हें हम इतिहास के खंडहरों के कंकड़-पत्थरों में खोजने नहीं गये।

भारत के प्राचीन साहित्यकार आधुनिक अर्थ में इतिहास की रचना की ओर इतने उदासीन क्यों रहे, इसके भी अनेक कारण हैं—(१) भारत की दार्शनिक विचारधारा ऐहिक उन्नति को वास्तविक उन्नति नहीं मानती। उसकी दृष्टि में संसार तुच्छ और निस्सार है तथा उसके लौकिक विषयों की चर्चा करना मानो माया के भ्रमजाल में फँसना है। (२) भारतीय आरंभ ही से लौकिक विषयों की अपेक्षा पारलौकिक विषयों में अधिक आस्था रखते आये हैं। (३) भारतीयों का कर्म-सिद्धान्त, जिसके अनुसार मनुष्य के जीवन में कोई भी अचिन्त्य घटना घट सकती है, ऐतिहासिक घटनाओं को लिपिबद्ध करने में बाधक हुआ। उनका यह विश्वास कि पूर्वजन्म के संचित कर्मानुसार ही जीवन की घटनाओं का संचालन होता है, इतिहास-रचना में उनकी अरुचि का कारण हुआ। (४) भारतीयों ने राम, कृष्ण जैसी दैवी विभूतियों को तथा हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, नल, युधिष्ठिर आदि आदर्श पौराणिक व्यक्तियों को ही जातीय इतिहास का सच्चा प्रतिनिधि माना। अतः उन्हीं के आख्यान तथा गाथाएँ सुरक्षित रखी गईं। इसका कारण यह था कि इन अलौकिक व्यक्तियों के जीवनवृत्त में मानव जाति के चिरन्तन आदर्शों का प्रतिबिम्ब संचित था। इसके विपरीत, अनेक स्थानीय राजाओं अथवा अशोक और हर्ष जैसे लौकिक सम्राटों के जीवन का महत्व नहीं समझा गया।

इसी कारण जहां श्रीहर्ष के नैषधीयचरित पर २३ टीकाएं लिखी गईं, वहां उनके ऐतिहासिक काव्य 'नवसाहसांकचरित' की ओर टीकाकारों का ध्यान भी नहीं गया।

उक्त विवेचन का यह आशय नहीं कि संस्कृत में लौकिक घटनाओं के इतिहासों की रचना हुई ही नहीं। पुराणों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विशद चित्र उपलब्ध होता है। बौद्धों और जैनों के ग्रंथों में भी ऐतिहासिक व्यक्तिओं का उल्लेख मिलता है। प्राचीन राजाओं की प्रशस्तियों में ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत में अनेक ऐतिहासिक महाकाव्यों की भी रचना हुई, जिनके द्वारा भारत के मध्यकालीन इतिहास पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। कौन कह सकता है कि संस्कृत में और भी अनेकानेक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना न हुई हो और वे विधर्मियों के विध्वंसकारी आक्रमणों में नष्ट न हो गये हों? फिर भी जो प्रमुख ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध होते हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है।

बाण—सर्वप्रथम ऐतिहासिक काव्य की रचना करने का श्रेय बाण-भट्ट को है। उनके हर्षचरित में महाराज हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) का चरित्र अंकित है। हर्षवर्धन के वंश के प्रवर्त्तक पुष्पभूति नामक राजा थे। हर्ष के पिता का नाम प्रभाकरवर्धन और माता का यशोवती था। उनके बड़े भाई राज्यवर्धन का जन्म ५८८ ई० में हुआ। उसके दो वर्ष बाद भारत के भावी सम्राट् हर्ष उत्पन्न हुए तथा तीन वर्ष बाद उनकी बहन राज्यश्री का जन्म हुआ। राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ। लगभग ६०५ ई० में हूणों ने प्रभाकरवर्धन के राज्य के उत्तर में आक्रमण किया। उन्होंने राज्यवर्धन को एक बड़ी सेना देकर उनकी प्रगति रोकने के लिये भेजा। उनके लौटने के पूर्व ही प्रभाकरवर्धन का देहान्त हो गया। यशोवती विधवा हो जाने के भय से पति की मृत्यु के पूर्व ही सती

होगई। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से लाभ उठाकर मालवा के राजा ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। उसने ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री को कैद कर लिया। राज्यवर्धन ने हर्ष पर राज्य का भार छोड़ शत्रु के विरुद्ध प्रयाण किया। मालवराज को उन्होंने सहज ही में परास्त कर दिया, पर उसके सहायक गौडराजा ने उन्हें धोखे से मार डाला। हर्ष ने प्रतिशोध के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने अपनी बहन राज्यश्री का पता लगाया जो कारागार से छूटकर विन्ध्याटवी में पहुँच गई थी। इसी स्थल पर बाण का हर्षचरित समाप्त हो जाता है। यानच्वांग (Yuan Chwang) नामक चीनी यात्री के संस्मरणों से पता चलता है कि हर्ष ने आसाम के राजा भास्करवर्मा की सहायता से गौड़ राजा को परास्त कर दिया। इसके पश्चात् उन्होंने उत्तरी भारत का दिग्विजय कर महाराजाधिराज की उपाधि धारण की और ३० वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य किया।

हर्षचरित की रचना यद्यपि गद्य में हुई है, किन्तु उसका गद्य पूर्णतया कवित्वमय है। उसमें इतिवृत्तों का उल्लेख सीधी-सादी भाषा में नहीं हुआ है। उसकी शैली आलंकारिक और कल्पना-प्रचुर है। इसमें पौराणिक कथाओं और अलौकिक पात्रों का भी उपयोग किया गया है। उसमें हर्ष के राज्यकाल का पूरा वर्णन नहीं हुआ है। किसी घटना की तिथि भी नहीं दी गई है। स्वयं अपने स्थितिकाल का भी उल्लेख बाण ने नहीं किया है। 'एवमतिक्रामत्सु दिवसेषु', 'अथ कदाचित्', 'कतिपयदिवसापगमे' इत्यादि का प्रयोग करके ही वे संतोष कर लेते हैं। कभी कभी वे ऐतिहासिक पात्रों के नाम तक का उल्लेख नहीं करते। राज्यवर्धन को मारनेवाले गौडाधिप का हर्षचरित में कहीं नाम तक नहीं बताया गया है। इन कारणों से हर्षचरित का ऐतिहासिक महत्व कुछ कम हो गया है।

बाण के हर्षचरित में जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन हुआ है, वे प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से मेल खाती हैं।

हर्षचरित में घटनाओं का ऐसा सूक्ष्म और ब्यौरेवार वर्णन किया गया है कि ह्वेनसांग ने अपने संस्मरणों में जहाँ कहीं धार्मिक पक्षपात से प्रभावित हो अयथार्थ वर्णन किया है, उसका साफ़ पता चल जाता है। हर्षचरित का ऐतिहासिक वृत्तान्त तत्कालीन इतिहास के शोध में विशेष सहायक है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर हर्षचरित से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस समय ब्राह्मणों और बौद्धों का धर्म समानरूप से उन्नत था। धार्मिक विद्वेष नाममात्र को भी नहीं था। संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी हर्षचरित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हर्षचरित के आरंभ में बाण ने महाभारत, वासवदत्ता एवं बृहत्कथा नामक ग्रंथों की तथा भास, कालिदास, प्रवरसेन, भट्टारहरिचन्द्र एवं आढ्यराज नामक कवियों की प्रशंसा की है। बाण का स्थितिकाल निश्चितरूप से ज्ञात होने के कारण अन्य कवियों के समय-निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है। सोड्ढल ने हर्षचरित की इस प्रकार प्रशंसा की है—

बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती चकास्ति यस्योज्ज्वलवर्णशोभम्।
एकातपत्रं भुवि पुष्पभूतिवंशाश्रयं हर्षचरित्रमेव ॥

वाक्पतिराज—सन् १८७४ ई० में डॉ० ब्यूलर को जैसलमेर के प्राचीन जैन-संग्रहालय में वाक्पतिराज-कृत गौडवहो (गौडवध) की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से अब यह प्रकाशित हो चुका है। वाक्पतिराज के पिता का नाम हर्षदेव था। वे कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित तथा भवभूति के समकालीन थे[1]। ये यशोवर्मा काश्मीर के राजा ललितादित्य द्वारा युद्ध में मारे गये। डॉ० स्टीन के मतानुसार यह घटना ७३६ ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। गौडवहो के अधूरे होने से प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने अपने काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में प्रारंभ की थी,

---

१—कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥ राजतरंगिणी ४।१४४

किन्तु ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा की मृत्यु होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। इसलिये गौडवहो की रचना ७३६ ई० के बाद की नहीं हो सकती। अपने काव्य के ६९वें पद्य में वाक्पतिराज ने 'महुमहविजय' नामक अपनी एक और कृति का उल्लेख किया है।

गौडवहो की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। संभव है, उसकी रचना करने में वाक्पतिराज प्रवरसेन के प्राकृत काव्य 'रावणवहो' (सेतुबंध) से प्रभावित हुए हों। गौडवहो में यशोवर्मा द्वारा एक गौड राजा के परास्त होने की घटना का वर्णन है। कवि ने इस गौड़ राजा के नाम का उल्लेख नहीं किया है। गौडवहो में महत्वमय ऐतिहासिक बातों का वर्णन कम है। ऋतुओं, प्राकृतिक दृश्यों तथा राजा के विहार आदि का ही कवित्वमय विस्तृत वर्णन किया गया है।

पद्मगुप्त—नवसाहसांकचरित के रचयिता पद्मगुप्त अथवा परिमल-कालिदास धारानरेश मुंज (अथवा वाक्पतिराज द्वितीय) के आश्रित मृगांकगुप्त के पुत्र थे। नवसाहसांकचरित की रचना १००५ ई० के लगभग हुई। इसमें शशिप्रभा नाम की राजकुमारी के विवाह का वर्णन कर कवि ने प्रकारान्तर से मालवा के राजा नवसाहसांक के चरित्र पर प्रकाश डाला है। इसके १८ सर्गों में १९ प्रकार के भिन्न-भिन्न छन्दों में कुल मिलाकर १,५०० पद्य हैं। अन्य प्रशस्तियों की भांति इसका भी ऐतिहासिक महत्व अधिक नहीं। लंबी वक्तृताओं तथा विस्तृत वर्णनों से कथा-प्रवाह अवरुद्ध सा हो गया है। पर पद्मगुप्त की मनोहर काव्यशैली दर्शनीय है। उनकी भाषा और शैली पर महाकवि कालिदास का प्रभाव देख पड़ता है। उनके पद्यों का स्वर-माधुर्य तथा उनका वर्णन-कौशल प्रशंसनीय है। राजा की काली तलवार से शुभ्र यश की उत्पत्ति का वर्णन देखिए। विषमालंकार का क्या ही सुन्दर उदाहरण है—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥

भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण', क्षेमेन्द्र की 'औचित्यविचारचर्चा', मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तथा वर्धमान के 'गणरत्नमहोदधि' में पद्मगुप्त का उल्लेख हुआ है।

बिल्हण—जैसलमेर में डॉ० ब्यूलर को गौडवहो के साथ ही विक्रमांकदेवचरित नामक एक और ऐतिहासिक महाकाव्य की उपलब्धि हुई थी। इसकी रचना काश्मीरी कवि बिल्हण ने १०८५ ई० के लगभग की। अपने काव्य के १८वें सर्ग में उन्होंने अपना जीवन-वृत्त दिया है। उनका जन्म काश्मीर की तत्कालीन राजधानी प्रवरपुर के पास खोनमुख ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। बिल्हण के पिता का नाम ज्येष्ठकलश और माता का नाम नागादेवी था। विद्याभ्यास की समाप्ति पर वे पर्यटन के लिये निकल पड़े। मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी, अन्हिलवाड़ा आदि स्थानों में होते हुए वे अन्त में कल्याण के चालुक्य राजा छठे विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) की राजसभा में पहुंचे। विक्रमादित्य ने उन्हें अपना सभापण्डित बनाकर 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया।

विक्रमांकदेवचरित में १८ सर्गों में चालुक्य-वंशी राजा विक्रमादित्य का चरित्र वर्णित है[1]। इसमें उनके पिता आहवमल्ल की मृत्यु, राजकुमारी चन्द्रलेखा से विवाह, उनके दो भाइयों तथा चोलों की पराजय आदि घटनाओं का कवित्वमय वर्णन किया गया है। कल्याण के चालुक्य-वंशी राजाओं के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे बिल्हण द्वारा वर्णित घटनाओं की पुष्टि होती है। बिल्हण ने अपने देशाटन का जो रोचक वर्णन किया है, उससे उस समय की भारतीय सामाजिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हां, कहीं कहीं कवि ने अपने चरितनायक का अतिरंजित चित्रण अवश्य किया है। स्थल स्थल पर पौराणिक और अलौकिक प्रसंगों

१—एषास्तु चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानाम्।
सद्भारतीसूत्रनिवेशितानामेकावली कण्ठविभूषणं वः॥ १।२०

के उल्लेख से काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व कम हो गया है। घटनाओं की तिथियां भी नहीं सूचित की गई हैं।

कवित्व की दृष्टि से बिल्हण की कृति रमणीय है। उसका मुख्य लक्ष्य काव्य-सौन्दर्य का चमत्कार उत्पन्न करना प्रतीत होता है, ऐतिहासिक विश्लेषण गौण। सच पूछिए तो बिल्हण ने काव्य-प्रतिभा की सुकुमार शलाका से इतिहास की कठोर शिला को भेदने का कठिन प्रयास किया है। बिल्हण स्वयं कहते हैं कि मोती को बेधने वाली सुई टांकी का काम कैसे कर सकती है—'न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टंकिकायाः' (१।१६)। बिल्हण ने सरल और प्रसादपूर्ण वैदर्भी शैली को अपनाया है, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

> सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
> तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र ॥ १।४

अनुरूप दृष्टान्त, सरस पद-विन्यास एवं विशद भावप्रकाशन बिल्हण की कविता की विशेषताएं हैं। दो उदाहरण देखिए—

> कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।
> कुर्यादनार्द्रेषु किमंगनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः ॥ १।१५

'साहित्य-विद्या के अनुशीलन से जिनका हृदय सरस नहीं हुआ है, उन पाठकों के प्रति कवियों के प्रशस्त गुण भी कुंठित हो जाते हैं। कहीं रमणियों के सूखे केशकलाप अगुरु के सुगंधित धूप से सुवासित हो सकते हैं? एक सरस सूक्ति देखिए—

> कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान्खलानाम्।
> निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कंटकजालमेव ॥ १।२९

'कुतार्किक खल जन कानों में अमृत घोलने वाली सूक्तियों के रस-माधुर्य को छोड़ केवल दोषों को ही ढूंढ़ निकालने की भरपूर कोशिश करते हैं। सच है, क्रीडा-उपवन में प्रवेश करके भी ऊंट बबूल के कंटीले झाड़ों को ही ढूँढ़ता फिरता है।'

कल्हण—महाकवि कल्हण-कृत राजतरंगिणी (११४८-५१ ई०) ऐतिहासिक काव्यों में सबसे अधिक महत्त्वमय है। कल्हण काश्मीर के तत्कालीन महाराजा जयसिंह के मंत्री चंपक के पुत्र थे। राजतरंगिणी संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास का प्रथम प्रयास है। कल्हण ने आदिकाल से लेकर सन् ११५१ ई० के आरंभ तक के काश्मीर के प्रत्येक राजा के शासनकाल की घटनाओं का यथाक्रम विवरण दिया है। राजतरंगिणी ८ खंडों में विभाजित है, जिसमें कुल ७,८२६ श्लोक हैं। कल्हण ने इस काव्य की रचना में राजकथाओं के ११ संग्रहों तथा 'नीलमत-पुराण' से सहायता ली है। उनके द्वारा दिये गये लेखकों के नामों तथा उनके ग्रंथों के उल्लेखों से पता चलता है कि काश्मीर में इतिहास-लेखन की प्रथा बहुत पहले से प्रचलित थी और इस विषय पर कई उत्कृष्ट ग्रंथ थे। कल्हण ने अनेक अधिकार-पत्रों, शिलालेखों, दानपत्रों, प्रशस्तियों तथा हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर राजतरंगिणी की रचना की। प्राचीन सिक्कों का भी उन्होंने उपयोग किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी प्रकार की स्थानीय जनश्रुतियों, परम्पराओं तथा पारिवारिक प्रथाओं से भी सहायता ली।

राजतरंगिणी में महाकवि कल्हण ने लगभग डेढ़ हजार वर्ष का इतिहास बड़ी सतर्कता और सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। सच्चे इतिहासकार की भांति उन्होंने जीवन के प्रत्येक अंग पर दृष्टि डाली है। इस दृष्टि से यदि उसे काश्मीर का तत्कालीन विश्वकोप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कल्हण ने घटनाओं का ऐसा सजीव वर्णन किया है कि वह उपन्यास-सा मनोरंजक है। काव्य-माधुर्य से भरा होने पर भी वह इतिहास के अन्वेषण में उपादेय है। संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों में यही एकमात्र ऐसी कृति है, जिसमें तिथियों का निर्देश किया गया है। भवभूति और वाक्पतिराज जैसे कवियों के समय-निर्धारण में राजतरंगिणी विशेष

अग्राह्य है[1]। हां, यह अवश्य है कि कहीं कहीं कल्हण की काल-गणना भ्रान्तिपूर्ण है। कुछ घटनाएं भी अंध-विश्वास पर आश्रित तथा असंगत प्रतीत होती है। किन्तु उक्त त्रुटियां राजतरंगिणी की ऐतिहासिक उपयोगिता में बाधक नहीं। कवि की निष्पक्षता प्रशंसनीय है। अपने आश्रयदाता राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के भयंकर अत्याचारों का वर्णन करने में कल्हण आनाकानी नहीं करते। कल्हण ने अपने प्रतिपाद्य विषय का आद्योपान्त अच्छी तरह से निर्वाह किया है। अपने प्रतिपादन में उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पटलों पर भी दृष्टि रखी है। प्रत्येक राजा के वर्णन में उसके व्यक्तिगत एवं राजकीय जीवन की सभी घटनाएं चित्रित की गई हैं। यह भी बतलाया गया है कि प्रजा की ओर उसकी नीति कैसी रही तथा प्रजा पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। काश्मीर में समय समय पर जो क्रान्तियां हुई हैं, उनका भी विशद चित्र खींचा गया है। इस प्रकार राजतरंगिणी संस्कृत की एक अमूल्य ऐतिहासिक कृति है।

ऐतिहासिक रचना होने पर भी राजतरंगिणी में काव्यात्मक गुणों का अभाव नहीं। सैकड़ों वर्षों के दीर्घकाल का इतिहास लिपि-बद्ध होने के कारण उसमें अवश्य ही काव्योचित वैचित्र्य के लिये अधिक अवकाश नहीं था। फिर भी उसमें कवि-कल्पना, रस, अलंकार और भावों का जहां तहां सुन्दर समावेश हुआ है। उसके संवाद सुन्दर और ओजःपूर्ण हैं। कल्हण की शैली के उदाहरणार्थ कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं। राजाओं की कैसी खरी आलोचना की गई है—

चित्रं नृपद्विपाः पूतमूर्तयः कीर्तिनिर्झरैः ।
भवन्ति व्यसनासक्ति-पांसुस्नानमलीमसाः ॥

'कैसे आश्चर्य की बात है कि जो राजारूपी हाथी अपने यशरूपी झरनों में स्नान करके पवित्र हो जाते हैं, वे ही बाद में दुर्व्यसनों की

[1]—देखिए पृष्ठ १३४ तथा ३१६

धूल में लोट कर मलिन हो जाते हैं।' कल्हण भवितव्यता में विश्वास करते हैं—

पलायनैर्नापयाति निश्चला भवितव्यता ।
देहिनः पुच्छसंलीना वह्निज्वालेव पक्षिणः ॥

'अटल भवितव्यता मनुष्य के भागने पर भी उसका पीछा नहीं छोड़ती, जैसे किसी पक्षी की पूँछ में लगी आग उसके साथ ही रहती है।' इतिहासकार को रागद्वेष से रहित हो केवल सत्य का उद्घाटन करना चाहिए, इसका प्रतिपादन करते हुए कल्हण कहते हैं—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता ।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥

'वही गुणवान् लेखक प्रशंसा का पात्र है जिसकी वाणी राग-द्वेष से रहित हो केवल सत्य घटनाओं के प्रकाशन में स्थिर रहती है।' कल्हण की एक मार्मिक उक्ति देखिए—

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृत्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्भारवोद्गारिणी ।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो
दृष्टो येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम् ॥

'जिसने भूख से बिलखते प्यारे पुत्र को, दूसरे के घर सेवा करने वाली अपनी स्त्री को, विपत्ति में पड़े हुए मित्र को, दुही हुई किन्तु चारा न मिलने के कारण रंभाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में रोगशय्या पर मरणासन्न माता-पिता को तथा शत्रु से पराजित अपने स्वामी को देख लिया, उसे मरने के बाद नरक में भी इससे अधिक अप्रिय दृश्य देखने को क्या मिलेगा ?'

कल्हण के अनन्तर रचे गये ऐतिहासिक काव्यों में निम्नलिखित कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। जैन मुनि हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने अन्हिलवाड़ा के चालुक्यवंशी राजा कुमारपाल के सम्मानार्थ कुमारपालचरित अथवा द्व्याश्रयकाव्य (११६३ ई०) की रचना की।

दिल्ली के अन्तिम हिन्दूसम्राट् पृथ्वीराज चौहान के आश्रित कवि जयानक ने अपने पृथ्वीराजविजय (१२०० ई०) में पृथ्वीराज के युद्धों और विजयों का वर्णन किया है। गुजरात के सोमेश्वरदत्त (११७९-१२६२ ई०) ने दो प्रशस्तियों की रचना की—कीर्तिकौमुदी और सुरथोत्सव। सुरथोत्सव में कवि ने बाण की भांति अपने वंश का परिचय भी दिया है। सन्ध्याकरनन्दिन् ने रामपालचरित में बंगाल के राजा रामपाल (१०८४-११३० ई०) के पराक्रमों का वर्णन किया है। सन् १९२५ ई० में म० म० टी० गणपतिशास्त्री ने आर्यमंजुश्रीकल्प[1] नामक एक और ऐतिहासिक ग्रंथ ढूंढ निकाला। इसकी रचना ८०० ई० के लगभग हुई थी। यह महायान बौद्ध-सम्प्रदाय का ग्रंथ है। इसके तृतीय खंड के ५३ वें अध्याय में भारतवर्ष के सम्राटों का वर्णन बुद्ध के मुख से भविष्यत्काल में कराया गया है। इसमें लगभग ७०० ई० पू० से लगाकर ७७० ई० तक का इतिहास वर्णित है।

इस अध्याय में संस्कृत के जिन प्रमुख इतिहासकारों का विवेचन किया गया है, उनकी कालक्रमानुसार नामावली नीचे दी जाती है—

बाणो वाक्पतिराजश्च पद्मगुप्तस्तथैव च ।
बिल्हणः कल्हणश्चैते प्रसिद्धा ऐतिहासिकाः ॥

1—*An Imperial History of India in a Sanskrit Text* edited by Dr. K. P. Jayaswal.

९

चम्पू-काव्य

जिन काव्यों में गद्य-पद्य का संयुक्त प्रयोग किया जाता है, उन्हें 'चम्पू-काव्य' कहते हैं—'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'[1] वासवदत्ता, कादम्बरी, हर्षचरित आदि गद्य-काव्यों में भी यत्र-तत्र पद्य पाये जाते हैं, किन्तु वे प्रधानतया गद्य में ही है। चम्पू-काव्यों में गद्य और पद्य का समान रूप से व्यवहार होता है। नीतिकथाओं में भी गद्य-पद्य का संमिश्रण देख पड़ता है। किन्तु उनमें पद्यों का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से किया जाता है। उनके पद्य या तो कथा से प्राप्त होने वाली शिक्षा के रूप में हैं या किसी कथन की पुष्टि में प्रमाणरूप उद्धरण। चम्पू-काव्य के पद्य किसी प्रयोजन-विशेष से नहीं प्रयुक्त होते। वे तो चम्पू के कथानक के ही उसी प्रकार अंगभूत होते हैं जैसे उसके गद्यभाग। 'रामायणचम्पू' के रचयिता भोज कहते हैं कि चम्पू में गद्य और पद्य का वही पारम्परिक संबंध है जो संगीत में गीत और वाद्य का—

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिः
हृद्यापि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।

'चम्पू' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। हां, प्राचीन साहित्य में कुछ स्थलों पर गद्य-पद्य का एक साथ प्रयोग पाया जाता है, जिसे चम्पू का पूर्वरूप कहा जा सकता है। महाभारत में कहीं कहीं गद्यपद्यात्मक स्थल देख पड़ते हैं। बौद्धों की जातकमाला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में गद्य के साथ पद्य का प्रयोग किया गया है। दण्डी (६०० ई०) ने अपने काव्यादर्श में चम्पू का लक्षण दिया है। अतः यह सिद्ध है कि दण्डी के पूर्व

१—साहित्यदर्पण ६।३३६

संस्कृत में चम्पू-काव्य की रचना हो चुकी थी। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में चम्पू-काव्य के दर्शन १० वीं शताब्दी से पूर्व नहीं होते। प्रमुख चम्पू-काव्यों का विवेचन नीचे किया जाता है।

त्रिविक्रमभट्ट—त्रिविक्रमभट्ट का नलचम्पू चम्पू-काव्य का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है। उसका दूसरा नाम 'दमयन्तीकथा' भी है। इसकी रचना ९१५ ई० के आसपास हुई, क्योंकि उसी समय का एक शिलालेख मिलता है, जिसके रचयिता त्रिविक्रमभट्ट ही हैं। नलचम्पू के अतिरिक्त त्रिविक्रमभट्ट ने मदालसाचम्पू भी लिखा है। नलचम्पू में चम्पूकाव्य-शैली का जो परिष्कृत और प्रौढ़ रूप उपलब्ध होता है, उससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में इस गद्यपद्यमयी शैली का प्रचार बहुत पहले से ही रहा होगा।

त्रिविक्रमभट्ट की भाषा सुबन्धु के समान श्लेषप्रधान है— 'भङ्गश्लेषकथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया।' (१।२२) इनके अनुसार भावप्रकाशन की सरलता उदात्त कविता का लक्षण नहीं। इनकी श्लेषपूर्ण शैली के कुछ उदाहरण देखिए—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥ १।४

'सौभाग्य से ही किसी व्यक्ति के मुख में ऐसी वाणी और घर में ऐसी स्त्री का वास होता है जो प्रसादगुण से युक्त हो (अथवा जो प्रसन्नचित्त हो), जो परिष्कृत पदावली के कारण मनोहर हो (अथवा जो अपने कान्तियुक्त देह से आकर्षक हो), जो चारों प्रकार के श्लेषों का उद्घाटन करती हो (अथवा जो बारह प्रकार के आलिंगनों में दक्ष हो)।' सामान्य कवियों की बालकों से कैसी तुलना की गई है—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥ १।६

'शब्दों के समुचित प्रयोग में अकुशल, सहृदयों के वैरस्य के हेतु तथा

निस्सार वाग्विस्तार में प्रगल्भ कुछ कवि उन छोटे बच्चों के समान हैं, जिनके पैर अभी डगमगाते हैं, जो अपनी माता के अनुराग के हेतु हैं तथा जिनके मुख से लगातार लार टपकती रहती है।' नलचम्पू के श्लेषगर्भित गद्य का एक नमूना देखिए। आर्यावर्त का वर्णन है—'यस्यां च दिव्यदेवकुलालंकृताः स्वर्गा इव मार्गाः, सततमपांसु-वसनाः सागरा इव नागराः, समत्तवारणानि वनानीव भवनानि, सुरसेनान्विताः स्वर्गभूपा इव कूपाः, अधिकंधरोद्देशमुद्भासयन्तो हारा इव विहाराः।'—'आर्यावर्त्त देश के सुरम्य मन्दिरों से सुशोभित मार्ग दिव्य देवताओं से विभूषित स्वर्ग के समान हैं, शुभ्र-धवल वेष वाले नागरिक निरन्तर जल से परिपूर्ण महासागर के समान हैं, बड़ी बड़ी दालानों वाले महल मतवाले हाथियों से भरे जंगल के समान हैं, वहां के शीतल-स्वच्छ जल वाले कूप देवताओं की सेना से युक्त स्वर्ग के राजाओं के समान हैं, वहां के विशाल स्थान को घेर कर शोभित होने वाले मठ गले में चमकने वाले हारों के समान हैं।'

सोमदेव—<u>यशस्तिलकचम्पू</u> के रचयिता जैनकवि सोमदेव-सूरि १० वीं शताब्दी के राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजदेव के समकालीन थे। यशस्तिलक की रचना ९५१ ई० हुई। इसमें सात आसवों में अवन्तिनरेश यशोधर की कथा वर्णित है। अपनी रानी की कपट-पूर्ण चालों से विरक्त हो उनका जैनधर्म स्वीकार करना तथा उनके वध और पुनर्जन्म की घटनाओं का इसमें सरस वर्णन है। कवि ने इस रचना में यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य जैनधर्म का पालन कर किस प्रकार अपना कल्याण कर सकता है। यशस्तिलक की कथा रोचक है। लेखक की शैली सुरुचिपूर्ण है। उनकी शैली के कुछ उदाहरण देखिए—

> सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव।
> पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात्॥

'नदी, तालाब, समुद्र या बावली में स्नान मात्र करने से यदि पुण्य

की प्राप्ति होती हो तब तो समस्त जलचर जीवों को पहले ही स्वर्ग पहुँच जाना चाहिए, औरों की बारी तो बाद में आयेगी।' समालोचकों के पक्ष में राजा की उक्ति देखिए—

अवक्तापि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम्॥

'काव्य के आलोचक भले ही स्वयं काव्य-रचना न करते हों, फिर भी काव्य का यथार्थ मर्म समझने में वे सर्वथा समर्थ हैं। क्या स्वयं सुन्दर भोजन न बना सकने वाला व्यक्ति उसके स्वाद का आनन्द नहीं ले सकता?' ऐहिक इच्छाओं की सारहीनता देखिए—

त्वं मन्दिरद्रविणदारतनूरुहाद्यै-
स्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धिः।
खिद्यस्यहर्निशमिमं न तु चित्त वेत्सि
दण्डं यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव॥

'हे चित्त, तू गृह, धन, स्त्री, पुत्र, आदि की अन्ध तृष्णा से क्यों दिन-रात खिन्न रहा करता है? क्या तुझे नहीं मालूम कि यमराज का दण्ड किसी भी समय तुझ पर गिर सकता है?'

संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी सोमदेव की कृति का महत्त्व है। उसमें अनेक काव्य-रचयिताओं का उल्लेख हुआ है। साथ ही, ऐसी काव्य-कृतियों के नाम भी दिये गये हैं, जिनका आज कोई पता नहीं।

हरिचन्द्र—हरिचन्द्र ने ९०० ई० में जीवन्धरचम्पू की रचना की। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये वे ही हरिचन्द्र हैं जिन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक जैन महाकाव्य की रचना की है या कोई और। जीवन्धरचम्पू का कथानक गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' पर आश्रित है। माघ और वाक्पतिराज का अनुकरण भी इसमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है।

भोज—धारा के प्रसिद्ध राजा भोज (१०१८-१०५४ ई०)

रामायणचम्पू की रचना की। इसमें रामायण की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है। आरम्भ में भोज की कृति अपूर्ण थी और उसकी समाप्ति किष्किन्धा काण्ड पर ही हो गई थी। लक्ष्मणभट्ट ने बाद में युद्धकाण्ड जोड़ कर उसकी पूर्ति की[1]।

अनन्त नामक कवि ने १२ स्तबकों में भारतचम्पू की रचना की, जिसमें महाभारत की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है।

सोड्ढल—उदयसुन्दरीकथा-चम्पू के रचयिता सोड्ढल गुजराती कायस्थ थे। उनका जन्म दक्षिण गुजरात के लाट देश में हुआ था। इनके आश्रयदाता कोंकण के राजा मुम्मुणिराज थे, जिनका १०६० ई० का शिलालेख उपलब्ध होता है। उदयसुन्दरीकथा में बाण के हर्षचरित का स्पष्ट अनुकरण देख पड़ता है। इसमें प्रतिष्ठान नगर के राजा मलयवाहन का नागराजा शिखण्डतिलक की कन्या उदयसुन्दरी के साथ विवाह की कथा वर्णित है। बाण की भांति सोड्ढल ने भी अपना वृत्तांत दिया है तथा पूर्ववर्ती कवियों के सम्बन्ध में कई प्रशंसात्मक श्लोक भी दिये हैं। उदयसुन्दरीकथा में भाषा का लालित्य एवं माधुर्य दर्शनीय है। सोड्ढल की शैली के कुछ उदाहरण देखिए—

> कमलिनी भुवनान्तरिते रवौ व्यपगतालिकलापशिरोरुहा।
> परिदधे विधवेव सुधाकरद्युतिविनानमिषेण सितांशुकम्॥

'जब सूर्य इस संसार से विदा हो गये तो बेचारी कमलिनी विधवा की भांति अपने भ्रमररूपी केशकलाप को अलग कर देती है और उज्ज्वल चांदनी के रूप में सफेद वस्त्र धारण कर लेती है।' एक नूतन कल्पना देखिए—

> चार्द्रं महो मरकतभाजनस्थं दुग्धं यथा यामवतीमहिष्याः।
> वियोगिनां दग्धहनीप्रतापैरुल्लासितं व्योमतले लुलोठ॥

1—यः काण्डावितबन्ध चम्पुविषया पंचापि भोजः कविः
श्री वा षष्ठमचष्ट लक्ष्मणकविस्ताभ्यामुभाभ्यामपि।

'चन्द्रमा मानो रात रूपी भैंस का दूध है जो चन्द्रमण्डल रूपी पात्र में औटाया जा रहा है। वही दूध वियोगियों के संताप रूपी तेज आंच से उफन कर आकाश में चारों तरफ चांदनी के रूप में फैल गया है।

रानी तिरुमलाम्बा—पंजाब के डॉ० लक्ष्मणस्वरूप को सन् १९२४ ई० तंजोर लाइब्रेरी में रानी तिरुमलाम्बा-रचित वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू की पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई। सन् १९३२ में उन्हीं के सम्पादन में यह चम्पू प्रकाशित भी हो चुका है। तिरुमलाम्बा राजा अच्युतराय की विदुषी रानी थी, जिनका राज्याभिषेक १५२९ ई० में हुआ। अतः डॉ० स्वरूप के मतानुसार इस चम्पू की रचना १५२९-१५४० ई० के बीच हुई।

वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू में अच्युतराय और वरदाम्बिका के प्रेम और परिणय का चित्रण है। संभव है कि वरदाम्बिका के व्याज से रानी तिरुमलाम्बा ने अपनी ही प्रणय-कथा लिखी हो। इस चम्पू-काव्य की शैली प्रमाणित करती है कि रानी तिरुमलाम्बा कितनी सुशिक्षित और कलाओं में पारंगत थीं। संस्कृत भाषा पर उनका विलक्षण अधिकार था। उनकी कल्पना उर्वर है। दीर्घ समासों और जटिल वाक्यों के होते हुए भी उनकी कृति आकर्षक है। संस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि में महिलाओं ने भी योग दिया है, इसका ज्वलन्त उदाहरण वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू है।

सत्रहवीं शताब्दी में नारायण ने स्वाहासुधाकरचम्पू की रचना की। इसमें अग्नि-पत्नी स्वाहा और चन्द्रमा के प्रणय की कथा है। यह रचना 'आशु-कविता' का नमूना है। वेंकटाध्वरि (१६५० ई०) के विश्वगुणादर्शचम्पू में दो गन्धर्व अपने विमानों पर आरूढ़ हो भारत के विभिन्न प्रान्तों के गुण-दोषों का विवेचन करते हैं। शंकरकवि के शंकरचेतोविलासचम्पू में वारेन हेस्टिंग्स के समय के महाराज चेतसिंह की प्रशंसा है।

संस्कृत के प्रमुख चम्पूकाव्य-रचयिताओं की कालक्रमानुसार नामावली इस प्रकार है—

त्रिविक्रमश्च सोमश्च हरिचन्द्रस्तथैव च ।
भोजश्च सोड्ढलश्चैव राज्ञी तिरुमलाम्बिका ॥
नारायणस्तथाचासन् वेङ्कटाध्वरिसूरयः ।
शंकरोऽपि च प्रख्याताः चम्पूकाव्यविधायकाः ॥